



उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

MAPH-03

शंकराचार्य का दर्शन

खण्ड — 1 : अद्वैतवेदान्त का अर्थ, उद्भव एवं विकास 03—46

- इकाई 1 — अद्वैत वेदान्त का अर्थ
- इकाई 2 — अद्वैत वेदान्त का उद्भव
- इकाई 3 — अद्वैत वेदान्त का क्रमिक विकास
- इकाई 4 — शंकराचार्य का जीवन एवं दर्शन

खण्ड — 2 : शंकराचार्य के पूर्व का अद्वैत वेदान्त 47—76

- इकाई 1 — गौडपादाचार्य का अजातिवाद
- इकाई 2 — गौडपाद के अजातिवाद का शंकर पर प्रभाव
- इकाई 3 — अद्वैत वेदान्त की सामान्य विशेषताएं

खण्ड — 3 : चतुःसूत्री भाष्य 77—112

- इकाई 1 — अथातो ब्रह्मजिज्ञासा
- इकाई 2 — 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र की व्याख्या
- इकाई 3 — शास्त्रयोनित्वात्
- इकाई 4 — 'तत्तुसमन्वयात्'

खण्ड — 4 : शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में तर्क की भूमिका

113—156

- इकाई 1 — शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म सत् की अवधारणा
- इकाई 2 — शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में जगत का मिथ्यात्व
- इकाई 3 — शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में अनुभव, तर्क एवं श्रुति का स्थान
- इकाई 4 — शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में अपरोक्षानुभूति

-
- इकाई 1 – सांख्य की आलोचना
इकाई 2 – शंकराचार्य द्वारा वैशेषिक की आलोचना
इकाई 3 – बौद्ध दर्शन के सर्वास्तिवाद का खण्डन
इकाई 4 – शंकराचार्य के द्वारा बौद्ध दर्शन के योगाचार की आलोचना
इकाई 5 – शंकराचार्य द्वारा माध्यमिक (शून्यवाद) की आलोचना
इकाई 6 – शंकराचार्य द्वारा जैन मत की आलोचना

-
- इकाई 1 – माया सिद्धान्त – अध्यास
इकाई 2 – शंकर के मायावाद का रामानुज द्वारा खण्डन
इकाई 3 – शंकर, रामानुज के वेदान्त दर्शन में मोक्ष की अवधारणा
इकाई 4 – क्या शंकर को प्रच्छन्न बुद्ध कहना उचित है
-



MAPH-03

शंकराचार्य का दर्शन

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

खण्ड – 1

अद्वैतवेदान्त का अर्थ, उद्भव एवं विकास

इकाई – 1	05–14
अद्वैत वेदान्त का अर्थ	
इकाई – 2	15–22
अद्वैत वेदान्त का उद्भव	
इकाई – 3	23–36
अद्वैत वेदान्त का क्रमिक विकास	
इकाई – 4	37–46
शंकराचार्य का जीवन एवं दर्शन	

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

एम.ए.पी.एच.—03 (MAPH-03)

सरंक्षक मार्गदर्शक

प्रो.के.एन. सिंह — कुलपति, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

विशेषज्ञ समिति

- डॉ.आर.पी.एस. यादव — निदेशक, मानविकी विद्याशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
- प्रो. रामलाल सिंह (से.नि.) — दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
- प्रो.दीप नारायण यादव — दर्शनशास्त्र विभाग, पं० दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
- प्रो. द्वारिका — विभागाध्यक्ष, पं० दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
- प्रो. सभाजीत यादव — दर्शनशास्त्र विभाग, महात्मागांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी।
-

लेखक

- डॉ. श्यामकान्त — असिस्टेंट प्रोफेसर, आर्यकन्या डिग्री कालेज, इला० वि.वि. प्रयागराज।
- डॉ. अतुल कुमार मिश्र — शैक्षिक परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
-

सम्पादक

- प्रो. जटाशंकर — पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
-

परिभाषक

- प्रो. आर.पी.एस. यादव — निदेशक मानविकी विद्याशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
-

समन्वयक

- डॉ. अतुल कुमार मिश्र — शैक्षिक परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
-

2020 (मुद्रित)

© २०२० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज—211021

ISBN-

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को राजर्षि अण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिनियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठ्य सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन — उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज— 211021

प्रकाशक — कुलसचिव, डॉ. अरुण कुमार गुप्ता २०२० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज —2020

मुद्रक — चंद्रकला यूनिवर्सल प्राइवेट लिमिटेड, 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, प्रयागराज (इलाहाबाद)

इकाई—1

अद्वैत वेदान्त का अर्थ

संरचना

- 1.0 उद्देश्य
- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 वेदान्त का शाब्दिक निहितार्थ
- 1.3 वादरायण का ब्रह्मसूत्र
- 1.4 अद्वैत का निहितार्थ
- 1.5 ब्रह्म के दो रूप
- 1.6 चैतन्य ही एकमात्र तत्व
- 1.7 भेद रहित
- 1.8 सामान्य सत्ता
- 1.9 निमित्त उपादान कारण
- 1.10 आत्मा ब्रह्म की एकता
- 1.11 ब्रह्म, ईश्वर और जीव
- 1.12 तादात्म्य सम्बन्ध
- 1.13 नेति—नेति

1.0 उद्देश्य

अद्वैत वेदान्त के अर्थ इकाई में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया जाएगा कि—

- (i) अद्वैत वेदान्त में 'अद्वैत' शब्द को किस अर्थ में ग्रहण किया गया है? प्रायः 'वेदान्त' और 'अद्वैत' के भिन्न—भिन्न अर्थ किये गये हैं।
- (ii) क्या सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का मूल तत्व एक ही है, जिसे अद्वय की संज्ञा से अभिहित किया जाता है?
- (iii) अद्वैत वेदान्त में 'आत्मा' एवं ब्रह्म में किसी प्रकार का द्वैत नहीं है, बल्कि ब्रह्म एवं आत्मा के बीच तादात्म्य या अभेद का सम्बन्ध है, इसलिए भी इसे 'अद्वैत वेदान्त' की संज्ञा से अभिहित किया गया है।

1.1 प्रस्तावना

भारतीय दर्शन में विभिन्न दार्शनिक विचार पद्धतियों में वेदान्त दर्शन सर्वाधिक जीवित दर्शन के रूप में अपना स्थान रखता है। ऐसा इसलिए माना जाता है, क्योंकि हिन्दू विचारकों का जगत् के विषय में जो दृष्टिकोण है, उसका निर्णय करने में वेदान्त का ही किसी न किसी रूप में प्रमुख भूमिका रही है। वास्तविकता यह है कि भारतीय दर्शन में वेदान्त को दर्शन शिरोमणि का स्थान दिया जाता है, क्योंकि 'वेदान्त-ज्ञान' को अन्य सभी ज्ञानों का पराकाष्ठा माना गया है। सभी दर्शनों का समन्वय वेदान्त में ही होता है। वेदान्त ही परागति है, क्योंकि उसके बाद कोई ज्ञान नहीं है। अब तक वेदान्त के जितने भी सम्प्रदाय विकसित हुए हैं, उन सभी शास्त्रों की प्रवृत्ति आत्मज्ञान को प्रकट करने के लिए है। अतएव यह कहा जा सकता है कि 'आत्मविद्या' ही वेदान्त है और सभी शास्त्रों का प्रयोजन इसी वेदान्त को साधित करना है।

1.2. वेदान्त का शाब्दिक निहितार्थ

शाब्दिक दृष्टि से 'वेदान्त' शब्द का अर्थ है— वेद का अन्त। प्रारम्भ में 'वेदान्त' शब्द से उपनिषदों का बोध होता था। वस्तुतः 'वेदान्त' वह सिद्धान्त है, जो वेदों के अन्तिम भाग के रूप में प्रतिपादित किये गये हैं। वेदों के अन्तिम भाग के रूप में उपनिषदों का वर्णन किया गया है। यही कारण है कि उपनिषदों के आधार पर जिन विचारों का विकास हुआ, उसके लिए 'वेदान्त' शब्द व्यवहृत होने लगा। अतएव उपनिषदों को ही भिन्न-भिन्न अर्थों में वेद का अन्त कहा जा सकता है—

- (i) उपनिषद् वैदिक युग के अन्तिम साहित्य हैं। वैदिक काल में तीन प्रकार का साहित्य देखने में आता है। सर्वप्रथम वैदिक मंत्र आते हैं जो भिन्न-भिन्न संहिताओं (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद) में संकलित हैं। वैदिक मंत्रों के पश्चात् ब्राह्मण भाग आता है, जिसमें वैदिक कर्मकाण्ड की विवेचना है। वेद के अन्त में उपनिषदों का भाग आता है, जिसमें दार्शनिक तथ्यों का व्यवस्थित वर्णन हुआ है। वैदिक काल के इन तीन प्रकार के साहित्य को समन्वित रूप में 'श्रुति' या 'वेद' कहा जाता है।
- (ii) वैदिक साहित्य के अध्ययन की दृष्टि से उपनिषदों का क्रम सबसे अन्त में आता है। वैदिक साहित्य का अध्ययन करते समय लोगों को आरम्भ में संहिता भाग का अध्ययन करना पड़ता था। संहिता भाग के अध्ययन के पश्चात् लोगों को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर गृहस्थोचित कर्म (यज्ञादि) करने के लिए 'ब्राह्मण' ग्रन्थों का अध्ययन करना पड़ता है। वानप्रस्थ या संन्यास लेने पर 'आरण्यक' का अध्ययन करना पड़ता था। इन्हें 'आरण्यक' इसलिए कहा जाता था, क्योंकि अरण्य या वन में एकान्त जीवन व्यतीत करते हुए लोग जगत् का रहस्य और जीवन का उद्देश्य समझने की चेष्टा करते थे। उपनिषदों का विकास इसी आरण्यक साहित्य से हुआ है।
- (iii) उपनिषद् को इस अर्थ में भी वेद का अन्त माना जाता है, क्योंकि उपनिषद् में वैदिक विचारधारा की पराकाष्ठा पायी जाती है। वेदों में सन्निहित विचारों का परिपक्व चिन्तन उपनिषदों में मिलता है। स्वयं उपनिषदों में ही कहा गया है कि— वेद, वेदांग आदि सभी शास्त्रों का अध्ययन कर लेने पर

भी मनुष्य का ज्ञान तब तक परिपक्व नहीं होता, जब तक वह उपनिषदों की शिक्षा प्राप्त नहीं करता।

उपनिषदों के विषय में अधिकांश विचारकों का यह कहना है कि उपनिषदों में वेद का गूढ़ रहस्य अन्तर्निहित है, इसलिए उपनिषदों को 'वेदोपनिषद्' भी कहा जाता है। विभिन्न कालों एवं स्थानों में भिन्न-भिन्न वैदिक शाखाओं में अनेक प्रकार की उपनिषदें मिलती हैं। यद्यपि वैदिक शाखाओं में विभिन्न उपनिषदें मिलती हैं, उन सभी में मूलतः विचार सादृश्य है, तथापि भिन्न-भिन्न उपनिषदों में जिन प्रश्नों की विवेचना की गयी है और उनके जो समाधान दिये गये हैं, उनमें कुछ विभिन्नता भी पायी जाती है।

1.3. वादरायण का ब्रह्मसूत्र

विभिन्न कालों में वेद के भिन्न-भिन्न शाखाओं में जो उपनिषद् साहित्य मिलता है, उनके बीच पाये जाने वाले विचारगत भिन्नता एवं विरोध के परिहार के लिए ऐसा अनुभव किया जाने लगा कि किसी ऐसे ग्रन्थ का संकलन किया जाए, जिसमें विभिन्न उपनिषदों के बीच वैचारिक सामन्जस्य स्थापित हो सके। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर सर्वप्रथम वादरायण ने 'ब्रह्मसूत्र' की रचना की। ब्रह्मसूत्र को वेदान्तसूत्र, शारीरिकसूत्र, शारीरिक मीमांसा या उत्तरमीमांसा भी कहते हैं। 'ब्रह्मसूत्र' में कुल चार अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्याय में कुल चार पाद हैं। ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय में ब्रह्म विषयक समस्त वाक्यों का समन्वय, द्वितीय में उन वाक्यों का तर्क, स्मृति आदि से अविवरोध प्रदर्शित किया गया है, तृतीय अध्याय में वेदान्त के विभिन्न साधनों के विषय में और चतुर्थ अध्याय में उनके फल के विषय में विचार किया गया है। वेदान्त के ब्रह्मसूत्र में वर्णित सूत्र अत्यन्त संक्षिप्त और सारगर्भित हैं। वास्तविकता यह है कि वे उपनिषदों से भी अधिक गूढ़ हैं। यद्यपि वादरायण के ब्रह्मसूत्र के पूर्व भी कुछ ऐसे विद्वान्, मनीषी रहे हैं, जिन्होंने उपनिषदों की व्याख्या के द्वारा वेदान्त दर्शन के विकास के भूमिका तैयार कर दी थी, किन्तु वादरायण का ब्रह्मसूत्र ही उपनिषदों में सन्निहित विचारों का ऐसा सर्वप्रथम ग्रन्थ था, जिसमें वेदान्त के विरुद्ध जो भी आरोप किये गये हैं या किये जा सकते हैं, उनका समुचित समाधान मिलता है। वादरायण के ब्रह्मसूत्र पर विभिन्न भारतीय विचारकों ने अनेक भाष्य लिखे, जिनमें उनके द्वारा अपनी-अपनी दृष्टि से वेदान्त की व्याख्या की गयी है। प्रत्येक भाष्यकार यह सिद्ध करने के प्रयास किया है कि केवल उनके द्वारा किया गया भाष्य ही 'श्रुति' एवं मूलग्रन्थ (ब्रह्मसूत्र) की वास्तविक व्याख्या है। इसका परिणाम यह हुआ कि वेदान्त में भी विभिन्न सम्प्रदायों का विकास हुआ, जिसमें शंकर, रामानुज, मध्वाचार्य, बल्लभाचार्य, निंबार्क आदि ने विशेष भूमिका निभायी।

वेदान्त दर्शन को उपनिषदों का सार कहा जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि वादरायण के 'ब्रह्मसूत्र' के पूर्व उपनिषद् दर्शन का गम्भीर अनुशीलन उपनिषद् के भाष्यकारों द्वारा किया गया था, किन्तु प्राचीनतम उपनिषदों पर जो प्राचीनतम भाष्य उपलब्ध हैं, वे शंकराचार्य के ही हैं और शंकराचार्य वादरायण के बाद हुए हैं। ऐसा इसलिए है, क्योंकि शंकराचार्य ने वादरायण के ब्रह्मसूत्र के विषय में यह कहा है कि— 'वह उपनिषद् के वाक्यों को सूत्रवत् ग्रथित करता है।' परन्तु शंकराचार्य के भाष्यों में सुन्दर पाण्ड्य, भर्तृहरि, तथा द्राविडाचार्य के मत का उल्लेख मिलता है, जिससे इस बात की स्पष्ट पुष्टि होती है कि शंकराचार्य के पूर्व भी उपनिषद् भाष्यकार थे। शंकराचार्य के पूर्व भाष्यकारों में गौडपादाचार्य का नाम अग्रगण्य है। गौडपाद का ग्रन्थ 'आगमशास्त्र' या 'माण्डूक्यकारिका' है, जो उपलब्ध

अद्वैतवेदान्त का अर्थ, उद्भव एवं विकास

है और जिस पर शंकराचार्य का भाष्य भी है। यह ग्रन्थ माण्डूक्यउपनिषद् का स्वतंत्र भाष्य है।

वादरायण के ब्रह्मसूत्र पर जो प्राचीनतम भाष्य उपलब्ध है, वह शंकराचार्य का 'शारीरकभाष्य' है। वादरायण के ब्रह्मसूत्र तथा उपनिषद् पर भाष्य लिखकर तथा उपनिषद् के सार को सूत्रवत् पृथक ग्रन्थ में अभिव्यक्त कर आचार्य शंकर ने अद्वैत वेदान्त का प्रवर्तन किया है। उन्होंने यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि—

(1) वेद का अन्त उपनिषद् है, क्योंकि उपनिषद् वेद के अन्तिम भाग है। अतएव वेद का अन्तिम भाग होने के कारण उपनिषद् को ही वेदान्त कहा जाता है।

(2) 'वेदान्त' शब्द का एक दूसरा अर्थ यह भी किया जाता है जिसमें 'वेद' का अर्थ ज्ञान किया गया तथा अन्त का अर्थ पराकाष्ठा किया गया। इससे 'वेदान्त' का एक दूसरा अर्थ यह निकला कि 'वेदान्त वह अन्तिम या चरम ज्ञान है या ज्ञान की पराकष्ठा है या वह ज्ञान है, जिसके पश्चात् अन्य कोई कोई ज्ञान नहीं है।

(3) 'वेदान्त' का एक तीसरा अर्थ यह भी किया गया कि वेदान्त परम पुरुषार्थ 'मोक्ष' का ज्ञान कराने वाला शास्त्र है, क्योंकि वेदान्त मोक्ष को ही परम पुरुषार्थ मानता है। इसीलिए वेदान्त के विषय में कहा जाता है कि, वेदान्त में 'अन्त' शब्द से तात्पर्य उस ज्ञान से है (जिसमें जरामरण के चक्र का अन्त) जिसमें ज्ञान से इस देह का सर्वदा के लिए अन्त हो जाता है।

(4) वेदान्त का एक चौथा अर्थ भी किया गया है, जिसके अनुसार वेदान्त तत्त्वज्ञान है। उसके तत्त्वज्ञान का वर्णन इस अर्द्धश्लोक में करते हुए यह कहा गया है कि ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः 'अर्थात् ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है जीव ब्रह्म ही है दूसरा नहीं। शंकराचार्य ने मिथ्या की परिभाषिक संज्ञा माया दी है। अतएव आचार्य शंकर ने यह प्रतिपादित किया केवल एक तत्त्व है, और वह ब्रह्म है। उसी को आत्मा भी कहा जाता है— 'अयमात्मा ब्रह्म'। इसी तत्त्वज्ञान के आधार पर वेदान्त का अर्थ— ब्रह्मवाद, ब्रह्मविद्या या अध्यात्मविद्या भी किया जाता है।

उपनिषद् तथा वादरायण के ब्रह्मसूत्र के अतिरिक्त वेदान्त दर्शन का एक अन्य आधार 'श्रीमद्भगवद्गीता' है। व्यासकृत, 'श्रीमद्भगवद्गीता' द्वारा भी वेदान्त के सत्य का पोषण एवं समर्थन होता है। इस प्रकार वेदान्त दर्शन के तीन आधार हैं— उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता। वेदान्त दर्शन में इन तीनों ग्रन्थों को समन्वित रूप से 'प्रस्थानत्रयी' कहा जाता है। उपनिषद् को 'श्रुति-प्रस्थान', 'ब्रह्मसूत्र' को 'न्याय प्रस्थान' तथा श्रीमद्भगवद्गीता को 'स्मृति प्रस्थान' कहा जाता है। शंकराचार्य से प्रेरणा प्राप्त करके उनके पश्चात् अनेक आचार्यों ने इन तीन ग्रन्थों पर या इनमें से किसी दो या किसी एक पर भाष्य लिखे और उनका दर्शन भी 'वेदान्त' कहलाया, क्योंकि उनका भी मूल आधार प्रस्थानत्रयी ही था।

वेदान्त की अब तक की गयी विभिन्न व्याख्याओं से भी वेदान्त का अर्थ व्यापक है। प्रस्थानत्रयी के अनेक भाष्यों का तत्त्वज्ञान शंकराचार्य के तत्त्वज्ञान से भिन्न है, यद्यपि वे भी ब्रह्मवाद का प्रतिपादन करते हैं। अतएव अब वेदान्त का अर्थ मात्र 'ब्रह्मवाद' नहीं किया जाता है।

1.4. अद्वैत का निहितार्थ

वेदान्त दर्शन के विभिन्न शाखाओं में अद्वैत वेदान्त का विशिष्ट स्थान है। अद्वैत वेदान्त में परम सत्ता के रूप में केवल एक तत्त्व ब्रह्म या आत्मा की सत्ता को स्वीकार किया गया है। शंकराचार्य के पूर्व प्राचीन अद्वैत वेदान्तियों का यह तर्क था कि समस्त प्रपंच का विलय ब्रह्म या आत्मा में होता है। प्रपंच का विलय उस साधक को प्राप्त होता है, जो 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' का अनुभव करता है। इस प्रकार प्रपंचविलयवाद आत्मा को ब्रह्म सिद्ध करता है। माण्डूक्य उपनिषद् कहा गया है कि 'अयमात्मा ब्रह्म' अर्थात् यह आत्मा ब्रह्म है।

'अद्वैत' शब्द का शाब्दिक अर्थ है, जहाँ द्वैत नहीं है या द्वैत का अभाव है। गौडपाद ने कहा है कि 'द्वैत' माया मात्र है और अद्वैत परमार्थ है— 'मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैत परमार्थतः'। संसार की सभी वस्तुएँ अवास्तविक हैं, क्योंकि सभी सांसारिक वस्तुएँ मायिक हैं। अतः सम्पूर्ण सांसारिक वस्तुओं के वास्तविक अस्तित्व के अभाव में आत्मा और ब्रह्म की एकता सिद्ध होती है। यदि ब्रह्म ही एक मात्र सत् है उसी की एकमात्र सत्ता है और वह अद्वैत है, संसार की अन्य सभी वस्तुएँ मिथ्या है, नानात्व मिथ्या है। अतएव शंकराचार्य के अद्वैतवाद से ब्रह्मवाद की स्थापना होती है, जो ब्रह्म को एक और अद्वितीय तथा अद्वय मानता है। आचार्य शंकर अद्वैत को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'आत्मव्यतिरेकाभावात्' अर्थात् आत्मा के बिना प्रत्येक विषय का अभाव है। इस प्रकार प्रत्येक विषय आत्मा में अन्वित है क्योंकि उसका ज्ञान होना और आत्मा से अन्वित होना एकार्थक है या अद्वय की अवस्था का द्योतक है। आचार्य शंकर के ही मत का समर्थन करते हुए आचार्य सुरेश्वर कहते हैं कि— अनात्मा सर्वत्र आत्मपूर्वक है। यदि सभी विषय आत्मपूर्वक हैं, तो आत्मा ही एक मात्र सत् है। अतः आत्मा ब्रह्म है। मण्डन मिश्र का कहना है कि भेद का जो भी अस्तित्व हो वह अभेद तत्त्व अर्थात् ब्रह्म के अस्तित्व को सिद्ध करता है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार यदि मूल सत्ता पर दृष्टिपात किया जाएँ, तो यह स्पष्ट होता है कि प्रक्रिया भेद से कभी आत्मा को ब्रह्म सिद्ध किया जाता है और कभी ब्रह्म को आत्मा। वादरायण ने ब्रह्मसूत्र में ब्रह्म की परिभाषा देते हुए यह कहा है कि ब्रह्म वह है, जिससे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय होते हैं। शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र की इस परिभाषा की व्याख्या करते हुए कहा है कि ब्रह्म अनुमानगम्य नहीं है, किन्तु तैत्तिरीय उपनिषद् से यह ज्ञात होता है कि ब्रह्म जगत् का आधार, स्रोत एवं अन्त है। ब्रह्म की इस परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि ब्रह्म की यह परिभाषा एक ओर ब्रह्म का लक्षण है, तो दूसरी ओर ब्रह्म के अस्तित्व के लिए प्रमाण भी है। वास्तविकता यह है कि जगत् के जन्मादि का मूल कारण ब्रह्म है, क्योंकि जगत् उससे अनन्तिम है।

आचार्य शंकर के वेदान्त में अद्वय रूप ब्रह्म को उपनिषदों की ही भाँति दो लक्षणों से युक्त माना गया है, जिसे ब्रह्म का स्वरूप लक्षण एवं तटस्थ लक्षण कहा जाता है। ब्रह्म का स्वरूप लक्षण एवं तटस्थ लक्षण ब्रह्म के ही दो रूप हैं— पर ब्रह्म और अपर ब्रह्म। पर ब्रह्म को निर्गुण ब्रह्म और अपर ब्रह्म को सगुण ब्रह्म कहा जाता है। कुछ लोगों का कहना है कि 'जन्माद्यस्ययतः' सगुण ब्रह्म का लक्षण है और 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' निर्गुण ब्रह्म का लक्षण है। परन्तु ब्रह्म के स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षण एक सत् के दो लक्षण हैं। वे ब्रह्म के अस्तित्व को द्विविध नहीं सिद्ध करते, क्योंकि सत् तो एक ही है, जो अद्वय स्वरूप है। आचार्य शंकर स्वयं कहते हैं कि— 'जगतश्चयन्मूलंतत्परिज्ञानात्परंश्रेय इति सर्वोपनिषदां निश्चितोऽर्थः'

अद्वैतवेदान्त का अर्थ,
उद्भव एवं विकास

अर्थात् सभी उपनिषदों का यह मत है कि जो जगत् का मूल है, उसी के परिज्ञान से श्रेय होता है। इस प्रकार जगत् का मूल और निःश्रेयस्, सृष्टिकर्ता और परमार्थ कार्य ब्रह्म और कारण ब्रह्म पर ब्रह्म और अपर ब्रह्म दोनों एक और अद्वय है।

1.5. ब्रह्म के दो रूप

आचार्य शंकर का यह कहना है कि पर ब्रह्म और अपर ब्रह्म एक ही ब्रह्म के दो रूप हैं। ब्रह्म के इस दोनों रूपों के ज्ञान से 'मोक्ष' होता है। उनका यह मानना है कि उस पर ब्रह्म और अपर ब्रह्म को देखने पर हृदय-ग्रन्थि नष्ट हो जाती है, संशय दूर हो जाते हैं और सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् परापर ब्रह्म एक और अद्वय है। ब्रह्म के ज्ञान से ही मोक्ष होता है। तैत्तिरीय उपनिषद् में भी पहले ब्रह्म को सृष्टिकर्ता के रूप में परिभाषित किया गया है और अन्त में उसी को आनन्द कहा गया है। इससे भी सिद्ध होता है कि तटस्थ लक्षण उसी ब्रह्म की प्राथमिक परिभाषा है जिसकी अन्तिम परिभाषा स्वरूप लक्षण है। वास्तविकता तो यह है कि ब्रह्म के स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षण एक ही सत् के लक्षण हैं।

1.6 चैतन्य ही एकमात्र तत्व

अद्वैत वेदान्ती सभी प्रकार के भेद का खण्डन करके अद्वैत तत्व की स्थापना करते हैं। उनका यह मानना है कि ब्रह्म ही एकमात्र तत्व है, जिसका चैतन्य गुण नहीं, स्वभाव है। चैतन्य का कोई विस्तार नहीं होता, इसीलिए ब्रह्म या चैतन्य अनन्त कहा जाता है। 'बृहमत्वात् ब्रह्म या बृहणात् ब्रह्म' अर्थात् जो बृहत्तम है वही ब्रह्म है अथवा जो वृद्धि या विकास करता है, वह ब्रह्म है। ब्रह्म को कभी-कभी आत्मा के नाम से पुकारा जाता है। आत्मा का शाब्दिक अर्थ है—व्यापक। व्याप्ति अर्थ वाले 'आप' धातु से आत्मा शब्द निष्पन्न होता है। अतएव आत्मा या ब्रह्म चेतन स्वरूप सार्वभौम शाश्वत व नित्य है। अब यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि चैतन्य को ही एक मात्र तत्व क्यों माना जाएँ? जड़ को हम तत्व क्यों न मानें? इस विषय में तत्व का लक्षण स्पष्ट करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि "जिस विषय के सम्बन्ध में बुद्धि का व्यभिचार (परिवर्तन) नहीं होता है, वह सत् है, पर जिस विषय के सम्बन्ध में बुद्धि का व्यभिचार होता है, वह असत् है।" तत्व की इस कसौटी पर चैतन्य ही ऐसा है जो खरा उतरता है। संसार की सभी वस्तुएँ जो हमारे ज्ञान के विषय हैं, उनका व्यभिचार होता है या हो सकता है, किन्तु उसके ज्ञाता या चैतन्य का कभी व्यभिचार नहीं हो सकता। अतएव चैतन्य ही एकमात्र तत्व है। ज्ञाता के ज्ञान का निराकरण नहीं किया जा सकता। द्रष्टा के दृष्टि का विपरिलोप नहीं हो सकता। इसलिए आत्मा या ब्रह्म चैतन्य स्वरूप अद्वैत तत्व है।

1.7. भेद रहित

शंकराचार्य के वेदान्त को अद्वैत वेदान्त इसलिए भी कहा जाता है, क्योंकि उनका यह मानना है कि परम तत्व ब्रह्म की सत्ता सभी प्रकार के सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेदों से रहित सत्ता है। इसलिए जब ब्रह्म या आत्मा में किसी प्रकार का भेद है ही नहीं तो वह निश्चय ही अद्वैत होगा।

1.8. सामान्य सत्ता

शंकराचार्य ने अपने अद्वैत वेदान्त में 'ब्रह्म' को इसलिए भी 'अद्वैत' कहा है, क्योंकि ब्रह्म ही संसार के सभी वस्तुओं में आन्वित है। प्रत्येक विशिष्ट वस्तु एक सत्ता सामान्य के विभेदीकरण से ही उद्भूत होती हैं। अतएव सभी विशिष्ट वस्तुएँ अपने अस्तित्व के लिए किसी न किसी सामान्य सत्ता पर आश्रित हैं और वह सामान्य सत्ता अद्वय स्वरूप ब्रह्म है।

1.9. निमित्त उपादान कारण

आचार्य शंकर का यह कहना है कि चेतन और अचेतन का द्वैत तर्कतः सिद्ध नहीं है, क्योंकि यदि द्वैत को स्वीकार कर लिया जाय, तो प्रथम चेतन एवं अचेतन के बीच किसी प्रकार का सम्बन्ध ही नहीं हो सकता तथा इस सम्बन्ध के अभाव में अचेतन तत्व का न तो कोई प्रवर्तक हो सकता है और न ही प्रवर्तित ही। इस कारण से चैतन्य स्वरूप ब्रह्म ही जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण दोनों है और इस निमित्त एवं उपादान कारण को एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता है। इसीलिए शंकराचार्य का ब्रह्म अभिन्न निमित्तोपादान कहलाता है। ब्रह्म और जगत् के बीच तादाम्य सम्बन्ध माना जाता है।

1.10. आत्मा ब्रह्म की एकता

आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म या आत्मा दो सत्ताएँ न होकर एक ही सत्ता हैं। उनका कहना है कि ब्रह्म ही जगत् का मूल कारण या अधिष्ठान है। ब्रह्म एक निरपेक्ष सत्ता है, क्योंकि निरपेक्ष सत्ता वही हो सकता है जो बृहत्तम सत्ता हो। ब्रह्म या आत्मा एक ही सत्ता होने के कारण ब्रह्म की सर्वव्यापी सत्ता भी है। अतएव सत्ता केवल परिमार्थिक दृष्टि से एक ही सत् हो सकती है, वह ब्रह्म या आत्मा है।

आचार्य शंकर का यह मानना है कि ब्रह्म एवं आत्मा की एकता का प्रतिपादन 'श्रुति' भी करती है। श्रुति के ये महावाक्य अयमात्मा ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि, ब्रह्मवेद् ब्रह्मैव भवति, तत्वमसि आदि आत्मा एवं ब्रह्म की एकता का ही प्रतिपादन करते हैं।

1.11. ब्रह्म, ईश्वर और जीव

शंकराचार्य का कहना है कि श्रुति, स्मृति एवं न्याय से सिद्ध है कि परब्रह्म ही जगत् का मूल अधिष्ठान है। शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म वास्तव में निर्विकल्प एवं सभी विशेषों से रहित है, किन्तु उपाधिवश उपासना का विषय होने के कारण उपास्य-उपासक के रूप प्रकट होता है। उनका यह स्पष्ट अभिमत है कि ब्रह्म या ईश्वर वास्तव में दो नहीं वरन् एक ही हैं। ब्रह्म को जब हम सृष्टि शक्ति से सम्पन्न देखते हैं, तो वह ईश्वर-रूप में व्यक्त होता है और ईश्वर रूप में ब्रह्म माया के सत्व गुण से अवच्छिन्न है। ब्रह्म आत्मा के रूप में नित्य साक्षी के रूप में जीवों के सुख-दुःख को देखता है, पर वह स्वयं उससे प्रभावित नहीं होता।

आचार्य शंकर ब्रह्म की शक्ति को 'माया' कहते हैं। यद्यपि शंकराचार्य का ब्रह्म माया के सत्वगुण से अवच्छिन्न है, पर वह उससे बिल्कुल ही प्रभावित नहीं होता। शंकराचार्य का कहना है कि जिस प्रकार कोई जादूगर अपने जादू से दूसरे

अद्वैतवेदान्त का अर्थ, उद्भव एवं विकास

लोगों को प्रभावित करता है, परन्तु स्वयं अपने जादू से प्रभावित नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्म अज्ञानियों को अपनी माया से प्रभावित करता है किन्तु वह स्वयं उससे प्रभावित नहीं होता, क्योंकि 'माया' स्वयं ब्रह्म की ही शक्ति है। अतएव यह कहा जा सकता है कि शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म कारण ब्रह्म है और ईश्वर कार्य ब्रह्म है। ब्रह्म निष्क्रिय है पर ईश्वर सक्रिय है। अद्वैत वेदान्त में अवच्छेदवाद, प्रतिबिम्बवाद और आभासवाद द्वारा ब्रह्म एवं ईश्वर के अद्वैत स्थिति को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

शंकराचार्य के दर्शन को अद्वैत वेदान्त के रूप में इसलिए भी लोप्रियता मिली, क्योंकि उनका यह स्पष्ट मानना था जगत् ब्रह्म का परिणाम न होकर ब्रह्म का विवर्तमात्र माना है। वास्तविक अन्यथाभाव को तो परिणाम कहते हैं, किन्तु अवास्तविक या अतात्विक अन्यथाभाव को विवर्तवाद कहते हैं। यदि ब्रह्म या ईश्वर जगत् रूप में परिणत हो जाता है तो जगत् की उत्पत्ति के बाद उसकी सत्ता समाप्त हो जानी चाहिए, जो असंभव है। यदि केवल वह आंशिक रूप में ही परिणत हो जाता है, तो वह विभाज्य हो जाएगा और इस प्रकार वह शाश्वत नहीं रह जाएगा। पुनः ब्रह्म अद्वय, अमिश्रित, अयौगिक और चेतन तत्व है, उसका परिणाम कभी भी नहीं हो सकता। परिणाम उन्हीं वस्तुओं का होता है, जो यौगिक होती हैं तथा जिनका संस्थान होता है। अमिश्रित तथा अयौगिक तत्व होने के कारण ब्रह्म का केवल विवर्त हो सकता है परिणाम नहीं। अतएव यह कहा जा सकता है कि जगत् ब्रह्म का विवर्त है। जगत् के मिथ्या होने के कारण ब्रह्म में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। जगत् केवल नामरूपात्मक है, उसका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है। शंकर के अनुसार ब्रह्म पूर्ण और आप्तकाम है। इसलिए सृष्टि ईश्वर की लीला है उसके सभी कार्य लीलावत् स्वभावतः होते रहते हैं।

1.12. तादात्म्य सम्बन्ध

आचार्य शंकर के अनुसार ईश्वर एवं जगत् के बीच तादात्म्य या अनन्यत्व का सम्बन्ध है। अद्वैत वेदान्त में अनन्यत्व का एक विशिष्ट अर्थ है। जिस प्रकार कारण से कार्य अन्य नहीं है, वैसे ही जगत् ईश्वर से अन्य नहीं है। कारण और कार्य एक दूसरे से अनन्य हैं अर्थात् कार्य कारण के बराबर है, पर कारण कार्य के बराबर नहीं है। यही अनन्य का वास्तविक अर्थ है। अनन्य का सम्बन्ध कोई अभेद सम्बन्ध नहीं है। इसी बात को दृष्टि में रखकर वाचस्पति मिश्र ने कहा था कि आचार्य शंकर ईश्वर एवं जगत् के बीच अभेद का प्रतिपादन नहीं कर रहे हैं, अपितु भेद का निराकरण कर रहे हैं।

1.13. नेति—नेति

शंकराचार्य ने अपने दर्शन को अद्वैत वेदान्त की संज्ञा इसलिए दिया, क्योंकि उनका यह स्पष्ट रूप से अभिमत था कि निर्गुण, निर्विशेष तथा निर्विकल्प ब्रह्म का निर्वचन वाणी द्वारा संभव नहीं है। अतएव उनका यह कहना था कि 'नेति—नेति' के द्वारा जो सभी भावों का निवर्तन या निषेध करता है और उस निषेध की प्रागपेक्षा के रूप में जो अवशिष्ट रहता है तथा जो सर्वथा अवाग्डमनस गोचर है, वह अद्वैत है। इस प्रकार अद्वैत एक तर्क प्रणाली है जो सिद्ध करती है कि आत्मा ही अद्वैत है और अद्वैत ही आत्मा है क्योंकि आत्मा ही निषेध का आश्रय है

और आत्मा के लिए ही अनात्मा का निषेध किया जाता है। अतएव शंकराचार्य 'नेति-नेति' के द्वारा अद्वैतवाद को सिद्ध करते हैं।

अद्वैत वेदान्त का अर्थ

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आचार्य शंकर ने अपने सुतर्क के आधार भेदात्मक दृष्टि का खण्डन और अद्वैतवाद की स्थापना करते हैं। आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त मत को दर्शन केसरी कहा जाता है। उनके अद्वैत वेदान्त के विषय में यह कहा जाता है कि जब तक वेदान्त का प्राकट्य नहीं होता है तब तक सभी दर्शन गरजते हैं और जब उसका उदय हो जाता है, तो वे सभी दर्शन निरन्तर शान्त हो जाते हैं या उनका स्वर वेदान्त के समक्ष मन्द हो जाता है।

प्रश्नावली

लघु उत्तरीय प्रश्न—

1. अद्वैत वेदान्त का अर्थ स्पष्ट करें?
2. ब्रह्म के दो स्वरूप क्या हैं?
3. चैतन्य ही एकमात्र तत्त्व हैं, स्पष्ट करें?
4. ब्रह्म के सन्दर्भ में निमित्त उपादान कारण की व्याख्या करें?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न—

1. वादरायण के ब्रह्म सूत्र पर आधारित अद्वैत दर्शन की व्याख्या करें?
2. अद्वैत वेदान्त पर एक निबन्ध लिखें?

इकाई-2

अद्वैत वेदान्त का उद्भव

संरचना

- 2.0. उद्देश्य
- 2.1. प्रस्तावना
- 2.2. वेद का संहिता
- 2.3. ब्रह्म सत् चित् आनंद की अवस्था
- 2.4. वेदान्त सूत्र, ब्रह्म सूत्र एवं शारीरिक सूत्र

2.0. उद्देश्य

अद्वैत वेदान्त के उद्भव से सम्बन्धित इस इकाई में यह जानने का प्रयास किया जाएगा कि अद्वैत वेदान्त के उद्भव में किन कारकों एवं विचारधाराओं का प्रमुख योगदान रहा है। यह भी जानने का प्रयास किया जाएगा कि अद्वैत वेदान्त किन-किन स्रोतों से अपने विषय-वस्तु को प्राप्त कर एक व्यवस्थित विचारधारा के रूप में दर्शन जगत् में अपना विशेष स्थान बनाता है। शंकर के पूर्व अद्वैत वेदान्त और शंकर का अद्वैत वेदान्त का जो दार्शनिक स्वरूप प्रकट हुआ, वह जनमानस को कहाँ तक प्रभावित किया?

2.1. प्रस्तावना

अद्वैत वेदान्त का मूल वेदों में अन्तर्निहित था, क्योंकि वेद ही वह मूल स्रोत है, जिससे अद्वैत वेदान्त एक व्यवस्थित दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित हो सका। वैदिक संहिताओं में अनेक ऐसे मंत्र मिलते हैं, जो वेदान्त के विकास के लिए उर्वर भूमि को तैयार करते हैं सर्वप्रथम 'एकम्' के रूप में अद्वैत वेदान्त की अवधारणा वेदों में ही मिलती है। ऋग्वेद में बहुत से ऐसे मंत्र पाये जाते हैं, जिसमें सभी देवताओं को एक ही सत्ता के भिन्न-भिन्न रूप या शक्ति कहा गया है। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' ऋग्वेद के इस मंत्र में यह भाव व्यक्त किया गया है कि एक ही सत्ता है, जिसे विद्वान् भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं। इस प्रकार की अभिव्यक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक ऋषि विभिन्न देवताओं को एक सत्ता के विभिन्न रूप समझते थे। इसीलिए कतिपय विद्वानों का मत है कि वैदिक विचारधारा का आरम्भिक रूप अनेकेश्वरवाद के रूप में प्रकट हुआ था, जो हीनोथीज्म के रूप में विकसित होकर अन्ततः एकेश्वरवाद में परिणत हो गया। यह एकेश्वरवाद अपने सुविकसित रूप में भी इस धारणा को नहीं छोड़ता कि यद्यपि ईश्वर वस्तुतः एक ही है, तथापि वह विभिन्न देवताओं के रूप में प्रकट होता है, जिसमें किसी की भी परमेश्वर के रूप में अराधना की जा सकती है। अभी तक अपने देश में शैव वैष्णव आदि अनेक सम्प्रदाय साथ-साथ चल रहे हैं, जिनके मूल में वस्तुतः एक ही परमेश्वर या सर्वव्यापी की सत्ता है। वैदिक युग से लेकर अभी तक भारतीय

अद्वैतवेदान्त का अर्थ, उद्भव एवं विकास

एकेश्वरवाद का यही विश्वास रहा है कि सभी देवता एक ही परमेश्वर के विभिन्न रूप हैं। अतः एक परमेश्वर में विश्वास रखने के लिए अनेक देवताओं को अस्वीकार करना आवश्यक नहीं समझा जाता था। यह भारतीय एकेश्वरवाद की ही एक विशेषता है, जो ईसाई या इस्लाम धर्म में नहीं है। यह विशेषता केवल वैदिक युग में ही नहीं पायी जाती है अपितु यह हिन्दू धर्म या सनातन धर्म का विश्वास है। वैदिक युग की इसी परम्परा का ही जीवित रूप अद्वैत वेदान्त है, जो वादरायण, भर्तृहरि, गौड़पाद, शंकराचार्य आदि दर्शन में वैचारिक दृष्टि से पराकाष्ठा को प्राप्त किया।

2.2. वेद का संहिता भाग

वेद का संहिता भाग अध्यात्मिक अद्वैतवाद से अनुप्राणित है। संहिता से लेकर उपनिषद् तक वैदिक दर्शन का विकास इस केन्द्रीय आध्यात्मिक अद्वैतवाद का ही विकास है, जो अपने अन्तर्गत एकेश्वरवाद और सर्वेश्वरवाद को परात्परत्व और अन्तर्यामित्व को तथा भेद, अभेद एवं भेदाभेद को समाहित किये हुए है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि वेदों में सर्वव्यापी, सर्वात्मक और परात्पर, देवतत्व एक ही है तथा विविध देवगण इसी की शक्तियों के विविध रूप हैं। यह सर्वान्तर्यामी सूत्रात्मा है। यह विश्व नियन्ता है। वेदों के ये वाक्य निश्चय ही बहुदेववाद के पोषक नहीं हैं जब बहुदेववाद, एकदेववाद या एकेश्वरवाद में विकसित होता है, तो देव मण्डल के सर्वाधिक शक्तिमान देव को ही ईश्वर के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। वैदिक दर्शन में संहिता से लेकर उपनिषद् तक इसी अद्वैतवाद का विकास हुआ है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में कहा गया है कि— 'पुरुष वेदं सर्वयद् भूतं यच्च भाव्यम्' अर्थात् पुरुष ही सब कुछ है। भूत, वर्तमान और भविष्य में जो कुछ था, है या होगा, वह सब पुरुष ही है। उस एक ही महान सत् की उपासना श्रृग्वेदी 'उक्थ' के रूप में, यजुर्वेदी 'अग्नि' के रूप में और सामवेदी 'महाव्रत' के रूप में किया करते हैं। वेदों में प्रकाशमय अपरिमंय तत्व को 'अदिति' कहा गया है। अदिति ही आकाश है, अन्तरिक्ष है, माता-पिता है, पुत्र है, समस्त देव मण्डल है। सारा मानवसमुदाय है, जो कुछ भी उत्पन्न हुआ और उत्पन्न होने वाला है, वह सब अदिति ही है।

2.3. ब्रह्म सत् चित् आनन्द की अवस्था

वेदों में सत् को सत्ता की दृष्टि से 'सत्य' और नैतिक नियमन की दृष्टि से 'ऋत्' तथा आनन्द की दृष्टि से 'मधु' या 'मधुमान' कहा गया है। इसीलिए वेदों में यह कहा गया है कि 'ऋत्' के कारण ही जगत् में सुव्यवस्था है, देवगण 'ऋत्' के ही स्वरूप हैं। इस प्रकार वैदिक युग में 'ऋत्' से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का संचालन, निर्देशन और नियमन माना गया है। यह 'ऋत्' सत् का ही पर्यायवाची था, जो किसी न किसी रूप में निरपेक्ष सत् के रूप में अभिव्यंजित हुआ है। इसीलिए यह कहा गया है कि सूर्य 'ऋत्' का विस्तार करते हैं, नदियाँ ऋत् को प्रवाहित करती हैं। विष्णु के उस परम पद को ज्ञानी, जागरूक विद्वान नहीं जानते हैं। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में यह कहा गया है कि सृष्टि के आदि काल में उस निरपेक्ष तत्व की ओर संकेत किया गया है, जिससे सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति होती है।

2.4. वेदान्त सूत्र, ब्रह्म सूत्र एवं शारीरिक सूत्र

ऋग्वेद का यह विचार कि सभी देवता ईश्वर के रूप में हैं, उस व्यापक सिद्धान्त पर आधारित है कि मूल सत्ता एक ही है। वेद में इस सिद्धान्त का स्पष्ट रूप से उल्लेख ऋग्वेद के प्रसिद्ध 'पुरुषसूक्त' (जो आजकल भी नैष्ठिक ब्राह्मण प्रतिदिन पाठ करते हैं) में हुआ है जिसमें वैदिक ऋषि सम्पूर्ण जगत् को एक रूप में देखते हैं। मानवीय इतिहास में प्रायः यही अद्वैत की प्रथम अनुभूति है। इस सूक्त का कुछ अंश निम्नलिखित है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।

स भूमि विश्वतो वृत्था त्यतिष्ठद्दशांगुलम् ।

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।

उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥

एता वानस्थ महिमातो ज्यायांश्च पुरुषः ।

पदोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥

अर्थात् परम तत्व के रूप में समझे जाने वाले उस पुरुष के सहस्र मस्तक हैं, सहस्र नेत्र हैं, सहस्र पैर हैं। वह समस्त पृथ्वी में व्याप्त है और उससे देश अंगुल परे भी है। जो कुछ है और जो कुछ होगा, सो सब वही पुरुष है। वह अमरत्व का स्वामी है। जितने अन्न से पलने वाले जीव हैं, सब में वही है। उसकी इतनी बड़ी महिमा थी और उससे भी बड़ा वह पुरुष था। सम्पूर्ण विश्व उसका पाद (चतुर्थांश) मात्र है, तीन पाद बाहर अन्तरिक्ष में हैं। उसके एक पाद में सर्वभूत व्याप्त है और तीन पाद अमृत है, जो द्युलोक में है। यही सर्वत्र चराचर विश्व में व्याप्त है।

वैदिक काल में किये गये परम पुरुष के निरूपण में यह कहा गया है कि पृथ्वी, स्वर्गलोक, ग्रह—नक्षत्र, देवता, जड़ और चेतन सभी पदार्थ एक ऐसे पुरुष के अंश माने गये हैं, जो सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त तो हैं ही, उसके बाहर भी विद्यमान है। जो कुछ है या होगा, सब उसी एक में सन्निहित है। इस मंत्र में विश्व की एकता का ही कवित्वमय चित्र नहीं, बल्कि उस परम पुरुष की भी झलक है, जिसकी सत्ता विश्व के भीतर भी है और बाहर भी।

वैदिक काल के संहिताओं में ईश्वर को सर्वव्यापी सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है, किन्तु उसकी सत्ता विश्व में ही सीमित नहीं है। वह जगत् में अन्तर्व्याप्ति होते हुए भी उससे परे है। पाश्चात्य दर्शन में ईश्वर की इस प्रकार की सत्ता को निमित्तोपादानेश्वर कहते हैं। अतः वैदिक काल में ईश्वर जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण दोनों माना गया है। वह सम्पूर्ण जगत् का अधिष्ठाता है। वह समस्त विश्व से वृहत् सत्ता है, क्योंकि सम्पूर्ण विश्व उसके अधीन है। वास्तविकता यह है कि वैदिक ऋषि की दिव्य दृष्टि इतनी दूर तक पहुँच गयी है कि इस एक मंत्र में उन्होंने अद्वैत, विश्वैकात्मवाद तथा निमित्तोपादानेश्वरवाद का बड़ा ही सुन्दर निरूपण कर दिया है। वेद नासदीय सूक्त इसका बड़ा ही सुन्दर निदर्शन हुआ है—

अद्वैतवेदान्त का अर्थ, उद्भव एवं विकास

'नासदासीन्नो सदासीतदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परोयत्' अर्थात् जो कुछ है, सो पहले नहीं था, जो कुछ नहीं है, सो भी नहीं था। न पृथ्वी थी, न आकाश था, न उसके परे स्वर्गलोक।

मंत्र के अन्त में कहा गया है—

इयं विसृष्टियत आवभूव यदि वा दधे यदि वा न।

यो अस्याध्यक्षः परमं व्योमन्त्सो अङ्गवेद यदि वा न वेद।।

अर्थात् यह सृष्टि जिससे उत्पन्न हुई है उसने इसे बनाया या नहीं बनाया, सबसे ऊँचे लोक में जो इसका अध्यक्ष है, वह इसे जानता हो या वह भी न हो।

अतएव वेद के नासदीय सूक्त में निर्गुण ब्रह्म का वर्णन मिलता है। जिस मूल सत्ता से सब कुछ उत्पन्न हुआ है जो प्रत्येक वस्तु में विद्यमान है, उसे न सत् कहा जा सकता है, न असत्। यहाँ हमें सर्वप्रथम पाश्चात्य दर्शन के निर्विशेष, निरपेक्ष अनिर्वचनीय सत् के दर्शन होते हैं, जो सभी वस्तुओं का अन्तस्तत्त्व है, किन्तु स्वतः अवर्णनीय है। इस प्रकार वैदिक ऋषियों ने निर्गुण और सगुण ब्रह्म के रूप में जो कल्पनाएँ की हैं, उन दोनों में क्या सम्बन्ध है, इसे सम्यक् रूप में जानने के लिए यह बात समझनी होगी कि सगुण ईश्वर की सत्ता भी विश्व में सीमित नहीं मानी गयी है अर्थात् वह भी अनन्त माने गये हैं। अतः वैदिक काल के ऋषियों ने इस विचार की स्थापना कर दी थी कि सगुण एवं निर्गुण ब्रह्म की अवधारणा एक ही मूल सत्ता के दो रूप हैं।

वैदिक साहित्य के अतिरिक्त अद्वैत वेदान्त के उद्भव में जिन प्रमुख साहित्य का योगदान है, उसे प्रस्थानत्रयी की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र एवं श्रीमद्भगवद्गीता को समवेत रूप में प्रस्थानत्रयी कहा जाता है। प्रस्थानत्रयी को वेदान्त का सर्वमान्य ग्रन्थ माना गया है। प्रायः सम्पूर्ण वेदान्त दर्शन का विकास इसी प्रस्थानत्रयी को आधार बनाकर हुआ है। प्रस्थानत्रयी में भी उपनिषद् को मूल प्रस्थान माना गया है और अन्य दो प्रस्थान इसी पर आधारित माने जाते हैं। अतएव यदि दार्शनिक दृष्टि से देखा जाए तो यह कहा जा सकता है कि यद्यपि वैदिक ऋषियों ने अपने मंत्रों में अद्वैत वेदान्त के प्रमुख विचारों की उद्भावना तो कर दिया था, किन्तु वेद वास्तविक अर्थ में दार्शनिक ग्रन्थ नहीं थे। सबसे पहले उपनिषदों में आत्मा, ब्रह्म और जगत् के विषय में व्यवस्थित दार्शनिक विचार मिलते हैं। कठोर तर्क प्रणाली का अभाव होते हुए भी उपनिषदों में विचारों की उच्चता, अनुभूति की गम्भीरता, मनुष्य में निहित 'सत्यं शिवं सुन्दरमं' की अनुप्रेरणा की स्पष्ट अनुगूँज सुनायी पड़ती है। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक शोपेनहावर (Schpen Hauer) उपनिषदों से इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने कहा— "सम्पूर्ण संसार में किसी ग्रन्थ का अध्ययन उतना कल्याणकारक और उतना शान्तिदायक नहीं है, जितना उपनिषदों का। यही मेरे जीवन की शान्ति रही है, यही मेरी मृत्यु की भी शान्ति रहेगी।"

उपनिषदों में सर्वप्रथम दार्शनिक समस्याओं पर विशेष रूप से विचार किया गया और अनेक ऐसे प्रश्न उठाये गये हैं जिन पर गहन चिन्तन और मनन किया गया है। उपनिषदों की कुछ प्रमुख समस्याएँ ये हैं— यह मूल तत्त्व क्या है, जिससे सब कुछ उत्पन्न होता है, जिसमें सब कुछ स्थित रहता है तथा जिसमें सब कुछ अन्ततः विलीन हो जाता है? वह कौन सा सत्य है, जिसे जान लेने से सभी कुछ ज्ञात हो जाता है? वह क्या है, जिसके ज्ञान से अज्ञात ज्ञात हो जाता है? किस तत्त्व को जान लेने से अमरत्व प्राप्त हो जाता है? ब्रह्म क्या है? आत्मा क्या है?

ऐसे अनेक दार्शनिक प्रश्नों पर उपनिषदों में विचार किया गया है और उस पर एक अद्वैत वेदान्त का उद्भव व्यवस्थित दार्शनिक चिन्तन की अभिव्यंजना की गयी है।

ब्रह्म या आत्मा—

उपनिषदों में इस अवधारणा का स्पष्ट रूप से वर्णन हुआ है कि एक सर्वव्यापी सत्ता है, जिससे सभी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। जिसमें सभी वस्तुएँ स्थित हैं, जिसमें सभी वस्तुएँ विलीन हो जाती हैं और इस तत्त्व के ज्ञान से अमरत्व प्राप्त हो सकता है। इस तत्त्व को उपनिषदों में कभी ब्रह्म, कभी आत्मा और कभी केवल सत् कहा गया है। ऐतरेय एवं वृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि— 'ऊँ आत्मा वा इदम् एक एव अग्रआसीत्' तथा 'आत्मा वा इदं अग्रे आसीत्' अर्थात् पहले आदि में केवल वह आत्मा मात्र था। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि— 'आत्मा एवं इदं सर्वम्' अर्थात् यह सब कुछ आत्मा ही है। वृहदारण्यक उपनिषद् में यह भी कहा गया है कि— 'आत्मनि खलु अरे, दृष्टे, श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विजानाति' अर्थात् आत्मा को जान लेने से सब कुछ ज्ञात हो जाता है। इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि— 'सदेव सौम्य इदं अग्रे आसीत् एकं एव अद्वितीयम्' आदि में केवल सत् था, दूसरा कुछ नहीं था। पुनः छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है— सर्वं खल्विदं ब्रह्म तथा मुण्डक उपनिषद् में कहा गया है कि— ब्रह्म एवं इदं विश्वम् अर्थात् यह सब कुछ ब्रह्म है और ब्रह्म ही सम्पूर्ण विश्व है। विभिन्न उद्धृत औपनिषदीय वाक्यों से यही निष्कर्ष निकलता है कि उपनिषदों में ब्रह्म एवं आत्मा को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। कहीं—कहीं स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि 'अयम् आत्मा ब्रह्म' और 'अहं ब्रह्मस्मि' अर्थात् यह आत्मा ब्रह्म है और मैं ब्रह्म ही हूँ।

आत्मा विशुद्ध चैतन्य स्वरूप है—

उपनिषदों के वर्णन में वैदिक कालीन देवताओं को ब्रह्म या आत्मा के रूप में स्वीकार किया गया है। उपनिषदों में आत्मा को शुद्ध चैतन्य स्वरूप माना गया है। यह आत्मा सत्य अनन्त और ज्ञान स्वरूप है, जिसके कारण यह सभी भूतों की आत्मा है। मनुष्य केवल ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान के पुनर्जन्म एवं तज्जन्य क्लेशों से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। उपनिषदों यह कहा गया है कि जो अपने को शाश्वत ब्रह्म से अभिन्न समझ लेता है, वही अमरत्व प्राप्त करता है। ऐसी मुक्ति तभी संभव है, जब प्रेय का परित्याग कर केवल श्रेय का अनुसरण किया जाएगा।

2.3 ब्रह्म की सत् चित् एवं आनन्द की अवस्था

उपनिषदों में ब्रह्म को सत् और चित् के साथ-साथ आनन्द भी माना गया है। ब्रह्म को सत् कहने का यह अभिप्राय है कि वह सत् सत्ताओं का मूल है, चित् कहने का तात्पर्य है, वह चैतन्यों का अधिष्ठान है तथा आनन्द कहने से आशय है वह सभी सुखों का मूल स्रोत है। समस्त सांसारिक विषय उसी सत्ता के सीमित अंश हैं जो आत्मा के साक्षात्कार में सहायक हैं। जब आत्मा ब्रह्म के साथ तादात्म्य का अनुभव करता है, तभी वह मुक्त होता है। वृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मेंत्रेयी को समझाते हैं— आत्मा सभी आनन्दों का मूलस्रोत है। इसका यह प्रमाण है कि आत्मा से बढ़कर किसी को और कुछ भी प्रिय नहीं होता। आत्मा शुद्ध रूप में आनन्दमय है, यह इस बात से भी सिद्ध होता है कि मनुष्य जब सुषुप्तावस्था में रहता है, तब शरीर, इन्द्रिय, विषय तथा मन से अपना सम्बन्ध भूल जाता है और अपने प्रकृत रूप में आकर सुख-दुःख से परे शान्त अवस्था को प्राप्त

अद्वैतवेदान्त का अर्थ, उद्भव एवं विकास

हो जाता है। उपनिषदों की स्पष्ट मान्यता है कि जितना ही अधिक हम विषय-वासना का परित्याग करते हैं और आत्मा तथा ब्रह्म के साथ अपनी एकता का अनुभव करते हैं, उतना ही अधिक हम परमानन्द प्राप्त करते हैं। आत्मा का दर्शन करना अनन्त, अमृत, आनन्दमय ब्रह्म के साथ तदाकार हो जाना है। यही ब्रह्मानन्द है। इसे प्राप्त कर लेने पर कुछ भी अप्राप्य नहीं रह जाता। किसी भी वस्तु की कामना शेष नहीं रहती। अतएव कठोपनिषद् का कहना है कि जब मनुष्य का हृदय सर्वथा निष्काम या वासनारहित हो जाता है, तब वह इसी जीवन में सन्नद्ध रहते हुए अमरत्व प्राप्त कर लेता है।

ब्रह्म और जगत् के बीच सम्बन्ध –

यदि ब्रह्म या आत्मा ही समस्त जगत् का मूल अधिष्ठान है, तो प्रश्न उठता है कि ब्रह्म एवं जगत् के बीच सम्बन्ध किस प्रकार का है? भिन्न-भिन्न उपनिषदों में सृष्टि का जो वर्णन दिया गया है, वह सभी में एक जैसा नहीं है। परन्तु इस विषय में प्रायः सभी सहमत हैं कि ब्रह्म या सत् या आत्मा ही जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण दोनों ही हैं। सृष्टि के आदि के विषय में अधिकांश उपनिषदों का मत कुछ इस प्रकार है— “सबसे पहले आत्मा मात्र था। उसमें संकल्प हुआ— मैं एक से अनेक होऊँ। मैं सृष्टि रचना करूँ।” इसके बाद के सृष्टि क्रम को लेकर मतभेद है। कुछ उपनिषदों का कहना है कि आत्मा से पहले सूक्ष्मतम भूत आकाश की उत्पत्ति हुई, तदनन्तर स्थूल भूत उत्पन्न हुए। अन्य उपनिषदों में भी भिन्न-भिन्न प्रकार के अनेक वर्णन मिलते हैं। उपनिषदों में सृष्टि सम्बन्धित विभिन्न वर्णनों से ऐसा प्रतीत होता है कि सृष्टि वास्तविक है और ब्रह्म या ईश्वर ही वास्तविक सृष्टि कर्ता हैं। परन्तु उपनिषदों में ही बहुत से वाक्य ऐसे भी हैं जिनमें कहा गया है कि अनेकता यथार्थ नहीं है। ‘नेह नानाऽस्ति किञ्चन’। ‘मृत्योः समृत्युम् आप्नोति य इह नानेव पश्यति’ अर्थात् जो अनेक को वास्तविक समझता है, वह मृत्यु को प्राप्त होता है।

मूल तत्व एक ही है, भिन्नता का कारण नामरूप है।

सभी उपनिषदों में इस मत का प्रतिपादन किया है कि मूल तत्व एक ही है, उनमें केवल नामरूप का भेद है। सांसारिक विषयों की अपनी-अपनी पृथक् स्वतंत्र सत्ता नहीं होती है। कहीं-कहीं ब्रह्म (आत्मा) को सृष्टिकर्ता न कहकर अवर्णनीय (अवाग्दमनसगोचर) कहा गया है। ऐसा ब्रह्म उपासना का विषय भी नहीं हो सकता; जैसा कि केनोपनिषद् में कहा गया है— “ब्रह्म ज्ञात और अज्ञात दोनों से परे है। जो वाक् से अतीत है, जिनसे वाक् का उद्गम हुआ है, वही ब्रह्म है, जिसकी उपासना होती है, सो ब्रह्म नहीं है।

अद्वैत वेदान्त के विकास में श्रीमद्भगवद्गीता का प्रमुख योगदान रहा है। सभी उपनिषदों का सार हमें श्रीमद्भगवद्गीता में मिलता है। इस कारण भगवद्गीता को भी वेदान्त का एक प्रमुख स्रोत माना जाता है।

वादरायण का ब्रह्मसूत्र—

वेदान्त को शास्त्रीय रूप देने का श्रेय वादरायण को है, जिन्होंने सभी उपनिषदों के मूल विचार को सूत्रबद्ध करके वेदान्तसूत्र या ब्रह्मसूत्र की रचना की। बादरायण के ब्रह्मसूत्र में श्रुतियों के वास्तविक अर्थ निर्धारित करने की और उनका सामन्जस्य दिखाने की चेष्टा की गयी है। इस प्रकार सबके मूल में उपनिषद् ही है। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता को समवेत रूप से प्रस्थानत्रयी कहा

जाता है। प्रस्थान का अर्थ है, जिनके ऊपर ब्रह्मविद्या आधारित है। वास्तविकता यह अद्वैत वेदान्त का उद्भव है कि उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता पर ही वेदान्त के आधारित होने के कारण ही इन्हें प्रस्थानत्रयी कहा जाता है। 'वेदान्तसार' के लेखक श्री सदानन्द ने 'वेदान्त' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है कि— मुख्य रूप से उपनिषद् और उसके समझने में उपकारिक शरीरकसूत्र आदि साहित्य वेदान्त नाम से अभिहित किये जाते हैं।

वादरायण का ब्रह्मसूत्र, वेदान्तसूत्र एवं शारीरकसूत्र समानार्थक है।—

वादरायण का ब्रह्मसूत्र में जो सूत्र संग्रहित हैं वे अत्यन्त संक्षिप्त तथा अनेकार्थक हैं। वादरायण ब्रह्मसूत्र में जगद्विषयक भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरों की परीक्षा करते हैं। वे युक्ति एवं श्रुति प्रमाण दोनों की ही सहायता से सांख्य वैशेषिक, बौद्ध, शैव, पाशुपत, कापालिक और कालामुख के सृष्टि या जगत् विषयक दृष्टिकोण का खण्डन करते हैं और खण्डन के पश्चात् अपने वेदान्त के दृष्टिकोण का प्रतिपादन करते हैं। इसलिए वेदान्त के दृष्टिकोण से वादरायणकृत 'ब्रह्मसूत्र' का विशेष महत्व है। वादरायण अपने संकलित ग्रन्थ का नाम ब्रह्मसूत्र इसलिए दिए हैं क्योंकि 'ब्रह्म' ही इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है। 'ब्रह्म' शब्द बृहि वृद्धौ धातु से बना है। सर्वव्यापक, विभु, सर्वशक्तिमान और नित्य तत्त्व होने से परमात्मा के लिए उपनिषदों में ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी ब्रह्मतत्त्व का प्रतिपादन व्यासमुनि प्रणीत वेदान्त सूत्रों में भी किया गया है। इसलिए वेदान्त सूत्रों को 'ब्रह्मसूत्र' कहा गया है। उपनिषदों का दूसरा प्रतिपाद्य जीवात्मा है। जीवात्मा अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान, प्राणियों के शरीरों में रहने वाला तथा शरीरों का संचालन करने वाला आत्मा है। उस जीवात्मा के लिए उपनिषदों और वेदान्त सूत्रों में 'शारीरः' शब्द का प्रयोग किया गया है। आचार्य विश्वेश्वर ने 'शारीरः' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है— 'शरीरे भवः शरीरः' अर्थात् शरीर में रहने वाला जीवात्मा ही शरीर कहा जाता है। 'शारीरक' शब्द में 'शरीर' शब्द से 'क' प्रत्यय लगाया गया है जिसका अर्थ है— शरीर में रहने वाला जीवात्मा ही शरीर, शारीरक नाम से पुकारा जाता है। इसी शरीर या जीवात्मा का प्रतिपादन करने के लिए जिन वैय्यासक सूत्रों की रचना हुई, उन्हें 'शरीरक सूत्र' कहा जाता है। अतः वेदान्त दर्शन में वेदान्त सूत्र, ब्रह्मसूत्र एवं शरीरक सूत्र सब समानार्थक है।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि उपनिषद् आदि शास्त्र ऋषियों के प्रत्यक्ष आध्यात्मिक अनुभूतियों के संग्रह हैं। यही कारण है कि शंकर कहते हैं कि 'प्रत्यक्षं श्रुतिः'। इन्हीं शास्त्रीय वचनों को समझने के लिए शंका-समाधान के द्वारा तत्त्वार्थ निरूपण करने के लिए तर्क की आवश्यकता पड़ती है। वेदान्ती श्रुति के आधार पर ईश्वर को मानकर चलते हैं और श्रुति के वचनों की उत्पत्ति एवं संगति के लिए तर्क का अवलम्बन करते हैं। उपनिषदों के द्वारा वे यह ज्ञान प्राप्त करते हैं कि ईश्वर, अनन्त, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सृष्टि, स्थिति और लय का कारण है। वेदान्त के जितने भी सम्प्रदाय हैं अपने-अपने ढंग से वादरायण के मुख्य प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म को समझने की चेष्टा है। प्रस्थानत्रयी की ही या उनमें से किसी एक की विभिन्न भाष्यकारों में अपने-अपने ढंग से विशद् व्याख्या की है और वेदान्त दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों का विकास हुआ। वेदान्त के अब तक जो विभिन्न सम्प्रदाय विकसित हुए हैं, उनमें शंकराचार्य का अद्वैत वेदान्त सर्वाधिक प्रसिद्ध और लोकप्रिय हुआ है। वेदान्त से साधारण लोग प्रायः यही समझते हैं कि यह शंकराचार्य का अद्वैत वेदान्त है। शंकर के अद्वैत वेदान्त के पश्चात् रामानुज का विशिष्टाद्वैत सर्वाधिक लोकप्रिय विचारधारा के रूप में प्रचलित हुआ। शंकराचार्य एवं रामानुजाचार्य दोनों ही वेदान्तियों का यह मानना है कि मनुष्य के ज्ञान और मुक्ति

अद्वैतवेदान्त का अर्थ, उद्भव एवं विकास

के लिए ही वेदान्त दर्शन की उत्पत्ति हुई है। परन्तु यह प्रश्न बड़ा ही सम्यक् प्रश्न है कि मनुष्य का यथार्थ स्वरूप क्या है? उपनिषदों का कहना है कि ब्रह्म से भिन्न मनुष्य की कोई सत्ता नहीं है। शंकर एवं रामानुज दोनों ही उपनिषद् का पूर्वोक्त मान्यता को स्वीकार करते हैं।

अतएव यह कहा जा सकता है कि अद्वैत वेदान्त की उत्पत्ति में वेदों की प्रमुख भूमिका तो रहीं ही है, इसके साथ-साथ अद्वैत वेदान्त ने अपने सिद्धान्तों एवं विचारधाराओं के सुव्यवस्थित विकास के लिए प्रस्थानत्रयी को ही मूल आधार बनाया है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि ब्रह्मसूत्र पर शंकराचार्य का 'शारीरकभाष्य' विद्वानों द्वारा सर्वाधिक समादृत है। शंकराचार्य ने केवल ब्रह्मसूत्र पर ही नहीं, वरन् उपनिषदों एवं श्रीमद्भगवद्गीता पर भी भाष्य लिखा है। उन्होंने सर्वत्र अपने भाष्यों में तत्त्व की अद्वैतवादी व्याख्या प्रस्तुत की है।

प्रश्नावली

लघु उत्तरीय प्रश्न—

1. वेद का संहिता भाग क्या है?
2. आत्मा एवं ब्रह्म के सम्बन्ध की व्याख्या करें?
3. ब्रह्म एवं जगत् सम्बन्ध की चर्चा करें?
4. 'भिन्नता का कारण नाम रूप है' स्पष्ट करें?
5. वादरायण के ब्रह्म सूत्र का महत्त्व बताइये?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न—

1. ब्रह्म सूत्र, वेदान्त सूत्र एवं शारीरिक सूत्र समानार्थक है स्पष्ट करें?
2. ब्रह्म की सत्, चित्, आनंद की व्याख्या करें?

इकाई—3

अद्वैत वेदान्त का क्रमिक विकास

संरचना

- 3.0. उद्देश्य
- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2. वादरायण का ब्रह्मसूत्र
- 3.3 ब्रह्मसूत्र के चार अध्यायों का प्रतिपाद्य विषय
- 3.4 वादरायण के अनुसार वेद नित्य हैं
- 3.5 वादरायण के अनुसार ब्रह्म और जीवात्मा
- 3.6 वादरायण के अनुसार जगत् का विचार
- 3.7 अद्वैत वेदान्त के विकास में गौडपाद का योगदान
- 3.8 गौडपाद के अनुसार जागरित एवं स्वप्न की अवस्थाएँ दोनों ही निरपेक्ष भाव से यथार्थ अथवा अयथार्थ हैं
- 3.9 गौडपाद के अनुसार कारण—कार्य भाव असंभव है
- 3.10 गौडपाद के द्वारा संसार के मिथ्यात्व का प्रतिपादन
- 3.11 गौडपाद के अनुसार ब्रह्म एवं जगत् के बीच सम्बन्ध
- 3.12 गौडपाद द्वारा माया शब्द का विविध अर्थों में प्रयोग
- 3.13 गौडपाद के अनुसार जीवों की अनेकता प्रतीतिमात्र है
- 3.14 गौडपाद के अनुसार मोक्ष
- 3.15 गौडपाद के अनुसार अविद्या बन्धनों का मूल कारण है
- 3.16 भर्तृहरि का अद्वैत वेदान्त के विकास में योगदान
- 3.17 भर्तृप्रपञ्च का द्वैताद्वैत
- 3.18 अद्वैत वेदान्त के विकास आचार्य शंकर की भूमिका

3.0. उद्देश्य

- (i) अद्वैत वेदान्त में क्रमिक विकास में अद्वैत वेदान्त के आरम्भिक अवस्था से व्यवस्थित दर्शन के रूप में अद्वैत वेदान्त के क्रमिक विकास को प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाएगा।

- (ii) अद्वैत वेदान्त के क्रमिक विकास में वादरायण के ब्रह्मसूत्र, गौडपाद के 'माण्डूक्य-कारिका', भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय', भर्तृप्रपंच के 'द्वैतद्वैत' तथा शंकराचार्य के प्रस्थानत्रयी पर किये गये भाष्य के फलस्वरूप विकसित अद्वैत वेदान्त के वैचारिक दृष्टि से एक सर्वश्रेष्ठ दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित होने तक इतिहास प्रस्तुत किया जाएगा।
- (iii) अद्वैत वेदान्त अपने विकास क्रम में शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त करता है। यही कारण है कि अद्वैत-वेदान्त की चर्चा होते ही शंकराचार्य का अद्वैत-वेदान्त न केवल भारतीय विचारकों के, अपितु पाश्चात्य दार्शनिकों के समक्ष एक जीवन्त दर्शन के रूप में उपस्थित हो जाता है।

3.1 प्रस्तावना

अद्वैत वेदान्त का मूल आधार उपनिषद्, वादरायण का 'ब्रह्मसूत्र' एवं श्रीमद्भगवद्गीता है। प्रायः सभी अद्वैत वेदान्तियों ने इन ग्रन्थों के आधार पर अपने विचारधारा का संवर्धन, पोषण एवं समर्थन किया है। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र एवं श्रीमद्भगवद्गीता को प्रस्थानत्रयी का जाता है, क्योंकि ये तीनों ही वेदान्त के सर्वमान्य ग्रन्थ हैं। प्रस्थानत्रयी में भी उपनिषद् मूल प्रस्थान है, अन्य दो प्रस्थान उपनिषद् पर ही आधारित माने जाते हैं। वेदान्त के वे सभी आचार्य जिन्होंने प्रस्थानत्रयी या इनमें से किसी एक ग्रन्थ पर भाष्य लिखकर अपने-अपने वेदान्त सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की है, उन सभी में शंकराचार्य का विशेष स्थान है और वे सर्वाधिक आदरणीय हैं। यद्यपि वादरायण ने अपने ग्रन्थ 'ब्रह्मसूत्र' की रचना करके उपनिषदों में सन्निहित विचारों को सूत्रात्मक रूप में प्रस्तुत कर अद्वैत वेदान्त की स्थापना किया, किन्तु वादरायण के ब्रह्मसूत्र में ही जैमिनि, बादरि, औडुलामि, काशकृत्स्न, आत्रेय, कार्ष्णाजिनि, और आश्वरथ्य के नाम तथा मत उद्धृत हैं। इससे सिद्ध होता है, कि इन लोगों के भी रचित ब्रह्मसूत्र थे, जो अब अनुपलब्ध हैं। ब्रह्मसूत्र के पूर्व भी उपनिषद् के दर्शन का गम्भीर अनुशीलन उपनिषद् के भाष्यकारों द्वारा किया गया था, किन्तु संयोगवश उनके भाष्य और टीकाएँ अब उपलब्ध नहीं हैं। प्राचीनतम् उपनिषदों पर जो प्राचीनतम भाष्य उपलब्ध हैं वे शंकराचार्य के ही हैं और शंकराचार्य वादरायण के बाद हुए हैं। परन्तु शंकराचार्य के भाष्यों में सुन्दर पाण्ड्य, भर्तृप्रपंच एवं द्राविडाचार्य के अद्वैत वेदान्त सम्बन्धित मत का संकेत अवश्य मिलता है। अतएव इस बात में कोई संशय नहीं है कि शंकराचार्य के पूर्व उपनिषद् भाष्यकार थे। शंकर के पूर्व उपनिषद् भाष्यकारों में गौडपादाचार्य का नाम अग्रगण्य है। गौडपादाचार्य का ग्रन्थ आगमशास्त्र या माण्डूक्यकारिका है जिस पर शंकराचार्य का भी भाष्य है, माण्डूक्य उपनिषद् पर एक स्वतंत्र ग्रन्थ है। इस प्रकार उपनिषद् पर भाष्य लिखकर तथा उपनिषद् के सार को सूत्रवत् पृथक् ग्रन्थ में अभिव्यक्त कर वेदान्त दर्शन का प्रारम्भ किया गया। वादरायण के ब्रह्मसूत्र के पश्चात् जिन विभिन्न भाष्यकारों ने उपनिषदों पर भाष्य लिखकर अद्वैत वेदान्त के विकास के उर्वर भूमि तैयार किया, उन विचारकों में उपवर्ष, सुन्दर पाण्ड्य, भर्तृहरि, भर्तृप्रपंच, गौडपादाचार्य, द्राविडाचार्य आदि प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। शंकराचार्य ने इन्हीं विभिन्न विचारकों के द्वारा तैयार किये भूमि पर ही अद्वैत वेदान्त को उसकी पराकाष्ठा तक पहुँचाया।

3.2. वादरायण का ब्रह्मसूत्र

अद्वैत वेदान्त भारत में प्रचलित विभिन्न दर्शन प्रणालियों में सर्वाधिक जीवित दर्शन है। अद्वैत वेदान्त के प्रवर्तन का प्रमुख श्रेय वादरायण को दिया जाता है, जिन्होंने उपनिषदों में सन्निहित विचारों का संकलन अपने ग्रन्थ वेदान्तसूत्र में किया। वादरायण के वेदान्तसूत्र का ही दूसरा नाम 'ब्रह्मसूत्र' भी है, क्योंकि यह ब्रह्म सम्बन्धी सिद्धान्त की व्याख्या है। वेदान्तसूत्र को 'शारीरक सूत्र' भी इसलिए कहा जाता है, क्योंकि यह निरपेक्ष आत्मा के अभिव्यक्ति के विषय में प्रतिपादन करता है। वादरायण का 'ब्रह्मसूत्र' उपनिषदों के ब्रह्म-विषयक विचारों की प्रतिष्ठा करता है। 'ब्रह्मसूत्र' के अन्तर्गत वेद एवं उपनिषद् में प्रतिपाद्य विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों; जैसे ब्रह्म, आत्मा, ब्रह्म एवं आत्मा के बीच सम्बन्ध जगत्, मोक्ष इत्यादि पर व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध चिन्तन एवं अनुसंधान किया गया है। वास्तविकता यह है कि उपनिषदें केवल सत्य के प्रति किये गये विविध दृष्टिकोणों से किये गये विचार पद्धतियों की एक श्रृंखला है, किन्तु महत्वपूर्ण प्रश्नों पर अन्तिम रूप से विचार करने के प्रति प्रयास नहीं हैं। वास्तविकता यह है कि वादरायण का 'ब्रह्मसूत्र' उन दुर्लभ ग्रन्थों में से एक ग्रन्थ है, जिसमें से प्रत्येक विचारकों को अपना अभिलषित मत और सम्प्रदाय अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार स्थापित करने का सुअवसर प्रदान करता है। वादरायण के 'ब्रह्मसूत्र' के समय में भी विभिन्न विचारकों के उपनिषदों की व्याख्याओं में परस्पर 'मुक्तात्मा' के लक्षण सम्बन्धी तथा जीवात्मा के ब्रह्म के साथ सम्बन्धविषयक प्रमुख-विषयों पर मतभेद विद्यमान थे। आश्मरथ्य की सम्मति है कि जीवात्मा का ब्रह्म के साथ भेदाभेद सम्बन्ध है अर्थात् जीवात्मा ब्रह्म से न तो नितान्त भिन्न है और न ही नितान्त अभिन्न है। औडुलोमि का मत है कि मोक्ष से पूर्व जीवात्मा ब्रह्म से सर्वथा पृथक् तथा भिन्न रहता है। जीवात्मा मोक्ष की अवस्था में ब्रह्म के अन्दर सर्वथा लीन हो जाता है। काशकृत्स्न का विचार है कि जीवात्मा तथा ब्रह्म का मोक्ष की अवस्था में परस्पर तादात्म्य सम्बन्ध है और ब्रह्म ही किसी न किसी रूप में अपने को जीवात्मा के रूप में प्रकट करता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि उपनिषदों पर विभिन्न विचारकों द्वारा की गयी व्याख्या पर्याप्त विवाद का विषय रही है और इस विभिन्न व्याख्याओं के बीच वादरायण का अद्वैत वेदान्त विषयक विचार एक प्रमुख विचार-सम्प्रदाय का निष्कर्ष है।

3.3 ब्रह्मसूत्र के चार अध्यायों का प्रतिपाद्य विषय

वादरायण ने अपने ब्रह्मसूत्र ग्रन्थ की रचना के द्वारा अद्वैत वेदान्त के जिस मत को प्रतिपादित किया है, उसमें सांख्य दर्शन, वैशेषिक दर्शन के साथ-साथ बौद्ध मत के अनेक सम्प्रदायों, लोकायत और भागवत के सिद्धान्तों पर पाये जाने वाले विवादों का परिहार किया गया है। वादरायण के ब्रह्मसूत्र पर भगवद्गीता तथा भागवत के आस्तिक सम्प्रदाय का भी पर्याप्त प्रभाव दिखायी पड़ता है। वादरायण का 'ब्रह्मसूत्र' चार अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में ब्रह्म का आधारभूत सत्ता के रूप में प्रतिपादन किया गया है। इसके अन्तर्गत प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म के ऊपर जो भिन्न-भिन्न वैदिक मत है उनका समन्वय करना इसका प्रमुख प्रयोजन है। धर्म के सम्बन्ध में कोई व्याख्या हो तथा ईश्वर आत्मा या जगत् के विषय में कोई भी समाधान हो, इन सबके लिए ऐसे व्यक्तियों के धार्मिक अनुभवों का विचार करना आवश्यक होता है, जो स्पष्ट रूप से यह घोषणा करत हैं कि उन्होंने नित्य सत्ता के दर्शन किये हैं। इस समन्वय में यह भी देखने के प्रयास किया जाता है कि किसी भी दार्शनिक सिद्धान्त को सन्तोषप्रद तथा युक्तिसंगत बनने के लिए भूतकाल

अद्वैतवेदान्त का अर्थ, उद्भव एवं विकास

के ऋषियों लिपिबद्ध अनुभवों में समन्वय की स्थापना के लिए क्या अपरिहार्य है? वादरायण के 'ब्रह्मसूत्र' के प्रथम अध्याय में हमें ब्रह्म के स्वरूप एवं इस दृश्यमान जगत् तथा जीवात्मा के साथ उसके सम्बन्ध का वर्णन मिलता है। दूसरे अध्याय को 'अविरोध' अध्याय के नाम से जाना जाता है। इस अध्याय में अद्वैत वेदान्त के विरुद्ध जो अपत्तियाँ उठायी गयी हैं उसका समाधान किया गया है और विराधी विद्वान्तों की समालोचना की गयी है। इस अध्याय के अन्तर्गत इस विषय पर विचार किया गया है कि ईश्वर के ऊपर जगत् किस रूप में निर्भर है इसका दिग्दर्शन कराया गया है तथा उस विचार के भीतर से क्रमिक विकास तथा उसी के अन्दर पुनर्विलय का भी वर्णन दिया गया है। इस अध्याय के अन्त भाग में आत्मा के स्वरूप, उसके गुण, ईश्वर, शरीर तथा अपने कर्मों के साथ सम्बन्ध के विषय में रोचक मनोवैज्ञानिक विवेचन दिया गया है। तीसरे अध्याय में ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के साधनों तथा उपायों पर विचार किया गया है। इसमें हमें पुनर्जन्म और साधारण मनोवैज्ञानिक तथा ईश्वर ज्ञान सम्बन्धी विषयों पर भी विवेचन मिलता है, जिसके साथ श्रुतिभाष्य सम्बन्धित अनेक टिप्पणियाँ भी हैं। चौथे और अन्तिम अध्याय में 'ब्रह्मविद्या' से प्राप्त प्रतिफल का वर्णन है। इस अध्याय में कुछ विशेष तथ्यों के निरूपण के साथ मृत्यु के पश्चात् आत्मा के निष्क्रमण तथा देवयान एवं पितृयान, दोनों मार्गों द्वारा आत्मा के गमन तथा उस मुक्ति के स्वरूप का भी वर्णन है, जहाँ से लौटकर फिर संसार चक्र में आगमन नहीं होता है। प्रत्येक अध्याय में चार पाद (भाग) हैं और प्रत्येक पाद में जो सूत्र हैं, वे किसी न किसी वर्ग के अन्तर्गत आ जाते हैं, जिन्हें अधिकरण की संज्ञा दी गयी है।

3.4 वादरायण के अनुसार वेद नित्य हैं

वादरायण वेद को नित्य मानते हैं और शास्त्रप्रमाण ही उनकी दृष्टि में बहुत महत्वपूर्ण हैं। वह स्पष्ट रूप से घोषणा करते हैं कि तर्क अथवा विचार के द्वारा अध्यात्मज्ञान सम्बन्धी सत्य की प्राप्ति संभव नहीं है। वादरायण यह भी स्वीकार करते हैं कि ज्ञान के दो स्रोत हैं (साधन) हैं अर्थात् श्रुति और स्मृति और वह इन्हें प्रत्यक्ष तथा अनुमान की संज्ञा से अभिहित करते हैं। ऐसा वे इसलिए मानते हैं; जैसा कि शंकर कहते हैं कि स्मृति को ज्ञान के आधार (प्रामाण्य) की आवश्यकता होती है, जबकि श्रुति को प्रामाण्य की आवश्यकता नहीं होती है, क्योंकि वह स्वतः प्रमाण है। ईश्वरीय ज्ञानस्वरूप श्रुति को जो स्वतः प्रकाशित है, प्रत्यक्ष माना गया है। अतएव श्रुति साक्षात् ज्ञान है। श्रुति से वादरायण का तात्पर्य उपनिषदों से और स्मृति से उनका तात्पर्य श्रीमद्भगवद्गीता, महाभारत तथा मनुस्मृति से है। जिस प्रकार सांसारिक ज्ञान में अनुमान का आधार प्रत्यक्ष ज्ञान है, उसी प्रकार स्मृति का आधार श्रुति है।

वादरायण का यह स्पष्ट अभिमत है कि ऐसा एक भी तर्क जो वेद के अनुकूल नहीं है, वे सभी निरर्थक हैं। उनका यह कहना है कि ब्रह्म के विषय में हम यह नहीं कह सकते कि यह अन्य गुणों से शून्य है, तथा अमुक-अमुक लक्षणों से युक्त है। यही कारण है कि वे यह मानते हैं कि तर्क अन्तर्दृष्टि सम्बन्धी ज्ञान के अधीन है और यह अन्तर्दृष्टि भक्ति या समाधि के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है।

वादरायण के 'ब्रह्मसूत्र' के अनुसार सांख्य में वर्णित पुरुष और प्रकृति स्वतंत्र पदार्थ न होकर एक ही यथार्थ सत्ता के परिवर्तित रूप हैं। वेदान्तसूत्र में ब्रह्म को ही जगत् का उद्भव स्थान, आधार तथा अन्त माना गया है। ब्रह्म ही जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण है। वादरायण के अनुसार समस्त पदार्थों का परम

अधिष्ठान एकमात्र सर्वोपरि सत्ता ब्रह्म या आत्मा है और वही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का एकमात्र स्रोत तथा एकमात्र यथार्थ पूजा और श्रद्धा का विषय है। वादरायण का यह मानना है कि कारण और कार्य रूप ब्रह्म एक ही है, क्योंकि कारण और कार्य में तादात्म्य सम्बन्ध है केवल कारण एवं कार्य के गुण परस्पर भिन्न प्रतीत होते हैं। उनका यह कहना है कि ब्रह्म और जगत् परस्पर भिन्न नहीं है, वैसे ही जैसे कि मिट्टी का पात्र मिट्टी से भिन्न नहीं है। वास्तविकता यह है कि वादरायण के अनुसार 'ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है' का तात्पर्य है – जगत् ब्रह्म के सारतत्व का ही परिणमित रूप है। जगत् कोई भ्रन्ति या स्वप्न के समान आकृति नहीं है, अपितु एक यथार्थ एवं भावात्मक आधारभूत पदार्थ है, जिसकी उत्पत्ति, स्थिति तथा विलय ब्रह्म में होता है। वादरायण का मत है कि सृष्टि रचना की शक्ति निर्मल तथा निर्दोष ब्रह्म की अपनी उसी प्रकार की शक्ति है, जिस प्रकार की दाहकता अग्नि की शक्ति है। ब्रह्म अपनी लीला के लिए अपने को जगत् के रूप में विकसित करता है, किन्तु इससे उसके अन्दर न तो किञ्चित्मात्र परिवर्तन होता है और न ही उसका ह्यस होता है।

3.5 वादरायण के अनुसार ब्रह्म और जीवात्मा

वादरायण का यह मानना है कि ब्रह्म जीवात्मा के अन्दर है, यद्यपि ब्रह्म के स्वरूप पर जीवात्मा के स्वरूप का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। वादरायण का कहना है कि जीव और ब्रह्म उसी प्रकार परस्पर भिन्न है जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश और सूर्य परस्पर भिन्न है तथा जिस प्रकार प्रकाश को बादल ढक लेते हैं, किन्तु सूर्य पर उसका प्रभाव नहीं पड़ता, इसी प्रकार जब जीव दुःख भोगता है, तो ब्रह्म दुःख का भागी नहीं होता। वादरायण का यह मानना है कि श्रुतवाक्य 'तत् त्वमसि' तथा 'अयमात्मा ब्रह्म' से आत्मा एवं ब्रह्म के अभिन्नता का ही बोध होता है। परन्तु वादरायण यह स्पष्ट रूप से कथन नहीं करते हैं आत्मा एवं ब्रह्म के बीच का सम्बन्ध अंश और अंशी का सम्बन्ध है या जीवात्मा ब्रह्म का आभासमात्र है।

3.6 वादरायण के अनुसार जगत् का विचार

यह जगत् ईश्वर के संकल्प का परिणाम है। यह उसी की लीला अथवा खेल है। आचार्य वादरायण का यह मानना है कि परब्रह्म अव्यक्त है अर्थात् उसकी कोई अभिव्यक्ति नहीं है, यद्यपि 'पूजा' में उसका साक्षात्कार होता है। ईश्वर का साक्षात्कार ही सर्वोच्च कोटि का धर्म है। ऐसे व्यक्ति जो इस प्रकार की अध्यात्मिक दृष्टि को विकसित नहीं कर सकते, शास्त्रों पर विश्वास रखते हैं। मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य आत्मा को प्राप्त करना है। वादरायण कहते हैं कि हम यह नहीं कह सकते कि आत्मा के साथ ब्रह्म का मिलन तादात्म्य स्वरूप है, अथवा संयोग तथा साहचर्य का है। वादरायण जीवन्मुक्ति में विश्वास करता है। मोक्ष ब्रह्मज्ञान की अवस्था है। इसलिए वादरायण का यह कहना है कि ब्रह्मज्ञान हो जाने पर भी उन कर्मों का, जिन्होंने फल देना अभी आरम्भ नहीं किया है विनाश नहीं हो जाता है। यद्यपि शरीर तब तक विद्यमान रहता है, जब तक कि वह कर्म जो फल देना आरम्भ कर चुके है, पूर्णतया शेष रहते हैं।

वादरायण अपने ब्रह्म सूत्र के चौथे अध्याय में यह वर्णन करते हैं कि किस प्रकार जीवात्मा देवयान मार्ग से ब्रह्म को प्राप्त करती है, जहाँ से फिर संसार-चक्र में लौटना संभव नहीं रह जाता। वादरायण के अनुसार मोक्षावस्था में मुक्तात्मा अनन्त ज्ञान तथा शक्ति प्राप्त कर लेती है। वास्तविकता तो यह है कि वादरायण

अद्वैतवेदान्त का अर्थ, उद्भव एवं विकास

संसार के अद्वैतवाद विषयक विचार का समर्थन करते हैं। वादरायण का कहना है कि ब्रह्म विश्व के रूप में परिष्कृत हो जाता है और इन्द्रियातीत रहता है। वादरायण का कहना है कि यद्यपि ब्रह्म जीवात्मा के अन्दर है तो भी जीव के दोषों के कारण ब्रह्म के अन्दर कोई विकार नहीं होता है, क्योंकि दोनों के स्वभाव में परस्पर भेद जो है। इसका कारण यह है कि वादरायण ब्रह्म और जीवात्मा के बीच तादात्म्य तथा भेदाभाव दोनों प्रकार के सम्बन्ध को मानते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि वादरायण के 'ब्रह्मसूत्र' में उपनिषदों की ही शिक्षा का प्रतिपादन करने का प्रयास किया गया है और इसीलिए इसके अन्दर अनेक प्रकार के सन्देह तथा वाद-विवाद के अंकुरों का समावेश है।

3.7 अद्वैत वेदान्त के विकास में गौडपाद का योगदान

अद्वैत वेदान्त पर क्रमबद्ध भाष्य लिखने वालों में गौडपाद सबसे प्रथम है। वह शंकराचार्य के गुरु गोविन्द के नाम से प्रसिद्ध हैं और या तो आठवीं शती के प्रारम्भ में या सातवीं शती के अन्त में उनका काल वेदान्त के इतिहास में स्वीकार किया जाता है। गौडपाद के सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि उन्होंने 'उत्तरगीता' पर भी भाष्य लिखा था। गौडपाद का 'माण्डूक्यकारिका' प्रमुख ग्रन्थ है, जिसमें उन्होंने अद्वैत वेदान्त के प्रमुख सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, जैसे कि यथार्थ सत्ता का अनुक्रम, ब्रह्म एवं आत्मा का एकत्व, माया, परम निरपेक्ष सत्ता, पर कारण-कार्यभाव का न लागू होना, ज्ञान अथवा विद्या का मोक्ष का प्रत्यक्ष साधन होना तथा निरपेक्ष शून्य का अचिन्त्य होना। गौडपाद की 'माण्डूक्यकारिका' चार अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय, जिसे 'आगम' कहा जाता है, माण्डूक्योपनिषद् के प्रतिपाद्य विषय की व्याख्या की गयी है। इस अध्याय में गौडपाद यह दिखाने का प्रयत्न किये हैं कि यथार्थ सत्ता के विषय में उनका जो मत है, उसे श्रुति की मान्यता प्राप्त है और तर्क उसका समर्थन करता है। दूसरे अध्याय में, जिसका नाम 'वैतथ्य' है, युक्तियों के द्वारा संसार के प्रतीयमान स्वरूप की व्याख्या की गयी है, क्योंकि इसकी विशिष्टता द्वैतभाव और परस्पर विरोध से लक्षित होती है। तीसरे अध्याय में अद्वैत सिद्धान्त को सिद्ध किया गया है। अन्तिम भाग तथा चौथे अध्याय में, जिसका नाम अलातशान्ति है और जिसका अर्थ है-ज्वाला को बुझाना। इसके अन्तर्गत आत्मा के एकमात्र यथार्थ अस्तित्व के तथा उससे सम्बद्ध हमारे साधारण अनुभव के स्वरूप के विषय में अद्वैत सिद्धान्त की जो स्थिति है, उसका और अधिक परिष्कार किया गया है। गौडपाद का यह कहना है कि जिस प्रकार एक सिरे पर जलती हुई लकड़ी जब चारों ओर घुमायी जाती है, तो बड़ी शीघ्रता से एक प्रकार का भ्रम उत्पन्न करती है कि यह अग्निचक्र (अलातचक्र) है, यही हाल संसार के अनेकत्व का है। यह योगाचार (बौद्ध दर्शन) मत का भी उल्लेख करती है और बुद्ध का उल्लेख इसमें कम से कम आधी दर्जन बार आया है। वस्तुतः गौडपाद का आविर्भाव ऐसे समय हुआ जबकि बौद्ध धर्म बहुत अधिक लोकप्रिय था। गौडपाद बौद्ध धर्म से सम्यक् रूप से अभिज्ञ थे और जहाँ पर वे उसके अपने अद्वैतवाद के सिद्धान्तों के विरोध में नहीं जाते थे, वहाँ पर उन्हें गौडपाद ने स्वीकार भी किया था। बौद्ध धर्मियों से उसने यह कहा कि उसके मत का आधार कोई धर्मशास्त्रीय मूलग्रन्थ या दैवी वाणी नहीं है। सनातनी हिन्दू को उन्होंने यह कहा कि इसको श्रुति प्रमाण की मान्यता प्राप्त है। अपने उदार विचारों के कारण उसे बौद्ध धर्म से सम्बद्ध सिद्धान्तों को स्वीकार करके उन्हें अद्वैत की शैली पर अपने अनुकूल बना लेने की सुविधा उन्हें प्राप्त हो गयी।

3.8 गौडपाद के अनुसार जागरित एवं स्वप्न की अवस्थाएँ दोनों ही निरपेक्ष भाव से यथार्थ अथवा अयथार्थ हैं

गौडपाद का मानना है कि जागरित तथा स्वप्न अवस्थाएँ दोनों ही अपने-अपने स्थानों पर यथार्थ हैं अथवा निरपेक्ष भाव से दोनों ही एक समान अयथार्थ हैं। गौडपाद का मत है कि जागरितावस्था के अनुभूत यथार्थ हम सब के लिए एक समान हैं, जबकि स्वप्नावस्था में जाने गये पदार्थ केवल स्वप्नद्रष्टा की निजी सम्पत्ति है। फिर भी उनका कहना है कि क्या स्वप्न में क्या, जागरित अवस्था में जो पदार्थ ज्ञान में आते हैं वे सब अयथार्थ हैं। उनका तर्क है कि पदार्थ के रूप में जो कुछ भी प्रस्तुत होता है, वह सब अयथार्थ है। यह तर्क कि सब पदार्थ अयथार्थ हैं और केवल मात्र प्रमाता (ज्ञाता) जो निरन्तर साक्षी के रूप आत्मा के रूप में है, वही यथार्थ है। यह तर्क कि सब पदार्थ अयथार्थ हैं, कुछ उपनिषदों में उपस्थित किया गया है और इसे बौद्ध विचारधारा में निषेधात्मक परिणाम के साथ विकसित किया गया है। इसी तर्क का प्रयोग आगे चलकर गौडपाद ने यह सिद्ध करने के लिए किया है कि यह जीवन जागरित अवस्था का स्वप्न है। हम जागरित अवस्था के संसार को बाह्य मान लेते हैं, इसलिए नहीं कि हमें दूसरे लोगों के मानसिक अवस्थाओं का ज्ञान होता है, किन्तु इसलिए कि हम उनकी 'साक्षी' को मान लेते हैं। गौडपाद का यह स्पष्ट रूप से कहना है कि आत्माएँ और संसार दोनों ही अपने आप में कुछ नहीं हैं, और केवल आत्मा ही सत् है।

3.9 गौडपाद के अनुसार कारण-कार्य भाव असंभव है

गौडपाद संसार में कार्य-कारण के सम्बन्ध को परस्पर सापेक्ष मानते हैं। उनका यह मानना है कि हम किसी वस्तु को कार्य नहीं कह सकते, यदि हम उसके कारण को नहीं जानते। बाह्य आवरण के स्वरूप में कारण-कार्य सम्बन्धी व्याख्या पूर्ण नहीं हो सकती। गौडपाद के अनुसार कारण कार्य का स्वरूप यथार्थ सत्ता के स्वरूप सा नहीं है। गौडपाद कहते हैं कि न तो असत् का और न सत् का ही कारण कभी असत् हो सकता है और न ही सत् का कारण सत् हो सकता है— और सत् कैसे असत् का कारण हो सकता है? कारणकार्यभाव की समस्याओं के कारण गौडपाद यह कहने के लिए विवश हुए कि— कोई भी वस्तु न तो अपने से और न ही अन्य के द्वारा उत्पन्न हो सकती है। वस्तुतः कोई भी वस्तु उत्पन्न होती ही नहीं है, चाहे वह सत् हो चाहे असत् हो अथवा दोनों में से एक हो। कारण-कार्यभाव असंभव है। हम न तो यही कह सकते हैं कि ईश्वर संसार का कारण है और न यह कि जागरित अवस्था का अनुभूत ज्ञान स्वप्नावस्था का कारण है। उनके अनुसार नानारूपात्मक सांसारिक वस्तुएँ, जिसके अन्तर्गत सांसारिक पदार्थ एवं जीवात्माएँ आदि सम्मिलित अयथार्थ हैं। वे तभी तक यथार्थ प्रतीत होती हैं, जब तक हम कारण-कार्य सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। गौडपाद के अनुसार प्रत्येक पदार्थ संवृति (सापेक्ष सत्य) की शक्ति से उत्पन्न होता है और इसलिए कुछ भी नित्य नहीं है। पुनश्च प्रत्येक पदार्थ उत्पत्तिरहित होता है, क्योंकि वह सत् से पृथक् नहीं हो सकता और इसलिए विनाश नाम की कोई वस्तु नहीं है। उत्पत्ति और विनाश केवल प्रतीतिमात्र है और यथार्थ में न तो कुछ उत्पन्न होता है और न विनष्ट ही होता है। यथार्थ सत्ता तक पहुँचने के लिए हमें कारण-कार्यभाव तथा अन्य सम्बन्धों को अस्वीकार करना होगा, क्योंकि यथार्थ सत्ता प्रतीति रूप जगत् से अतीन्द्रिय है।

यद्यपि गौडपाद एवं शंकर दोनों ही यह मानते हैं कि भौतिक जगत्—असत् है और केवल ज्ञाता या आत्मा की ही यथार्थ सत्ता है। गौडपाद एवं शंकर दोनों ही इस बात से सहमत हैं कि जागरित लोक एवं स्वप्न लोक की वस्तुएँ केवल आत्मा या ज्ञाता के सत्यता को सिद्ध करती हैं, तो भी शंकर स्वप्न लोक एवं जागरित लोक में भेद करते हैं। जहाँ शंकर इस बात पर बल देते हैं कि दोनों जगत् मानसिक एवं भौतिक एक ही प्रकार तथा एक ही व्यवस्था के नहीं हैं, यद्यपि तात्विक रूप से दोनों ही आत्मा या ब्रह्म हैं। गौडपाद का यह मानना है कि सम्पूर्ण यथार्थ सत्ता मानसिक शक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और वह यह भी घोषणा करता है कि इस मानसिक शक्ति के कोई वस्तुगत कारण नहीं हैं। उनका यह कहना है कि वस्तुओं के स्वभाव के आधार पर निर्धारित युक्तियाँ संकेत करती हैं कि कारण का कारण नहीं होता। चित्त (विचार) अपने को पदार्थों के साथ सम्बद्ध नहीं करता और न ही वह पदार्थों को अपने अन्दर प्रतिबिम्बित होने देता है, क्योंकि पदार्थ अयथार्थ हैं और उनका प्रतिबिम्ब चित्त से भिन्न नहीं है।

3.10 गौडपाद के द्वारा संसार के मिथ्यात्व का प्रतिपादन

प्रायः दृश्य जगत् के विषय में यह प्रश्न उठाया जाता है कि यदि सम्पूर्ण ज्ञान केवल प्रतीतिमात्र है तो फिर यथार्थ एवं मिथ्याज्ञान में अन्तर ही क्या रहा? निरपेक्ष परम सत्ता की दृष्टि में कुछ भी अन्तर नहीं है। रस्सी का रस्सी के रूप में ज्ञान फिर उतना ही निराधार है जितना कि रस्सी को साँप के रूप में जानने का ज्ञान है। गौडपाद का यह मानना है, कि जागरित, स्वप्न एवं सुषुप्ति, ये तीनों ही अवस्थाएँ उस समय अपने सापेक्ष रूप को प्रकट करती हैं, जब मनुष्य अपनी भ्रान्ति रूप निद्रा से जाग जाता है जिसका कोई आदि नहीं है और वह उस अजन्मा, सदाजागरित, स्वप्नरहित को पहचान जाता है, जिसके समान दूसरा कोई नहीं है।

संसार के मिथ्यात्व को दिखाने के लिए गौडपाद एक अन्य तर्क यह देते हैं कि प्रत्येक वस्तु प्रारम्भ में असत् थी और अन्त में भी असत् रूप में परिणत हो जाएँगी। प्रारम्भ और अन्त में असत् होने वाली वस्तु अपने मध्यकाल में भी असत् होगी। दूसरे शब्दों में सभी वस्तुएँ जिनका आदि और अन्त है, असत् या मिथ्या है। जागरितावस्था में अनुभूत पदार्थ स्वप्नावस्था में असत् हो जाते हैं और स्वप्नावस्था के पदार्थ जागरितावस्था में असत् हो जाते हैं। इस प्रकार गौडपाद अनुभूत जगत् के अयथार्थ स्वरूप को सिद्ध करता है अर्थात् (1) इसकी स्वप्नावस्था के साथ समानता के कारण, (2) इसके प्रस्तुत होने वाले अर्थात् पदार्थ निष्ठ स्वरूप के कारण, (3) इसके उन सम्बन्धों के दुर्बाध होने के कारण जो इसका संगठन करते हैं और (4) इसके सब कालों में स्थिर न रहने के कारण।

गौडपाद ये स्वीकार करते हुए कि सापेक्षता एक सर्वग्राही शक्ति है, जो अनुभूत ज्ञान के क्षेत्र में नियामक है, वह एक ऐसी वस्तु की यथार्थता की स्थापना करता है, जो अनुभव, ज्ञान तथा सापेक्षता से भी ऊपर है। सापेक्ष की संभावना ही निरपेक्ष के यथार्थ सत्ता को उपलक्षित करती है। यदि हम यथार्थ सत्ता को अस्वीकार करते हैं, तो इस सापेक्ष को भी अस्वीकार करते हैं। गौडपाद कहते हैं कि जागरित, स्वप्न तथा सुषुप्ति तीनों ही अवस्थाओं से परे उन सबका एक सामान्य आधार आत्मा है और केवल यही सत् है। वास्तविकता यह है कि जागरित, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन प्रकार की अवस्थाएँ हैं, जिनमें एक मात्र निरपेक्ष आत्मा ही अपने को अभिव्यक्त करती है, जबकि यह भिन्न—भिन्न उपाधियों से युक्त है।

3.11 गौडपाद के अनुसार ब्रह्म एवं जगत् के बीच सम्बन्ध

गौडपाद ब्रह्म एवं आत्मा के बीच सम्बन्ध पर भी विचार करते हैं। उनका यह स्पष्ट कहना है कि यथार्थ सत्ता में कोई परिवर्तन संभव नहीं है। यदि यह संभव होता तो 'अमर्त्य मरणधर्मा हो जाता'। किसी प्रकार से भी यह संभव नहीं है कि कोई वस्तु अपने से सर्वथा विपरीत गुण वाली वस्तु के रूप में परिणत हो जाएँ। प्रत्येक परिणमन अवास्तविक है एवं केवल आनुभविक जगत् में ही वह सत्य है। यथार्थ में भेद नामक कोई वस्तु नहीं है। आत्मा ही एक मात्र निरपेक्ष सत्ता है, वह अपने अतिरिक्त और किसी के विषय में अभिज्ञ नहीं है। गौडपाद अपने समय में प्रचलित सृष्टि सम्बन्धी सभी दृष्टिकोणों का निराकरण करते हुए बलपूर्वक यह प्रतिपादित करते हैं कि यह उस तेजोमय का अन्तःस्थित स्वभाव है, जिसे सब कुछ प्राप्त है, क्योंकि उसकी इच्छा और क्या हो सकती है? गौडपाद का कहना है कि यह जगत् ईश्वर के अपने स्वभाव का व्यक्त रूप है अर्थात् उसकी शक्ति का अभिव्यक्त रूप है। गौडपाद ने 'माया' शब्द का प्रयोग अद्भुत शक्ति के अर्थों में किया है। उनका यह कहना है कि माया रूपी शक्ति ईश्वर का स्वभाव बन जाती है जो उस सर्वदा ज्योतिष्मान से पृथक् नहीं हो सकती और जो इसके द्वारा आवृत है। माया के विषय में यह भी कहा गया है कि यह अनादि सृष्टि तत्व है, जो मनुष्य की दृष्टि से यथार्थसत्ता को छिपाये रहती है। वह परमतत्त्व इस माया रूपी तत्व अथवा स्वभाव से संयुक्त होकर, जो अव्याकृत है, ईश्वर कहलाता है, जो समस्त चैतन्य के केन्द्रों का वितरण करता है।

गौडपाद यह प्रतिपादित करते हैं कि आनुभविक जगत् का अधिष्ठान आत्मा है, जो यथार्थ में किसी प्रकार के द्वैत को स्वीकार नहीं करता। द्वैतपरक जगत् केवल माया है, यथार्थ सत्ता अद्वैत है। गौडपाद उस विचारधारा का प्रतिपादन अपने अद्वैत वेदान्त में कर दिये थे, जिसे शंकर ने अपने भी स्वीकार किया है, वह यह है— माया के द्वारा ही यथार्थ सत्ता ब्रह्म अपने को नाना रूपात्मक जगत् के रूप में परिणत करता है, जिसकी केवल प्रतीति होती है, किन्तु अपने आप में वह सत् वही है। गौडपाद का कहना है कि यह जगत् न तो आत्मा के साथ तादात्म्य रूप है और न ही उससे पृथक् या भिन्न रूप ही है। जिस समय गौडपाद का ध्यान सर्वोपरि यथार्थ सत्ता के ऊपर होता है, तो वह बलपूर्वक कहता है कि जगत् केवल स्वप्न या भ्रान्तिमात्र है और भेद केवल प्रतीति स्वरूप है।

3.12 गौडपाद द्वारा माया शब्द का विविध अर्थों में प्रयोग

गौडपाद ने 'माया' शब्द का प्रयोग ठीक एक ही अर्थ में नहीं किया है। वे इसका प्रयोग कई अर्थों में किये हैं—

- (1) जगत् तथा आत्मा के बीच सम्बन्ध की अव्याख्येयता के लिए अर्थों में किया है।
- (2) ईश्वर के स्वभाव अथवा शक्ति के अर्थों में तथा
- (3) जगत् की स्वप्न सदृश प्रतीति के अर्थों में किया है।

शंकर ने माया के पहले अर्थों को ही अधिकतर प्रधानता दी है और तीसरे प्रकार के अर्थों के प्रति वह उदासीन हैं। वह तीसरे प्रकार के अर्थों की गौडपाद की स्थिति को माध्यमिकों को संवृत्ति सत्य अथवा असत्य सदृश बना देती है, किन्तु व्यावहारिक सत्य अथवा क्रियात्मक सत्य के सदृश नहीं।

3.13 गौडपाद के अनुसार जीवों की अनेकता प्रतीतिमात्र है

गौडपाद के अनुसार यदि यह जगत् चित्तनिष्ठ पदार्थों से ही बना है— 'चित्तदृश्यम्' और निरपेक्ष परमार्थ स्वरूप आत्मा के ऊपर आरोपित किया गया है, तो यही जीव की दशा है। आत्मा का अनेक जीवों में विभक्त होना केवल प्रतीतिमात्र है। गौडपाद का यह मानना है कि भेद केवल ऐसे आनुषंगिक पदार्थों में रहते हैं, यथा आकृति, क्षमता और नाम, किन्तु स्वयं व्यापक देशरूप (आकाश) में यह भेद नहीं है। जैसे हम यह नहीं कह सकते कि सीमाबद्ध आकाश (देश) व्यापक आकाश का अवयव है या विकार है। ये दोनों एक ही हैं और भेद केवल प्रतीतिपरक है। यद्यपि व्यावहारिक रूप में हमें इन दोनों को भिन्न मानना होता है।

3.14 गौडपाद के अनुसार मोक्ष

गौडपाद का कहना है कि मनुष्य का सबसे अधिक हित इसी में है कि वह उन बन्धनों को तोड़ फेंके जो उसे उस यथार्थ सत्ता से दूर रखे हुए हैं जो उसका अपना स्वरूप है। जीवात्मा के अन्दर आत्मा का साक्षात्कार कर लेने का नाम ही मोक्ष है। मुक्त आत्मा कभी जन्म नहीं लेती क्योंकि वह कारण—कार्य की परिधि से दूर हो जाती है। जब मनुष्य सत्य का साक्षात्कार कर लेता है, तो वह संसार में उच्चकोटि के अनासक्तिभाव से युक्त रहता है, जिसकी तुलना जड़—प्रकृति की पूर्ण उदासीनता के साथ की जा सकती है। वह परम्परागत नियमों एवं विधानों के अन्तर्गत नहीं रहता।

3.15 गौडपाद के अनुसार अविद्या बन्धनों का मूल कारण है

गौडपाद के अनुसार अविद्या एक ऐसी वस्तु है, जिसका प्रभाव मनुष्य के व्यक्तित्व के ऊपर सम्पूर्ण रूप से होता है। इससे मुक्त होने के लिए न केवल सत्य, ज्ञान, अपितु सदाचरण तथा ईश्वर में भक्ति आवश्यक है। धर्म सर्वोपरि निःश्रेयस् की प्राप्ति में हमारा सहायक होता है। गौडपाद योगशास्त्र विहित पद्धति को मोक्ष के साधन के रूप में स्वीकार करते हैं। उनका यह कहना है कि जब चित्त कल्पना करते—करते आत्म विषयक सत्य ज्ञान के कारण संसार से विरत हो जाता है, तो वह शून्य हो जाता और तब चूँकि इसे किसी वस्तु का बोध ग्रहण करना शेष नहीं रहता इसलिए विश्रान्ति लाभ करता है। इस अवस्था को सुषुप्ति अवस्था के साथ नहीं मिला देना चाहिए, क्योंकि यह एक ज्ञान की अवस्था है जिसका ज्ञेय विषय ब्रह्म है। यह भावात्मक वर्णन से परे है, सब प्रकार के द्वैतभाव से परे है। यह एक ऐसे क्षेत्र में है, जहाँ कि ज्ञान आत्मा के अन्दर केन्द्रित है। वास्तविकता तो यह है कि गौडपाद की कारिका माध्यामिकों के निषेधात्मक तर्क को उपनिषदों के भावात्मक आदर्शवाद के साथ एक पूर्ण इकाई के अन्दर संयुक्त करने का प्रयास है। गौडपाद के अद्वैत वेदान्त में निषेधात्मक प्रवृत्ति भावात्मक प्रवृत्ति की अपेक्षा अधिक मात्रा में पायी जाती है। यही कारण है कि अधिक विचारक गौडपाद के अद्वैत वेदान्त की अपेक्षा शंकर के अद्वैत वेदान्त के दृष्टिकोण अधिक सन्तुलित माना है।

3.16 भर्तृहरि का अद्वैत वेदान्त के विकास में योगदान

शंकर का एक अन्य पूर्ववर्ती विद्वान जिसके विचार उनके विचारों के समान हैं, वह भर्तृहरि था, जो प्रसिद्ध तार्किक तथा वैयाकरणाचार्य था। भर्तृहरि का महान दार्शनिक ग्रन्थ वाक्यपदीय है, जिसका झुकाव कुछ-कुछ बौद्ध धर्म की ओर है। भर्तृहरि का संसार के प्रतीतिस्वरूप के प्रति आग्रह तथा वस्तुओं से अनासक्ति के विचारों में बौद्ध दर्शन की भावना प्रबल रूप में पायी जाती है। भर्तृहरि का यह कहना है कि मनुष्यों के लिए सब वस्तुएँ भयप्रद हैं, अनासक्ति ही केवल सुरक्षित उपाय है। यह जगत् अपने समस्त भेदों के साथ काल्पनिक है। सांसारिक पदार्थ अनात्म हैं, यद्यपि शब्दों के द्वारा उन्हें व्यक्तित्व दिया गया है परन्तु जब भर्तृहरि की यथार्थता की स्थापना करता है, तो वह बौद्धों से भिन्न है। वह समस्त जगत् को एक विवर्त के रूप में मानता है अर्थात् एक प्रतीति है, जिसका आधार ब्रह्म है। वह ब्रह्म तथा शब्द को एक मानता है। ब्रह्म जो अनादि एवं अनन्त है जो शब्द (वाणी) का नित्य सारतत्त्व है, वस्तुओं के आकार में परिवर्तित हो जाता है, जो कि संसार के विकास के समान है नित्य शब्द जिसे 'स्फोट' की संज्ञा दी गयी है और जो अखण्ड है, निस्सन्देह ब्रह्म है। ग्रीक भाषा के परिभाषिक शब्द 'लोगोस' की संदिग्धता, जो तर्क तथा शब्द दोनों के लिए प्रयुक्त होता है, निर्देश करती है, तर्क तथा दैवीय शब्द परस्पर सम्पृक्त हैं।

3.17 भर्तृप्रपञ्च का द्वैताद्वैत

वृहदारण्यक के अपने किये गये भाष्य में शंकर भर्तृप्रपञ्च के द्वैताद्वैत (अथवा भेदाभेद) का उल्लेख करते हैं। जिसके अनुसार ब्रह्म एक ही समय में एक भी है और द्वैत भी है। कारण रूप ब्रह्म कार्यरूप ब्रह्म से भिन्न है, यद्यपि जब जगत् मूल कारण ब्रह्म में वापस लौट आता है, तब दोनों एक समान हो जाते हैं। शंकर का कहना है कि द्वैत और अद्वैत ये विरोधी गुण उसी एक प्रमाता (विषयी) में सत्य नहीं हो सकते। भिन्नता में अभेद दृश्यमान पदार्थों के विषय में तो सम्भव हो सकता है, किन्तु प्रकृति तत्त्व के विषय में यह सम्भव नहीं है। द्वैतभाव उपाधियों से घिरे हुए जीवात्मा के विषय में तो सत्य हो सकता है, किन्तु उपाधियों से उन्मुक्त होने पर यह विनष्ट हो जाता है।

3.18 अद्वैत वेदान्त के विकास आचार्य शंकर की भूमिका

अद्वैत वेदान्त के क्रमिक विकास में आचार्य शंकर वह महान विचारक हैं, जिन्होंने अद्वैत वेदान्त को न केवल उसकी पराकाष्ठा तक पहुँचाया, अपितु, भारतीय जनमानस में अद्वैत वेदान्त की मधुर संगीत की के गूँज संचार से लोगों को अह्लादित भी किया। वे अद्वैत वेदान्त की उस परम्परा को जो उन्हें अपने आचार्यों की एक अविच्छिन्न परम्परा से प्राप्त हुई थी उसका विस्तार करते हुए नवीन विचारों के उत्तम प्रभावों से सम्पन्न बनाये। शंकराचार्य इससे अभिज्ञ हैं कि 'वेदान्तसूत्र' के ऊपर अन्य विचारकों ने एक भिन्न प्रकार से भाष्य किया है। वह एक अन्य भाष्यकार का प्रायः उल्लेख करते हैं, जिसे उपवर्ष के नाम से जाना है और जिससे उनका मतभेद था। इसलिए निस्सन्देह रूप से यह निश्चय करना कठिन है कि शंकर का दर्शन प्राचीन शिक्षा का अनुबन्ध है या पुनर्व्याख्या है या एक नवीन योग है। यह सही है कि हम पुराने को नये से अलग नहीं कर सकते, क्योंकि जीवन में पुराना भी नया है, और नया भी पुराना है।

अद्वैतवेदान्त का अर्थ, उद्भव एवं विकास

वादरायण ने अपने 'ब्रह्मसूत्र' में उपनिषदों में अन्तर्निहित विभिन्न विचारधाराओं को सूत्रात्मक शैली में संकलित कर अद्वैत वेदान्त की प्रतिष्ठा किया, किन्तु शंकराचार्य ने उस 'ब्रह्मसूत्र' पर शारीरकभाष्य लिखकर अद्वैत वेदान्त की विचारधारा को सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्रदान किया। शंकराचार्य ने उपनिषदों पर भाष्य लिखकर उसे श्रुति-प्रस्थान की संज्ञा से अभिहित किया, ब्रह्मसूत्र पर लिखे भाष्य को न्याय-प्रस्थान या तर्क-प्रस्थान की संज्ञा से अभिहित तथा श्रीमद्भगवद्गीता पर भाष्य लिखकर उसे स्मृति-प्रस्थान की संज्ञा से अभिहित किया है। इन तीनों प्रस्थानों में एकवाक्यता अद्वैतवाद में है और यही शंकराचार्य का मुख्य प्रतिपाद्य है। शंकराचार्य अपने भाष्य में 'ब्रह्मवाद' की प्रतिष्ठापना किया है और उसे वेदान्त की संज्ञा से अभिहित किया है। उनका यह कहना है कि उस ब्रह्मवाद को वेदान्त कहा जाता है जिसमें ब्रह्म आत्मा से अभिन्न है। यह ब्रह्म निर्गुण अथवा केवल अद्वैत है। अतएव शंकराचार्य के दर्शन के सन्दर्भ में निर्गुण ब्रह्मवाद अद्वैतवाद या केवल अद्वैत के रूप में रूढ़ अर्थ हो चले हैं। शंकराचार्य अपने अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म के दो रूपों में वर्णन किये हैं—निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म। उन्होंने आत्मा एवं ब्रह्म में अभेद सम्बन्ध माना है और इसकी पुष्टि 'अयमात्मा ब्रह्म' अहंब्रह्मास्मि तथा तत्त्वमसि जैसे उपनिषदीय महावाक्यों से की है। उन्होंने ब्रह्म एवं जगत् के बीच सम्बन्ध की व्याख्या के लिए मायावाद की स्थापना किया है। वास्तव में मायावाद के बिना अद्वैतवाद की स्थापना ही नहीं हो सकती। अतएव यदि सत् एक और अद्वितीय है यदि वह अनन्तर और अबाह्य है, यदि नानात्व मिथ्या है या अनर्थ है, जैसा कि उपनिषद् कहते हैं, तो फिर अद्वैतवाद का अनिवार्य सहचर मायावाद है। शंकराचार्य अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के इस मत का समर्थन किया है कि सृष्टि का मूल कारण ब्रह्म ही है और वह जगत् का निमित्त और उपादान कारण है। सृष्टि ब्रह्म की लीला है। केवल ब्रह्म की ही एक मात्र पारमार्थिक सत्ता है, जीव जगत् तथा अन्य सभी सांसारिक वस्तुएँ की यथार्थ सत्ता नहीं है। सम्पूर्ण सृष्टि ब्रह्म का विवर्त है अर्थात् वह केवल प्रतीति का विषय है। जगत् हमारे लिए व्यावहारिक रूप में सत् है, किन्तु पारमार्थिक रूप में इसकी वास्तविक सत्ता नहीं है। ब्रह्म सभी प्रकार के भेदों से रहित होने के कारण ही अद्वैत है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि वादरायण के ब्रह्मसूत्र के पूर्व भी वेदो, उपनिषदों एवं श्रीमद्भगवद्गीता में अद्वैत वेदान्त के विचार विद्यमान थे, किन्तु वादरायण ने अपने 'ब्रह्मसूत्र' में उपनिषदों में अन्तर्निहित विचारों को सूत्रात्मक शैली में संकलित कर अद्वैत वेदान्त के बीज का वपन किया जिसके विकास में गौडपाद, भर्तृहरि, भर्तृप्रपंच एवं शंकराचार्य आदि ने प्रमुख भूमिका निभायी है। आज अद्वैत वेदान्त को शंकराचार्य के विशेष योगदान के कारण जो प्रतिष्ठा मिली है, वह अद्वैत-वेदान्त की विचारधारा के पराकाष्ठा को बताता है। शंकराचार्य के द्वारा अद्वैत वेदान्त को जो महत्व प्रदान किया गया है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि शंकराचार्य का मत ही ब्रह्मसूत्रकार का मत है, क्योंकि ब्रह्मसूत्रकार का मंतव्य वेद-उपनिषद् के ब्रह्म का ही वर्णन करता है।

प्रश्नावली

लघु उत्तरीय प्रश्न—

1. ब्रह्म सूत्र के प्रतिपाद्य विषय पर चर्चा करें।
2. अद्वैत वेदान्त के विकास में गौडपाद के योगदान की व्याख्या करें।
3. गौडपाद के अनुसार ब्रह्म एवं जगत् के सम्बन्ध की व्याख्या करें।

4. गौडपाद के अनुसार मोक्ष क्या है?
5. भर्तृहरि ने वेदान्त के विकास में क्या योगदान किया स्पष्ट करें।

अद्वैत वेदान्त का
क्रमिक विकास

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न—

1. अद्वैत वेदांत के क्रमिक विकास पर एक निबन्ध लिखें?
2. अद्वैत वेदांत के विकास में आचार्य शंकर की भूमिका स्पष्ट करें?

इकाई-4

शंकराचार्य का जीवन एवं दर्शन

संरचना

- 4.0. उद्देश्य
- 4.1. प्रस्तावना
- 4.2. शंकराचार्य का जन्मकाल तथा जीवन
 - 4.2.1. शंकराचार्य का जन्मकाल
 - 4.2.2. शंकराचार्य द्वारा लिखित प्रमुख ग्रन्थ
 - 4.2.3. शंकराचार्य का दार्शनिक पक्ष
 - 4.2.4. शंकर अद्वैतवादी हैं
- 4.3. शंकर के अद्वैत वेदान्त का मूल प्रस्थान उपनिषद् है
- 4.4. शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म की एक मात्र सत्य का अर्थ है—ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता का न होना
- 4.5. जगत् की सृष्टि ब्रह्म के माया शक्ति के द्वारा होती है
- 4.6. शंकर ने ब्रह्म के दो रूप माने हैं— निर्गुण ब्रह्म एवं सगुण ब्रह्म
- 4.7. शंकराचार्य का ब्रह्म सभी प्रकार के भेदों से रहित सत्ता है
- 4.8. निष्कर्ष

4.0. उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में यह दर्शाने का प्रयास किया जाएगा कि शंकराचार्य का जीवन किस परिवेश और परिवार में हुआ था तथा उनकी शिक्षा—दीक्षा किस प्रकार हुई थी?

प्रस्तुत इकाई में शंकराचार्य के द्वारा जिस अद्वैत—वेदान्त का प्रचार—प्रसार किया गया था, उसका एक सामान्य परिचय दिया जाएगा तथा इस बात की समीक्षा की जाएगी कि शंकराचार्य अद्वैत—वेदान्त की स्थापना में कहाँ तक सफल रहे?

4.1. प्रस्तावना

शंकराचार्य का अद्वैत वेदान्त मनुष्य की विकासमान भावना की उस अवस्था को प्रकट करता है, जिसे वह दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में पराकाष्ठा पर पहुँचाया। शंकराचार्य जैसे महान विचारक का आविर्भाव किसी भी युग में होना,

अद्वैतवेदान्त का अर्थ, उद्भव एवं विकास

उस युग निर्माण की अवस्था को भी प्रकट करता है। शंकराचार्य असाधारण विद्वत्ता, तर्क पटुता, दार्शनिक सूक्ष्म दृष्टि, रहस्यवादी आध्यात्मिकता, कवित्वशक्ति, धार्मिक पवित्रता, कर्तव्यनिष्ठा तथा सर्वातिशायी विवेक एवं वैराग्य के मूर्ति थे। उनकी प्रतिभा अपने युग के अवसर को पकड़ लेने की शक्ति तथा ऐसी मूक आकांक्षाओं को जो एक दीर्घकाल से मानव जाति के हृदयों में बाह्य रूप में प्रकट होने के लिए संघर्ष कर रही होती है उसे मुखर वाणी प्रदान करने में निहित है। एक प्रथम श्रेणी के रचनात्मक विचारक के रूप में शंकराचार्य ने अपने समय के दार्शनिक उत्तराधिकार को न केवल सक्षमतापूर्वक निर्वहन किया, बल्कि अपने समय के विशेष आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर उसकी नये सिरे से व्याख्या की। यद्यपि शंकराचार्य के समय में हिन्दू विचारधारा ने बौद्धमत के ऊपर क्रियात्मक रूप में विजय प्राप्त कर ली थी, तो भी बौद्धमत ने जनसाधारण के अन्दर अपनी शक्ति का गुप्त रूप में संचरण करा दिया था। शंकराचार्य के समय में मीमांसक भी सब मनुष्यों की तर्क शक्ति को वैदिक कर्मकाण्ड के आध्यात्मिक महत्त्व के विषय में सन्तोष प्रदान करने में असमर्थ थे। भिन्न-भिन्न आस्तिक सम्प्रदाय वाले ऐसे क्रिया-कलाप कर रहे थे, जिनके समर्थन में वे किसी न किसी श्रुतिवाक्य का उद्धरण दे देते थे। हिन्दू विचारधारा के लिए यह एक संक्रमण काल था, जब परस्पर वाक्कलह में पड़े हुए सम्प्रदायों के कारण जनता में सामान्य अर्थों में शिथिलता जैसे भाव आ गया था। अतएव उस समय एक ऐसे प्रतिभासम्पन्न देव मानव की आवश्यकता थी, जो भूतकाल के साथ सम्बन्ध तोड़े बिना नवीन मत के उत्तम प्रभावों को भी ग्रहण कर सके और जो पुरातन वैचारिक प्रक्रिया को भंग किये बिना उनका विस्तार कर सके तथा परस्पर वैचारिक संघर्ष में सन्नद्ध सम्प्रदायों के सत्य को ऐसे उदार आधार पर समन्वय कर सके, जिसमें सभी बुद्धिजीवी तथा संस्कृत वर्गों के मनुष्यों को समान स्थान प्राप्त हो। वास्तविकता यह है कि शंकराचार्य ने उस ध्वनि के अन्दर, जो लाखों मनुष्यों के कानों में गूँज रही थी, मधुर संगीत का संचार कर दिया। उन्होंने अपने अद्वैत वेदान्त की धार्मिक एकता को सम्पन्न कराने वाले एक समान आधार के रूप में घोषणा की। अपनी विनम्र वाणी के द्वारा शंकर ने कहा कि जिस सिद्धान्त का वह प्रचार कर रहा है, वह उससे अधिक कुछ नहीं है, जो वेद में अन्तर्निहित है। उनका यह मानना है कि वह एक पुरातन तथा महत्वपूर्ण परम्परा का ही प्रचार कर रहा है, जो कि हमें आचार्यों की एक अविच्छिन्न परम्परा द्वारा प्राप्त हुई है। वह इससे अभिज्ञ हैं कि 'वेदान्तसूत्र' के ऊपर अन्य विचारकों ने एक भिन्न दृष्टिकोण से भाष्य किया है। वह उपवर्ष जैसे भाष्यकार उल्लेख करते हैं, जिससे उनका मतभेद था। जहाँ तक प्राचीन शास्त्रीय उपनिषदों का सम्बन्ध, यह कहना पड़ेगा कि शंकर का मत उनकी प्रमुख प्रवृत्ति को ही प्रस्तुत करता है।

4.2. शंकराचार्य का जन्मकाल तथा जीवन

4.2.1. शंकराचार्य का जन्मकाल

शंकराचार्य के सम्बन्ध में नाभादास ने लिखा है कि कलियुग में मुख्य धर्मपालक शंकराचार्य हैं, जिन्होंने सभी उच्छृंखलों, अज्ञानियों, अनीश्वरवादियों, कुतक्रियों, पाखण्डियों और दुष्टों को सन्मार्ग पर लगा दिया। वे सदाचार की सीमा हैं साक्षात् सदाचार की मूर्ति हैं और उनसे बड़ा कोई सदाचारी नहीं हुआ। उनके साक्षात् शिष्य पद्यमपाद ने शंकराचार्य के सम्बन्ध में लिखा है कि शंकराचार्य अनुमार्धविग्रह हैं अर्थात् उनका आधा शरीर अनुमान से बना है। दूसरा आधा भाग श्रुति से बना है। इस प्रकार अपने शिष्य पद्यमपाद की दृष्टि में शंकराचार्य ने श्रुति

और अनुमान (तर्क) को समान महत्व दिया था। वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि शंकराचार्य विशुद्ध विज्ञान हैं अर्थात् उनका जीवन विशुद्ध विज्ञान की मूर्ति है। एक दार्शनिक के लिए इससे बढ़कर अभिशंसा क्या हो सकती है? जहाँ तक शंकराचार्य के जन्म का सवाल है, तो उनके जन्म के विषय में तेलंग का कहना है कि शंकर, ईसा पश्चात् छठी शताब्दी के मध्य अथवा अन्त में हुए। सर आर0जी0 भण्डारकर का कहना है कि शंकर का जन्म सन् 680 ई0 में हुआ। वे इससे कुछ वर्ष पूर्व मानने को उद्यत हैं। मैक्समूलर तथा प्रोफेसर मैकडोनल का मत है कि शंकर का जन्म 788 ईस्वी का है और 820 ईस्वी में उनका देहावसान हुआ। प्रोफेसर कीथ की सम्मति में भी नवीं शताब्दी के प्रथम चरण में शंकर का होना माना गया है। प्रो0 संगम लाल पाण्डेय ने प्री शंकर अद्वैत फिलॉसफी में यह प्रतिपादित किया है कि शंकराचार्य को 630 ईस्वी के आस-पास अवश्य जीवित रहना चाहिए। इस कारण शंकराचार्य का जन्म लगभग 620 ईस्वी माना जाना चाहिए।

शंकराचार्य एक ऐसे महान दार्शनिक थे, जिनका जन्म प्रायद्वीप के पश्चिम समुद्रतट पर स्थित केरल के कालदी गाँव में एक नम्बूदरी ब्राह्मण के घर में हुआ था। इनके पिता का नाम शिवगुरु तथा माता का नाम कहीं सती तथा कहीं विशिष्टा बताया जाता है। उनका जन्म वैशाख शुक्ल पक्ष पंचमी तिथि को हुआ था, किन्तु किस वर्ष हुआ था, इस पर मतभेद है। यद्यपि परम्परा के अनुसार कहा जाता है कि उनके कुल देवता शिव थे, किन्तु एक मत यह भी है कि वे जन्म से शाक्त थे। अपनी युवावस्था के प्रारम्भ में वे गौडपाद के शिष्य गोविन्द द्वारा संचालित वैदिक पाठशाला में प्रविष्ट हुए। अपने सब ग्रन्थों में शंकर स्वयं गोविन्द के शिष्य के रूप में ही बताते हैं। इससे स्पष्ट है कि गोविन्द ने ही उन्हें वेदान्त के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों की शिक्षा दी। कहा जाता है कि अपनी वाल्यावस्था में ही जब वे केवल आठ वर्ष के थे, उन्होंने उत्कट अभिलाषा तथा प्रसन्नता के साथ सब वेदों को कण्ठस्थ कर लिया था। वे प्रकट रूप में वैदिक विद्या तथा स्वतंत्र प्रज्ञा से युक्त असाधारण प्रतिभा के तेजस्वी व्यक्ति थे। जीवन के गूढ़ रहस्य तथा महत्व ने उन्हें प्रभावित किया और उन्होंने भगवान की झलक अपने जीवन के बहुत प्रारम्भिक काल में ही प्राप्त कर ली थी। इससे पूर्व ही कि वे संसार के व्यवहार से अभिज्ञता प्राप्त करते, उन्होंने संसार का त्याग कर दिया और वे संन्यासी हो गये, किन्तु वे वीतराग परिव्राजक नहीं थे। नहीं थे। सत्य की विशुद्ध ज्वाला उनके अन्तस्तल में प्रज्वलित हो रही थी। एक आचार्य के रूप में उन्होंने स्थान-स्थान पर भ्रमण किया और वे विभिन्न मत के मनीषियों के साथ संवाद और शास्त्रार्थ में भी प्रवृत्त हुए।

परम्परागत वर्णनों से यह स्पष्ट होता है कि शंकराचार्य अपनी यात्राओं के दौरान विभिन्न मतों एवं सम्प्रदायों के विद्वानों से किये गये संवाद एवं शास्त्रार्थ विजयी होते हुए कुमारिल और मण्डन मिश्र के सम्पर्क में आये, जिनमें से आगे चलकर मण्डन मिश्र उनका शिष्य बन गया और सुरेश्वराचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अमरूक के मृत शरीर में शंकर के प्रवेश करने की कहानी यह प्रकट करती है कि शंकर योग सम्बन्धी क्रियाओं में निपुण थे।

शंकराचार्य सनातन धर्म की रक्षा तथा उसे विस्तार प्रदान करने के लिए भारत के चारों दिशाओं में चार मठों की स्थापना किया, जिनमें मुख्य वह है, जो दक्षिण के कर्नाटक राज्य के मेंसूर के श्रृंगेरी में है। अन्य तीन मठ पूर्व में पुरी में, पश्चिम में द्वारका तथा उत्तर में बदरीनाथ में है। उन्होंने बद्रीकाश्रम में त्रोटक को, पुरी में पध्नपाद को, श्रृंगेरी में सुरेश्वर को तथा द्वारका में हस्तमालक को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। तब से इन मठों के अध्यक्षों को भी जगद्गुरु शंकराचार्य कहा जाने लगा। शंकर को उनसे भिन्न करने के लिए आद्य शंकराचार्य

अद्वैतवेदान्त का अर्थ, उद्भव एवं विकास

कहा जाता है। इन मठों की शिष्य परम्परा आज तक किसी न किसी रूप में चली आ रही है और इनके जगद्गुरु शंकराचार्य में अनेक उच्चकोटि के दार्शनिक भी हुए। वेदान्त के प्रचार-प्रसार के लिए शंकराचार्य द्वारा स्थापित जगन्नाथपुरी मठ को गोवर्धन मठ, बदरीनाथ को ज्योतिर्मठ, द्वारिकापुरी को शारदामठ एवं श्रृंगेरी को श्रृंगेरीमठ के रूप में भी जाना जाता है।

शंकराचार्य मानवीय करुणा के साक्षात् प्रतिमूर्ति थे। इतना ही नहीं उनके हृदय में माता-पिता के प्रति अगाध श्रद्धा तथा भक्ति थी। उनके विषय में एक बड़ा ही करुणाजनक प्रसंग मिलता है, जिसमें यह कहा गया है कि सन्यासाश्रम की व्यवस्था के नियमों को प्रकट रूप में भंग करके शंकर ने अपनी माता की अन्त्येष्टि क्रिया में भाग लिया और इस प्रकार अपने समुदाय के विकट विरोध का सामना किया। परम्परा से पता लगता है कि 32 वर्ष की अवस्था में हिमालय के अंचल में केदारनाथ में उनका देहान्त हुआ। वास्तविकता यह है कि शंकराचार्य का इस पृथ्वी पर अवतरण एक देवदूत के रूप में हुआ था, जो मनुष्य के रूप में समाज को धर्म के मार्ग का पथ-प्रदर्शन करने के लिए अवतरित हुए थे और भारत में ऐसा कोई भी व्यक्ति इस कार्य को नहीं संभाल सकता था, जिसके सन्देश की पृष्ठभूमि में संसार की चिन्ताओं के प्रति अनासक्ति न हो।

4.2.2 शंकराचार्य द्वारा लिखित प्रमुख ग्रन्थ

शंकराचार्य के नाम से इस समय अनेक ग्रन्थ प्रचलित हैं किन्तु वे सभी आदि शंकराचार्य कृत नहीं हैं। उनमें से अधिकांश उनके शिष्य या शिष्यों के शिष्य के द्वारा लिखे गये हैं, क्योंकि उनके नाम भी जगद्गुरु शंकराचार्य ही थे। इसलिए यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि शंकराचार्य के नाम से प्रचलित सभी ग्रन्थ आद्य शंकराचार्य द्वारा प्रणीत हैं। शंकराचार्य द्वारा कृत ग्रन्थों का वर्गीकरण करते हुए उसे तीन वर्गों में रखा जाता है— भाष्य, स्तोत्र और प्रकरण। शंकराचार्य कृत भाष्य के अन्तर्गत वादरायण के ब्रह्मसूत्र पर किया गया भाष्य, जिसे 'शरीरकभाष्य' कहा जाता है, एवं श्रीमद्भगवद्गीताभाष्य तथा उपनिषदों पर किये गये भाष्य प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त शंकराचार्य ने गौडपाद की माण्डूक्यकारिका पर भी 'माण्डूककारिकाभाष्य' लिखा। शंकराचार्य द्वारा ब्रह्मसूत्र उपनिषद् तथा श्रीमद्भगवद्गीता पर किये गये भाष्यों को प्रस्थानत्रयी के रूप में जाना जाता है। इन तीनों प्रस्थानों में उपनिषद् को 'श्रुति-प्रस्थान, ब्रह्मसूत्र को 'न्याय-प्रस्थान' तथा श्रीमद्भगवद्गीता को स्मृति-प्रस्थान के नाम से जाना जाता है। उपनिषद् भाष्य 'श्रुति-प्रस्थान' है, श्रीमद्भगवद्गीता भाष्य स्मृति प्रस्थान है तथा ब्रह्मसूत्रभाष्य जिसे 'शारीरक भाष्य' भी कहा जाता है न्याय-प्रस्थान है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि शंकराचार्य ने जिस वेदान्त की स्थापना की, उसके तीन प्रस्थान (स्रोत) हैं— उपनिषद् या श्रुति-प्रस्थान, ब्रह्मसूत्र या न्याय-प्रस्थान और भगवद्गीता या स्मृति प्रस्थान। इन तीनों प्रस्थानों की एकवाक्यता अद्वैत वेदान्त में है। यही शंकराचार्य का मुख्य प्रतिपाद्य है। शंकराचार्य का 'उपदेशसहस्री' तथा 'विवेकचूडामणि' ग्रन्थों से उनकी सामान्य स्थिति हमारे समक्ष प्रकट होती है। उपदेशसहस्री 'प्रकरण' के अन्तर्गत रखा जाता है। ईश्वर के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को लक्ष्य करके रचना किये गये स्तोत्र, इस जीवन में उनकी आस्था कहाँ तक थी, इसे भलीभाँति प्रकट करते हैं। इन स्तोत्रों के नाम हैं— दक्षिणामूर्तिस्तोत्र, हरिमीडेस्तोत्र, आनन्दलहरी और सौन्दर्यलहरी। जीवन के प्रति उनकी आस्था थी, उसका औचित्य भी इन स्तोत्रों से प्रकट होता है यद्यपि इसे लेकर विद्वानों में मतभेद है कि शंकराचार्य द्वारा थे सभी स्तोत्र लिखे गये हैं। अन्य ग्रन्थ जो शंकराचार्य द्वारा रचित बताये जाते हैं, ये हैं—

आप्तवज्रसूची, आत्मबोध, महामुद्गर, दशश्लोकी, अपरोक्षानुभूति तथा विष्णुसहस्रनाम और सनत् सुजातीय के ऊपर भाष्य है।

शंकराचार्य का जीवन एवं दर्शन

4.2.3 शंकराचार्य का दार्शनिक पक्ष

शंकराचार्य के विशेष प्रसिद्धि का कारण उनका अद्वैत दर्शन है, जिसे उन्होंने प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखकर विकसित किया। उन्होंने इसे ज्ञान के समकालीन मानदण्डों तथा विश्वास का प्राचीन सूत्रों तथा परम्पराओं से समन्वय करने के उत्तम मार्ग के रूप में देखा। शंकर एक ही साथ तथा एक ही समय में कट्टर सनातन धर्म के उत्साही रक्षक एवं धार्मिक सुधारक के रूप में प्रकट हुए। उन्होंने पुराणों के उज्ज्वल विलासमय युग के स्थान पर उपनिषदों के रहस्यमय सत्य युग को फिर लौटा लाने का प्रयत्न किया। उन्होंने अपने युग को धार्मिक दिशा में मोड़ने के लिए प्रयत्न करने में अपने को विवश पाया और इसकी सिद्धि उन्होंने एक ऐसे धर्म व दर्शन की व्यवस्था द्वारा सम्पन्न की, जो बौद्ध धर्म, मीमांसा तथा भक्तिमार्ग की अपेक्षा जनता की आवश्यकताओं के अनुरूप कहीं अधिक सन्तोषप्रद सिद्ध हो सकती थी। आस्तिकवादी सत्य को भावावेश के कुहरे से आवृत्ति किये हुए थे। शंकर की सम्मति में, अद्वैत दर्शन ही एकमात्र परस्पर विरोधी सम्प्रदायों के अन्दर निहित सत्य है तथा उसकी उपयुक्तता का प्रतिपादन करने में एकमात्र सक्षम हो सकता है। इस प्रकार उन्होंने अपने सब ग्रन्थों की रचना एक ही उद्देश्य को लेकर किया अर्थात्—जीवात्मा को ब्रह्म के साथ अपने एकत्व को पहचानने में सहायक सिद्ध होना और यही संसार से मोक्ष प्राप्ति का उपाय है।

4.2.4 शंकर अद्वैतवादी हैं

शंकर अद्वैतवादी दार्शनिक हैं। उन्होंने न केवल समस्त प्रकार के द्वैतवादों तथा भेदवादों का खण्डन किया है, वरन् उन अद्वैतवादों का भी खण्डन किया है, जिनमें द्वैत या भेद किसी न किसी रूप में विद्यमान है। इस प्रकार उन्होंने जड़वादी अद्वैतवाद सत्ताद्वैतवाद, भावाद्वैतवाद, क्रियाद्वैतवाद और शक्ति अद्वैतवाद का निराकरण किया है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि शंकर ने भारत से द्वैतवाद का प्रायः बहिष्कार ही कर दिया। द्वैतवाद पर आधारित बौद्धमत का पूर्णतया बहिष्कार उनके ही प्रयत्नों से हुआ। पुनः सांख्य, वैशेषिक, मीमांसा आदि के द्वैतवाद भी शंकर के पश्चात् अपने प्राचीन उग्र रूप में न पनप सके और उन पर अद्वैतवाद का प्रभाव ही नहीं पड़ा, अपितु उन्हें अद्वैतवाद तक पहुँचने का सोपान मान लिया गया। भास्कर, रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ, चैतन्य आदि ब्रह्मवादी वेदान्ती शुद्ध भेद या द्वैत का समर्थन नहीं कर सके और वे भी अपने मत को अद्वैत या अभेद से विशिष्ट या संयुक्त करने में लग गये। मध्व ने द्वैतवाद की स्थापना अवश्य की और उनके कट्टर अनुयायियों ने शंकर के अद्वैतवाद के अनेक मतों पर प्रहार भी किया, किन्तु अन्ततोगत्वा उनके सम्प्रदाय के द्वैतवादियों को भी स्वीकार करना पड़ा कि किसी न किसी प्रकार का उत्कट अद्वैतवाद उनके दर्शन में भी है।

4.3 शंकर के अद्वैत वेदान्त का मूल प्रस्थान उपनिषद् है

वेदान्त दर्शन के जितने भी सम्प्रदाय विकसित हुए हैं, उन्होंने यह स्वीकार किया है कि उनका वेदान्त श्रुति पर आधारित है तथा सभी वेदान्ती उपनिषद् को ही वेदान्त का मूल प्रस्थान मानते हैं। शंकराचार्य का अद्वैत वेदान्त मूलतः औपनिषद् दर्शन है। शंकराचार्य युक्तियुक्त रूप से प्रतिपादित किया है कि अद्वैत ही उपनिषदों का दर्शन है और अद्वैत द्वारा ही श्रुतियों की एकवाक्यता सिद्ध की जा

अद्वैतवेदान्त का अर्थ, उद्भव एवं विकास

सकती है। शंकराचार्य ही एक मात्र ऐसे दार्शनिक हैं, जिन्होंने ग्यारह मूल उपनिषदों पर भाष्य रचना की है। वास्तविकता यह है कि शंकराचार्य ने अपने अद्वैत वेदान्त को सुप्रतिष्ठित करने के लिए निम्नलिखित कार्य सम्पादित किये हैं—

- (1) शंकराचार्य ने यह स्पष्ट किया है कि वैशेषिक, न्याय और सांख्य वैदिक दर्शन नहीं है, यद्यपि वे वेद में आस्था प्रकट करते हैं। उनका मानना है कि प्राचीन सांख्य संभवतः ईश्वरवादी था तथा स्वयं को उपनिषद् पर आधारित कहता था और उसके इस दावे का खण्डन महर्षि वादरायण ने 'ब्रह्मसूत्र' में और शंकराचार्य ने अपने भाष्य में किया है। शंकराचार्य ने सांख्य को वेदान्त को 'प्रधानमल्ल' (मुख्य प्रतिद्वन्दी) बताया है और द्वैतवादी होने के कारण उसे श्रुति प्रतिकूल सिद्ध किया है। यद्यपि सांख्य के बहुत से तत्वों को वेदान्त उसी रूप में अपना लिया है या कुछ परिवर्तन के साथ अपना लिया है। किन्तु सांख्य के द्वैतवाद का वे प्रबल रूप से खण्डन किये है।
- (2) शंकर ने पूर्वमीमांसाकृत वेद की कर्मपरक व्याख्या का खण्डन किया है। पूर्वमीमांसा के अनुसार वेद क्रियार्थक हैं तथा वेद के वे भाग जो स्पष्ट रूप से कर्मपरक नहीं हैं परोक्षतया कर्म का अंग बनकर ही सार्थक हो सकते हैं। शंकराचार्य ने इस व्याख्या को उलट दिया और यह सिद्ध किया कि वेद का मुख्य लक्ष्य परम तत्व को प्रकाशित करना है। अतः वेद का ज्ञानपरक मंत्रभाग और उपनिषद् भाग मुख्य है तथा वेद के कर्मपरक तथा उपासना परक भाग गौण हैं, क्योंकि इनका प्रयोजन चित्त शुद्धि है।
- (3) शंकराचार्य ने उपनिषद् एवं ब्रह्मसूत्र के उन प्राचीन व्याख्याकारों (जैसे भर्तृहरि, उपवर्ष आदि) के मत का खण्डन और परिष्कार किया, जो ब्रह्म परिणामवाद या भेदाभेदवाद के पोषक थे। शंकराचार्य ने ब्रह्म परिणामवाद के स्थान पर ब्रह्मविवर्तवाद का और भेदाभेदवाद के स्थान पर अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया।
- (4) शंकराचार्य ने यह स्पष्ट किया कि निर्विशेष या निर्गुण ब्रह्म 'शून्य' नहीं है, यदि 'शून्य' का अर्थ सर्व निषेध हो। 'नेति—नेति' ब्रह्मविषयक निर्वचनों का निषेध करती है, स्वयं ब्रह्म का नहीं। निर्विशेष या निर्गुण ब्रह्मवाद निरपेक्ष अद्वैतवाद है।
- (5) शंकराचार्य ने बौद्ध विज्ञानवाद का मार्मिक खण्डन करके अपने नित्यऔपनिषद् आत्मचैतन्यवाद को उससे पृथक् किया है।
- (6) शंकराचार्य ने सिद्ध किया है कि माया या अविद्या ब्रह्म की अनिर्वचनीय शक्ति के रूप में उपनिषद् सिद्धान्त है। उपनिषद् में तात्त्विक भेद, द्वैत, परिणाम आदि के लिए कोई स्थान नहीं है।

शंकराचार्य के दर्शन के अब तक निरूपण से जो बात स्पष्ट रूप से उभरकर आती है, वह यह है कि शंकराचार्य ने उपनिषदों की व्याख्या विस्तार से की है। उनके अनुसार उपनिषदों में विशुद्ध अद्वैत की शिक्षा दी गयी है। शंकर का अद्वैत वेदान्त औपनिषदीय व्याख्या पर आधारित है। शंकर के अद्वैत वेदान्त का सार श्लोकार्ध में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है— 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैवनापरः' अर्थात् एक मात्र ब्रह्म ही सत्य है जगत् मिथ्या है, और जीव ब्रह्म ही है उससे भिन्न नहीं। ब्रह्म और आत्मा एक हैं दोनों परमतत्त्व के पर्याय हैं। जगत् प्रपंच माया की प्रतीति है। जीव और जगत् दोनों मायाकृत हैं। जिस प्रकार

रज्जु भ्रम में सर्प की प्रतीति होती है और रज्जु का ज्ञान हो जाने पर सर्प भ्रम का बाध हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्म अविद्या या माया के कारण जीव जगत् प्रपंच के रूप में प्रतीत होता है और निर्विकल्पअपरोक्ष ज्ञान द्वारा ब्रह्मानुभव होने पर जीव-जगत् प्रपंच का बाध हो जाता है। यही मोक्ष या आत्मस्वरूप का ज्ञान है।

4.4 शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म की एक मात्र सत्य का अर्थ है—ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता का न होना

शंकराचार्य के दर्शन में ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है, इसका अर्थ केवल यह नहीं है कि ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं है, बल्कि के अन्तर्गत भी कोई दूसरी सत्ता नहीं है। नेह नानास्ति किञ्चन, त्वम् तत् असि, अहं ब्रह्मास्मि, सर्वं खल्विदं ब्रह्म इत्यादि महावाक्य उपनिषद् के वाक्य हैं। यदि ब्रह्म के अन्तर्गत अनेक सत्ताओं का समावेश माना जाएँ, तो इन महावाक्यों की, उपनिषदों की समुचित व्याख्या नहीं की जा सकती है। यह सही है कि कुछ उपनिषदों में इस बात का उल्लेख है कि ब्रह्म या आत्मा के द्वारा संसार की सृष्टि हुई है, किन्तु अन्य उपनिषदों में यहाँ तक वेदों में भी, संसार के उत्पत्ति की तुलना इन्द्रजाल से की गयी है। ईश्वर को मायावी माना गया है, जो अपनी माया शक्ति से संसार की रचना करता है।

4.5 जगत् की सृष्टि ब्रह्म के माया शक्ति के द्वारा होती है

शंकर का यह मानना है कि यदि पारमार्थिक सत्ता एक है, तो संसार की सृष्टि पारमार्थिक दृष्टि से सत्य नहीं है। शंकर का यह कहना है कि ब्रह्म अपनी माया शक्ति के द्वारा संसार का इन्द्रजाल रचता है। शंकर का कहना है कि भ्रम में जो ज्ञान होता है, उस ज्ञान का भी एक अन्य अधिष्ठान होता है, जो सत्य होता है। अज्ञान के कारण ऐसे अधिष्ठानों पर अन्य वस्तुओं का अध्यास या आरोप हो जाता है। अध्यस्त वस्तु सत्य नहीं होती है। इस प्रकार भ्रन्ति या अज्ञान में अधिष्ठान का आवरण हो जाता है। परन्तु अज्ञान में अधिष्ठान का केवल आवरण ही नहीं होता, अपितु विक्षेप द्वारा किसी अन्य वस्तु को उत्थापित भी किया जाता है। शंकर का यह कहना है कि नाना रूपात्मक प्रपंच जगत् की व्याख्या भी अध्यास के रूप में ही की जा सकती है। ब्रह्म एक है, किन्तु अविद्या के कारण उसमें अनेक की प्रतीति होती है। अविद्या के कारण ही ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हमें नहीं हो पाता है। हम उसे नानारूपों में उसी प्रकार देखते हैं, जिस प्रकार किसी जादूगर द्वारा एक ही मुद्रा को कई मुद्राओं में परिणत हुआ दिखलाया जाता है। इस भ्रमात्मक प्रतीति का कारण जादूगर के लिए उसकी जादू दिखाने की शक्ति है, किन्तु हमारे लिए उसका कारण हमारा अज्ञान है। अज्ञानवश हम एक मुद्रा को कई मुद्राओं में देखते हैं। इसी प्रकार यद्यपि ब्रह्म एक है, किन्तु माया के कारण उसके अनेक रूप दिखायी पड़ते हैं, इसके साथ-साथ हमारा अज्ञान भी ब्रह्म के अनेकरूपता का कारण है। हमें यदि अज्ञान न हो, तो हम ब्रह्म के अनेकरूपता के भ्रम में न पड़े। अतः माया और अविद्या वस्तुतः एक ही है, दृष्टि भेद से दो मालूम पड़ती है। यही कारण है कि माया को अज्ञान भी कहा जाता है। यद्यपि शंकर के कुछ आलोचक शंकर पर यह आरोप लगाते हैं कि शंकर विशुद्ध अद्वैतवाद का प्रतिपादन नहीं कर सके, क्योंकि वे ईश्वर और माया जैसे दो तत्त्वों को मानते हैं। किन्तु शंकर पर इस प्रकार का कोई आरोप उचित नहीं ठहरता,

4.6 शंकर ने ब्रह्म के दो रूप माने हैं— निर्गुण ब्रह्म एवं सगुण ब्रह्म

शंकर ने अपने अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म के दो रूपों का वर्णन करते हैं— निर्गुण ब्रह्म एवं सगुण ब्रह्म। उनका यह कहना है कि यद्यपि यथार्थ सत्ता निर्गुण ब्रह्म की ही है किन्तु निर्गुण ब्रह्म जब माया से विशिष्ट होता है, तो वह मायोपहित ब्रह्म कहलाता है। मायोपहित ब्रह्म ही सगुण ब्रह्म है, जिसे शंकर ने ईश्वर की संज्ञा दी है। शंकर का मानना है कि जो मनुष्य विश्व को पूर्णतया ब्रह्ममय देखता है वह ब्रह्म के माया से प्रभावित नहीं होता है और उसके पारमार्थिक रूप में ब्रह्म ही एकमात्र सत्य सत्ता के रूप में दिखायी देता है। वास्तविकता यह है कि शंकराचार्य ने सत्ता के त्रि-स्तरों की कल्पना की है। पारमार्थिक दृष्टि केवल ब्रह्म की सत्य है। व्यावहारिक दृष्टि से संसार भी तब तक सत्य है, जब तक ब्रह्मज्ञान से उसका बाध नहीं होता है। व्यावहारिक दृष्टि से ईश्वर ही जगत् का स्रष्टा, रक्षक तथा पालक है। इस दृष्टि से ईश्वर के अनेक गुण हैं और वह सगुण है। इसी आधार पर शंकर ब्रह्म को सगुण या ईश्वर कहते हैं। सत्ता का एक रूप और है, जिसे शंकर प्रतिभासिक सत्ता कहते हैं। प्रतिभासिक सत्ता वह है, जिसका किसी अन्य ज्ञान से बाध हो जाता है। प्रतिभासिक सत्ता व्यावहारिक सत्ता की अपेक्षा कम सत्य है।

4.7 शंकराचार्य का ब्रह्म सभी प्रकार के भेदों से रहित सत्ता है

आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेदों से रहित सत्ता है। इसीलिए पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म को निर्गुण या निर्विकल्पक कहा जाता है। इस अवस्था में आत्मा और ब्रह्म में कोई भेद नहीं माना जाता है। यह आत्मा का ब्रह्म के रूप में आत्मानुभूति है। यही शंकर का अद्वैत वेदान्त है, जो उनके मौलिक चिन्तन की देन है।

अतएव कहा जा सकता है कि शंकराचार्य का अद्वैत वेदान्त भारतीय दर्शनों का शिरोमणि माना जाता है, क्योंकि उनका स्वयं का यह कथन है कि अद्वैत का किसी से कोई विरोध नहीं है। उनका यह मानना है कि दर्शन केवल बौद्धिक ज्ञान या तर्क मात्र नहीं है बल्कि दर्शन की परिणति तत्त्व साक्षात्कार में होती है। ब्रह्मज्ञान आत्मानुभूति है। शंकराचार्य अपने भाष्य के प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट करते हैं कि अनर्थ—हेतु अविद्या के प्रहणार्थ और आत्मसाक्षात्कार के लिए सब वेदान्त प्रारम्भ होते हैं। इसीलिए उनका यह कहना है कि ब्रह्म जिज्ञासा के पूर्व नित्यानित्यवस्तुविवेक, वैराग्य, शमदमदिसाधनसम्पत् और मुमुक्षुत्व का अभ्यास आवश्यक है। उनका यह कहना है कि ब्रह्मजिज्ञासा बौद्धिक जिज्ञासा नहीं है। इस जिज्ञासा की पूर्णता ब्रह्मावगति में होती है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन वेदान्त की साधना के त्रिविध सोपान हैं।

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि शंकर का जीवन एवं दर्शन विविध विरोधी भावों का समन्वित एक रूप है। वे दार्शनिक भी है और कवि भी, ज्ञानी पण्डित भी हैं एवं सन्त भी, वैरागी भी है और धार्मिक सुधारक भी। उनमें इतने भिन्न-भिन्न प्रकार के दिव्य गुण निहित थे कि यदि हम उनके व्यक्तित्व का स्मरण करें तो भिन्न-भिन्न मूर्तरूप हमारे समक्ष उपस्थित हो जाते हैं। वास्तविकता यह है कि शंकराचार्य एक ऐसे शान्त दार्शनिक थे, जिनका एक मात्र प्रयत्न जीवन तथा विचार के विरोधों का अपनी असाधारण तीक्ष्ण बुद्धि के द्वारा भेद खोल देने के प्रति था। इसलिए उनके विषय में यह कहा जा सकता है कि शंकराचार्य ने दर्शन जगत् में अद्वैत वेदान्त की जो वैचारिक युगान्तकारी क्रान्ति उत्पन्न की थी, वह आज भी जीवित है। यही कारण है कि आज उनका अद्वैत वेदान्त सभी दर्शनों का साध्य एवं निष्कर्ष हो गया। आज सभी दर्शन अद्वैत वेदान्त की ओर गमन कर रहे हैं।

प्रश्नावली

लघु उत्तरीय प्रश्न—

1. शंकराचार्य द्वारा लिखित प्रमुख ग्रन्थों की विशिष्टता पर चर्चा करें।
2. क्या शंकर के अद्वैत वेदान्त का मूल प्रस्थान उपनिषद् है? स्पष्ट करें।
3. जगत की सृष्टि ब्रह्म के मायाशक्ति द्वारा कैसे होती है? स्पष्ट करें।
4. शंकर के ब्रह्म के कितने रूप माने हैं व्याख्या करें।
5. शंकराचार्य के जन्मकाल पर चर्चा करें।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न—

1. शंकराचार्य के जीवन पर निबंध लिखिए।
2. शंकराचार्य के अनुसार, “ब्रह्म सभी प्रकार के भेदों से रहित सत्ता है”। स्पष्ट व्याख्या करें।



MAPH-03

शंकराचार्य का दर्शन

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

खण्ड – 2

शंकराचार्य के पूर्व का अद्वैत वेदान्त

इकाई – 1 51–58
गौडपादाचार्य का अजातिवाद

इकाई – 2 59–68
गौडपाद के अजातिवाद का शंकर पर प्रभाव

इकाई – 3 69–76
अद्वैत वेदान्त की सामान्य विशेषताएं

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

एम.ए.पी.एच.—03 (MAPH-03)

सरंक्षक मार्गदर्शक

प्रो.के.एन. सिंह — कुलपति, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

विशेषज्ञ समिति

- डॉ.आर.पी.एस. यादव — निदेशक, मानविकी विद्याशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
- प्रो. रामलाल सिंह (से.नि.) — दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
- प्रो.दीप नारायण यादव — दर्शनशास्त्र विभाग, पं० दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
- प्रो. द्वारिका — विभागाध्यक्ष, पं० दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
- प्रो. सभाजीत यादव — दर्शनशास्त्र विभाग, महात्मागांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी।
-

लेखक

- डॉ. श्यामकान्त — असिस्टेंट प्रोफेसर, आर्यकन्या डिग्री कालेज, इला० वि.वि. प्रयागराज।
- डॉ. अतुल कुमार मिश्र — शैक्षिक परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
-

सम्पादक

- प्रो. जटाशंकर — पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
-

परिभाषक

- प्रो. आर.पी.एस. यादव — निदेशक मानविकी विद्याशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
-

समन्वयक

- डॉ. अतुल कुमार मिश्र — शैक्षिक परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
-

2020 (मुद्रित)

© ३०२० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज—211021

ISBN-

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को राजर्षि अण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिनियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठ्य सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन — उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज— 211021

प्रकाशक — कुलसचिव, डॉ. अरुण कुमार गुप्ता ३०२० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज —2020

मुद्रक — चंद्रकला यूनिवर्सल प्राइवेट लिमिटेड, 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, प्रयागराज (इलाहाबाद)

प्रस्तावना

इस खण्ड में शंकराचार्य के पूर्व का अद्वैत वेदान्त विमर्श का विषय है। शंकराचार्य के पूर्ववर्ती वेदान्त दर्शन के प्रथम व्याख्याता गौडपाद हैं जिन्होंने अद्वैत वेदान्त को एक दर्शनिक निकाय के रूप में विकसित किया। गौडपाद गोविन्द पाद के गुरु थे जो शंकराचार्य के गुरु रह चुके हैं। इस प्रकार गौडपादाचार्य शंकराचार्य के गुरु रह चुके हैं। इस प्रकार गौडपादाचार्य शंकराचार्य के परमगुरु थे। शंकराचार्य स्वयं माण्डूक्यकारिका के अन्तिम श्लोक में भाष्य में लिखा है कि— “यस्त पूज्याभिपूज्यं परमगुरुमपादपातैर्नतोऽस्मि” अर्थात् उन पूज्यों के भी पूज्य परम गुरु श्री आचार्य गौडपाद ने शरीरक भाष्य में लिखा है कि गौडपादाचार्य के विषय में सभी सहमत हैं कि वे वेदान्त सम्प्रदाय से बिलकुल भिन्न हैं। शंकराचार्य के परम प्रिय योग्य शिष्य सुरेश्वराचार्य ने भी लिखा है कि गौडपादाचार्य उनके लिए परम पूज्य गुरु के रूप में श्रद्धेय है। गौडपाद के दर्शन के दो प्रमुख उद्देश्य थे—प्रथम उपनिषद् के अनुयायियों को वेदान्त दर्शन का औचित्य दिखलाना एवं द्वितीय बौद्धों में वेदान्त दर्शन का प्रचार करना। अपने उदार विचारों के कारण गौडपादाचार्य ने दोनों दर्शनों के सम्मिश्रण के द्वारा अद्वैत दर्शन का प्रतिपादन किया। अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में उन्हें पर्याप्त सफलता मिली।

इकाई-1

गौडपादाचार्य का अजातिवाद

संरचना

- 1.0 उद्देश्य
- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 अजातिवाद का अर्थ
- 1.3 गौडपादाचार्य का सृष्टि सम्बन्धित दृष्टिकोण
- 1.4 अजातिवाद का ऐतिहासिक विकास
- 1.5 अजातिवाद की तार्किक व्याख्या
 - 1.5.1 गौडपादाचार्य 'अजातिवाद' को सिद्ध करने के लिए दूसरा यह तर्क दिया
 - 1.5.2 गौडपादाचार्य अजातिवाद के समर्थन
 - 1.5.3 गौडपादाचार्य अजातिवाद के पक्ष में तर्क देते हुए सांख्य दर्शन के कारण और कार्य में पाये जाने वाले तादात्म्य सम्बन्ध को तार्किक दोष से युक्त मानते हैं
 - 1.5.4 अजल्मा वस्तु से कार्य की उत्पत्ति मानने पर तदनुरूप दृष्टान्त असंभव है
 - 1.5.5 संसार की वस्तुओं को हेतु-फल परम्परा से आबद्ध मनने की स्थिति
 - 1.5.6 अजातिवाद को सिद्ध करना
- 1.6 गौडपादाचार्य, शंकराचार्य के परम गुरु और अद्वैत वेदान्त

1.0 उद्देश्य

(1) गौडपादाचार्य ने अपने ग्रन्थ 'माण्डूक्यकारिका' में जिन चार प्रकरणों का उल्लेख किया है उनमें अद्वैत प्रकरण में जगत् को अजन्मा ब्रह्म बताया है। इसी प्रकरण में वे अजातिवाद का समर्थन करते हुए चित्त की विशेष स्थिति को ब्रह्म कहकर उसकी प्रशंसा की है। गौडपादाचार्य ने आत्मतत्त्व की अनुपत्ति को दिखाकर उसके अभेद दृष्टि की प्रशंसा की है और भेद दृष्टि की निन्दा की है।

(2) माण्डूक्यकारिका के अन्तिम तथा चतुर्थ-प्रकरण में वे अपने अजातिवाद की स्थापना करने के लिए सदासद्, असद्वाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि मतों का खण्डन प्रस्तुत किया है। इन मतों का खण्डन करने के बाद 'अजातिवाद' की

1.1 प्रस्तावना

गौडपादाचार्य ने माण्डूक्य उपनिषद् के रूप में अपनी कारिकाओं को लिखकर जिस ग्रन्थ का प्रणयन किया है उसे 'माण्डूक्यकारिका' के नाम से जाना जाता है। 'माण्डूक्यकारिका' में चार प्रकरणों का उल्लेख किया गया है जिसमें प्रथम प्रकरण को आगम-प्रकरण कहा गया है, जिसमें 'ओंकार' की विस्तृत व्याख्या की गयी है। द्वितीय प्रकरण वैतथ्य प्रकरण है जिसमें यह दिखाया गया है कि संसार में जो द्वैत या नानात्व है वह मायाजन्य है, केवल अद्वैत ही एक मात्र सत्य है और इस प्रकरण में जीव और ब्रह्म के अद्वैत की स्थापना करते हुए संसार के मिथ्यात्व को दिखाया गया है। तृतीय प्रकरण को अद्वैत-प्रकरण कहा गया है और इसमें उत्पत्ति से पूर्व सम्पूर्ण विश्व को अजन्मा ब्रह्म बताया गया है। यहां ब्रह्म से पृथक् किसी जीवात्मा या जगत के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया गया है। इसी प्रकरण में 'अजातिवाद' का समर्थन करते हुए चित्त की विशेष स्थिति को ब्रह्म कहकर उसकी प्रशंसा की गयी है। इस प्रकरण में आत्मतत्त्व की अनुत्पत्ति को दिखाकर उसके अभेद दृष्टि की अनुशंसा तथा भेददृष्टि की निन्दा की गयी है। इस प्रकरण में आत्मा का निरूपण करते हुए यह कहा गया है कि "वह आत्मा अजन्मा, अज्ञानरूप निद्रा से रहित, स्वप्न से शून्य, नाम रूप से रहित और नित्य रूप प्रकाश होने से ज्ञान स्वरूप है। इस प्रकरण की आत्मा में किसी प्रकार का व्यापार संभव नहीं है। वे कहते हैं कि कोई जीव जन्म ग्रहण नहीं करता क्योंकि उसका कोई कारण नहीं है। कहीं किसी के जन्म न होने की जो स्थिति है वही सर्वोत्तम स्थिति है। गौडपाद अन्तिम एवं चतुर्थ प्रकरण को अलात शांति प्रकरण कहते हैं और इस प्रकार में कारणता के प्रचलित विभिन्न सिद्धांतों जैसे सदवाद, असदवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि का खण्डन करके 'अजातिवाद' की प्रतिष्ठा करते हैं।

1.2 अजातिवाद का अर्थ

गौडपादाचार्य का 'अजातिवाद' कारणता सिद्धांत की व्याख्या है तथा उसमें सृष्टि को अनुत्पन्न बताया गया है। 'अजाति' वस्तुतः असंभव है। इस अजातिवाद के आधार पर गौडपाद यह दिखलाते हैं कि परम तत्त्व ब्रह्म नित्य निरपेक्ष है, अतः उसकी उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। नित्य का अर्थ है— त्रिकाल में सदा-सर्वदा एक सा रहने वाला अर्थात् अपरिणामी, उत्पत्ति-विनाश क्रियारहित कूटस्थ, नित्य। इस प्रकार गौडपादाचार्य के अनुसार अद्वैत आत्मतत्त्व ही कूटस्थ नित्य है। यह जाग्रत, स्वप्न सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में अन्तर्यामी है और स्वयं इन तीनों के परे निद्रा (आवरण) और स्वप्न (विक्षेप) रहित अद्वैत या तुरीय है। यह विश्वात्मक एवं विश्वोत्तीर्ण है। यह निर्विकल्प शुद्ध चैतन्य स्वरूप है और समस्त ज्ञान और अनुभव का अधिष्ठान होने के कारण स्वतःसिद्ध एवं स्वयंप्रकाश है। यह स्वभाव से ही अजात है। गौडपादाचार्य का यह कहना है कि अपनी माया शक्ति के कारण यह आत्मतत्त्व विश्व के नानारूपों जड़-जगत के विभिन्न पदार्थों एवं बद्ध जीवात्माओं के रूप में भाषित होता है। जन्ममरण चक्र में फंसे संसारी जीव और जगत में उत्पत्ति-क्रिया-विनाशशीलता से युक्त अनित्य पदार्थ भी वस्तुतः आत्मतत्त्व के मायाकृत आभासमात्र हैं, जो अपने अधिष्ठानभूत आत्मतत्त्व से अभिन्न हैं। इनकी वास्तविक उत्पत्ति नहीं होती, माया के कारण इनकी उत्पत्ति की

प्रतीतिमात्र होती है। विश्व के सम्पूर्ण बुद्धि ग्राह्य उत्पत्ति विनाशशील, परिवर्तन-पतित पदार्थ या जीव अनित्य कार्य रूप या सापेक्ष है। ये न तो सत् हैं न असत् हैं और न सदसत् हैं। अनित्य होने से वे सत् नहीं हैं, प्रतीति होने से वे असत् भी नहीं हैं तथा सदसत् की कल्पना विरोधपूर्ण है। अतः सदसत् अनिवर्चनीय होने के कारण सदसत् अचिन्त्य होने के कारण मायाजनित या मिथ्या या वितथ है। जो मायाजनित है, वे वस्तुतः अनुत्पन्न है। अतः न तो आत्मतत्त्व की और न जड़ पदार्थ तथा चेतन जीव रूपी जगत प्रपंच की उत्पत्ति या जाति सिद्ध होती है। जाति सर्वथा असिद्ध होने के कारण 'अजातिवाद' की सिद्धि होती है।

1.3 गौडपादाचार्य का सृष्टि सम्बन्धित दृष्टिकोण

गौडपादाचार्य का कहना है कि कुछ लोग सृष्टि को ईश्वर की विभूति मानते हैं, कुछ लोग उसे स्वप्न या माया के समान बताते हैं, कुछ उसे ईश्वर की इच्छा मानते हैं, अन्य लोग उसे कालसृष्टि कहते हैं, कुछ अन्य उसे भोग के लिए बतलाते हैं और कुछ का मत है कि सृष्टि ईश्वर की क्रीड़ा मात्र है। परन्तु आचार्य गौडपाद के अनुसार आप्तकाम ईश्वर की क्या इच्छा हो सकती है? अतः सृष्टि आत्मतत्त्व या ब्रह्मतत्त्व का स्वभाव है अर्थात् सृष्टि ब्रह्म से भिन्न नहीं है। सृष्टि वास्तविक नहीं है, आभासिक है, मायाजनित भ्रान्ति है। भेद असत् है, अभेद सत् है। द्वैत माया है, अद्वैत परमार्थ है। वास्तविकता यह है कि दर्शनशास्त्र में जगत या सृष्टि के सम्बन्ध में तीन प्रकार के सिद्धांत प्रचलित हैं— दृष्टिसृष्टिवाद, सृष्टिदृष्टिवाद और अजातिवाद। दृष्टिसृष्टिवाद के अनुसार दृष्टि के ही क्षण सृष्टि होती है। इसमें जगत को प्रतिभासिक माना जाता है। स्वप्न दृष्टिसृष्टिवाद का एक उत्तम उदाहरण है। आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में इसे बर्कले का सत्ता दृश्यता है तथा समकालीन पाश्चात्य दर्शन की भाषा में इसे प्रत्यक्ष का क्रियाविशेषण सिद्धांत कहते हैं। सृष्टि दृष्टिवाद सिद्धांत के अनुसार जगत—मनुष्य सृष्टि न होकर ईश्वर सृष्टि है। ईश्वर सर्वप्रथम जगत की सृष्टि करता है और उसके बाद वह हमारे लिए दृश्यमान जगत के रूप में प्रकट होता है। पाश्चात्य दर्शन की भाषा में इसे वस्तुनिष्ठ विज्ञानवाद एवं सृष्टि दृष्टिवाद, इन दोनों ही सिद्धांतों से भिन्न रूप में गौडपाद ने अपने अजातिवाद को प्रस्तुत किया है, जिसमें यह माना जाता है कि जगत न कभी था, न है और न होगा। जगत की सत्ता विलकुल अलीक है। परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाए तो दृष्टिसृष्टिवाद, सृष्टिदृष्टिवाद और अजातिवाद में ऊपर से देखने पर भले ही विरोध दिखायी पड़ रहा हो, मूल रूप से उसमें कोई विरोध नहीं है। वस्तुतः तीनों ही सिद्धांतों के अनुसार भ्रम वस्तु न पहले थी, न अब है और न भविष्य में ही रहेगी। भ्रम वस्तु तीनों ही कालों बिलकुल असत् है।

1.4 अजातिवाद का ऐतिहासिक विकास

अजातिवाद कोई नवीन सिद्धांत नहीं है, जिसे गौडपादाचार्य ने सर्वथा क्रान्तिकारी विचारधारा के रूप में प्रतिपादित किया। गौडपादाचार्य के अजातिवाद का मूल बीज उपनिषदों में ही सन्निहित है, इसीलिए वे अजातिवाद का मूल स्रोत श्रुतियों का ही सामंजस्य और एकवाक्यता है। श्रुतियां स्पष्ट रूप से अद्वैत का प्रतिपादन और द्वैत का निषेध करती हैं। गौडपादाचार्य श्रुतियों के इस विचार को विशेष महत्व देते हुए तथा श्रुति के इस वाक्य को स्वीकार करते हैं, जिसमें यह कहा गया है कि 'अजायमानो बहुधा विजायते' अर्थात् जो वस्तुतः अजन्मा तथा अजात है, वह माया से ही अनेक रूपों में जायमान के समान प्रतीत होता है।

शंकराचार्य के पूर्व का अद्वैत वेदान्त

बृहदारण्यक उपनिषद् में यह कहा गया है कि 'अजायमानो बहुधा मायया जायते तु सः' अर्थात् उत्पत्ति या भेद को मायिक प्रतीति बताकर तात्विक उत्पत्ति या भेद का निषेध करते हैं, माण्डूक्य उपनिषद् में भी अजातिवाद की प्रतिष्ठा की गयी है। तत्व के विषय में कहा गया है कि वह बाहर और भीतर दोनों ओर से अज है।" योगवाशिष्ठ में भी कई स्थानों पर अजातिवाद के विषय में उद्धरण मिलता है। माण्डूक्यकारिका का प्रमुख प्रतिपाद्य सिद्धांत ही अजातिवाद है। माण्डूक्य कारिका में यह कहा गया है कि –

“ भूतं न जायते किचिद्भूतं नैव जायते।

विवदन्तोऽद्वया ह्येवम् अजाति ख्यापयन्ति ते।।”

अर्थात् जो वस्तु आदि और अन्त में असत् है, वह वर्तमान में भी असत् ही मानी जाती है। मृगतृष्णा असद् वस्तुओं के समान होते हुए भी अज्ञानियों द्वारा सदरूप में ही समझी जाती है। इस प्रकार श्रुति सृष्टि कारण का निषेध करती है। अतः अजातिवाद श्रुति सिद्धांत के रूप में सिद्ध है। वस्तुतः गौडपादाचार्य ने अपने माण्डूक्यकारिका में जिस अजातिवाद सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं, उसे बुद्धदेव ने उपनिषदों से ग्रहण किया और जिसका विकास बुद्धोपदेश के रूप में माध्यमिक दर्शन में मिलता है। बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन ने अपने मूल माध्यमिक कारिका 'अजातिवाद' को निम्न शब्दों में व्यक्त किया है –

न स्वतो न परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।

उत्पन्नो जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन।।

अर्थात् किसी भी वस्तु की उत्पत्ति न स्वयं से, न किसी अन्य वस्तु से, न तो दोनों से और न ही दोनों के निषेध से हो सकती है। वस्तु की उत्पत्ति बिल्कुल असंभव है। अपनी बात को और भी अधिक पुष्ट करने के लिए नागार्जुन ने यह भी कहा है कि “ नैवाग्रं नावरं यस्य तस्य मध्यं कुतो भवेत्। तस्मान्नात्रोत्पद्यन्ते पूर्वापर सहक्रमाः।।” अर्थात् जो आदि में नहीं है और न अन्त में है, वह मध्य में किस प्रकार हो सकता है? वास्तव में बौद्ध दर्शन में 'अजातिवाद' सिद्धांत का विकास प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धांत से हुआ है। प्रतीत्यसमुत्पाद में यह प्रतिपादित किया गया है कि ऐसी प्रतीति होती है कि उत्पत्ति हो रही है, पर वास्तव में कोई उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् यह बिल्कुल असंभव है कि पहले क्षण के नष्ट हो जाने पर दूसरे क्षण की उत्पत्ति होती है।

1.5 अजातिवाद की तार्किक व्याख्या

गौडपादाचार्य का यह कहना है कि अजातिवाद की सिद्धि केवल श्रुति और बौद्ध दर्शन के ही आधार पर ही नहीं होती है, अपितु तर्क से भी अजातिवाद की सिद्धि होती है। गौडपादाचार्य वास्तविक कारण-कार्यवाद का खण्डन किया है तथा इसे अविद्या प्रसूत माना है। गौडपादाचार्य ने सांख्य के सत्कार्यवाद एवं न्याय वैशेषिक के असत्कार्यवाद का खण्डन करते हैं। गौडपादाचार्य का कहना है कि यदि कार्य सत् है तो वह पूर्व में ही उत्पन्न है और उत्पन्न की पुनरुत्पत्ति निरर्थक है। यदि कार्य असत् है तो वह आकाशकुसुम या बन्ध्यापुत्र के समान है और उसकी उत्पत्ति असंभव है। इस प्रकार वे यह दिखलाते हैं कि सदसत्कार्यवाद विरोध युक्त कल्पना है, क्योंकि सत् और असत् प्रकाश और अन्धकार के समान एक साथ नहीं रह सकते। इस प्रकार सदसत्कार्यवाद में पारस्परिक विरोध को

दिखाते हुए गौडपादाचार्य 'अजातिवाद' की प्रतिष्ठा करते हुए यह कहते हैं कि जो सत् है वह अजात और अमृत है। यदि इसकी उत्पत्ति मानी जाय तो इसमें विकार मानना पड़ेगा और ऐसी स्थिति में उसे मर्त्य मानना पड़ेगा, किन्तु अजात और अमृत (जन्म मरण रहित) तो कभी मर्त्य नहीं हो सकता क्योंकि सत् का स्वभाव का कभी परिणाम या अन्यथा भाव सम्भव नहीं है। असत् की उत्पत्ति तो सर्वथा असंभव है क्योंकि बन्ध्या का पुत्र न तो यथार्थतः उत्पन्न होता है और न ही माया से उत्पन्न हो सकता है। सत् की वास्तविक उत्पत्ति भी असंभव है क्योंकि उनका तात्त्विक अन्यथा भाव नहीं हो सकता। अतः सत् की माया से ही उत्पत्ति मानी जा सकती है, जो भ्रांति होने के कारण वस्तुतः अनुत्पन्न है।

1.5.1 गौडपादाचार्य 'अजातिवाद' को सिद्ध करने के लिए दूसरा यह तर्क दिया

स्वतो वा परतो वाऽपि न किञ्चिद्वस्तु जायते।

सदसत्सद्सद्वाऽपि न किञ्चिद्वस्तु जायते।।

अर्थात् कोई वस्तु न अपने से या दूसरे से या दोनों से अर्थात् सत्, असत् और सदसत् उभयरूप वाली से उत्पन्न नहीं होती। न घट से वही घट उत्पन्न हो सकता है और न घट से पट ही उत्पन्न हो सकता है। वे तर्क करते हुए कहते हैं कि यदि कोई यह कहे कि मिट्टी से घट तथा पिता से पुत्र उत्पन्न होते हुए देखा गया है तो इसके उत्तर में वे कहते हैं कि 'उत्पन्न' होने की बात (शब्द और प्रत्यय) केवल अज्ञानियों को ही प्रतीत होती है, ज्ञानियों को नहीं। श्रुति कहती है—शब्द और प्रत्यय के विषय घटपुत्रादि रूप वस्तु शब्द मात्र ही है, वास्तव में मिट्टी या पिता ही एक मात्र सत्य है। इसके 'अतिरिक्त जिन बौद्धों के मत में 'जनि' क्रिया ही उत्पन्न होती है और इस प्रकार क्रिया, कारक और फल का एकत्व तथा वस्तु में क्षणिकत्व है, उनका यह मत ठीक नहीं हो सकता क्योंकि 'यह ऐसा है' इस प्रकार का निश्चय पदार्थ की स्थिति न रहने के कारण असंभव है।

1.5.2 गौडपादाचार्य अजातिवाद के समर्थन

गौडपादाचार्य अजातिवाद के समर्थन में एक अन्य तर्क देते हुए यह प्रश्न उठाते हैं कि संसार में हमें हेतुफल का प्रतिदिन प्रत्यक्ष होता है। हम संसार में विभिन्न हेतुओं से फल की उत्पत्ति होते देखते हैं कि संसार अजातिवाद से शासित है? इसके उत्तर में गौडपाद कहते हैं कि 'हेतु' और 'फल' के अनादित्व से इन दोनों की अनुत्पत्ति माननी पड़ेगी। कारण रहित पदार्थ का जन्म होते नहीं देखा गया है तथा आदि रहित फल से हेतु उत्पन्न नहीं होता। जिनकी कभी उत्पत्ति नहीं हुई ऐसे अनादि फल रूप शरीर से धर्माधर्म रूप हेतु की उत्पत्ति अभीष्ट नहीं हो सकता। न तो ऐसा ही हो सकता है, आदि रहित अजन्मा हेतु से बिना किसी निमित्त के ही स्वभाव से फल उत्पन्न हो जाता है। अतः हेतु और फल का अनादित्व मानने वाले को उनकी अनुत्पत्ति माननी ही पड़ेगी। गौडपादाचार्य माण्डूक्य कारिका में कहते हैं कि—

हेतुर्नजायतेऽनादेः फलं चापि स्वभावतः।

आदिर्नविद्यते यस्य तस्य ह्यादिर्नविद्यते।।

अर्थात् लोक में जिसका कारण नहीं होता उसका जन्म भी नहीं होता। कारण वाले पदार्थ का ही जन्म होते देखा गया है।

15.3 गौडपादाचार्य अजातिवाद के पक्ष में तर्क देते हुए सांख्य दर्शन के कारण और कार्य में पाये जाने वाले तादात्म्य सम्बन्ध को तार्किक दोष से युक्त मानते हैं।

उनका कहना है कि सांख्य दर्शन के कारण और कार्य में तादात्म्य सम्बन्ध पाया जाता है। कारण और कार्य में तादात्म्य सम्बन्ध के साथ-साथ सांख्य दर्शन यह भी कहता है कि प्रधान या प्रकृति से महत्, अहंकार और मन इत्यादि उत्पन्न होते हैं, किन्तु सांख्य के इस सिद्धांत में कई तार्किक दोष दिखायी पड़ते हैं। यदि अजन्मा प्रकृति से परिणाम द्वारा अन्य तत्व उत्पन्न होते हैं और कारण—कार्य में तादात्म्य सम्बन्ध पाया जाता है, तो इसका परिणाम यह होगा कि कारण कार्य के समान अनित्य तथा कार्य कारण के समान नित्य हो जाएगा, जिसे सांख्य भी स्वीकार नहीं कर सकता। गौडपाद कहते हैं कि “जिसके मत में कारण ही कार्य है, उसमें कारण रूपा प्रकृति अन्य तत्वों को उत्पन्न करती है। ऐसी स्थिति में जन्म लेने वाला अज कैसे होगा और विकार वाला नित्य कैसे कहा जाएगा।”

शंकराचार्य ने गौडपादाचार्य के उपर्युक्त कथन पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि यदि नित्य कारण अनित्य कार्य को उत्पन्न करता है तो यह उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार मुर्गी एक एक भाग पकाया जाय और दूसरा भाग अण्डे देने के लिए सुरक्षित रखा जाय।

1.5.4 अजल्मा वस्तु से कार्य की उत्पत्ति मानने पर तदनुरूप दृष्टान्त असंभव है

गौडपादाचार्य इस प्रश्न पर भी तार्किक दृष्टि से विचार करते हैं कि यदि यह मान लिया जाए कि अजन्मा वस्तु कार्य को उत्पन्न करती है, तो निश्चित रूप से उनके मत में तदनुरूप दृष्टान्त नहीं मिलता। इसके विपरीत यदि किसी उत्पन्न होने वाली वस्तु से कार्य की उत्पत्ति मानी जाएगी, तो इससे हमारे चिन्तन में अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी, क्योंकि एक उत्पन्न वस्तु दूसरी उत्पन्न वस्तु के ऊपर, दूसरी उत्पन्न वस्तु तीसरी उत्पन्न वस्तु के ऊपर आश्रित होगी। इस प्रकार उसके भीतर अनवस्था दोष की प्राप्ति का प्रसंग अवश्य उपस्थित होगा।

1.5.5 संसार की वस्तुओं को हेतु—फल परम्परा से आबद्ध मनने की स्थिति

गौडपादाचार्य अजातिवाद के तार्किक सिद्धि के लिए इस प्रश्न पर भी विचार करते हैं कि यदि यह मान लिया जाए कि संसार की वस्तुएं हेतु—फल परम्परा में आबद्ध हैं तो हमारे समक्ष दो प्रश्न उपस्थित होंगे, प्रथम विकल्प में हेतु—फल परम्परा में पौर्वापर्य (अनुक्रम) की कल्पना करनी पड़ेगी अथवा दोनों को युगपद् मानना पड़ेगा।

(1) यदि हेतु फल के बीच पौर्वापर्य (अनुक्रम) सम्बन्ध मान लिया जाए, तो इसका अनुसन्धान करना कठिन है कि कौन पहले आता है और कौन बाद में आता है। जिस प्रकार बीज—वृक्ष के बीच निश्चय करना कठिन है कि बीज पहले आता है कि वृक्ष, उसी प्रकार हेतु—फल के बीच भी पूर्वापर क्रम का निर्णय करना कठिन है।

(2) यदि यह कहा जाए कि हेतु फल पर आश्रित है और फल हेतु पर आश्रित है तो इसका परिणाम यह होगा कि पिता पुत्र को उत्पन्न करता है और पुत्र पिता को उत्पन्न करता है, जो असम्भव है।

(3) यदि यह कहा जाए कि हेतु-फल युगपद् होते हैं, तो ऐसा असंभव है, क्योंकि ऐसा होने पर बैल के दो सींगों के बीच कारण-कार्य सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ेगी।

1.5.6 अजातिवाद को सिद्ध करना

गौडपादाचार्य अजातिवाद के समर्थन करने के लिए गौडपाद ने एक तार्किक आधार भी प्रस्तुत किया है। प्रायः कार्य-कारण के सम्बन्ध में चार प्रकार के मत प्रतिपादित किए जाते हैं –

- (1) असत् कारण से असत् कार्य की उत्पत्ति
 - (2) असत् कारण से सत् कार्य की उत्पत्ति
 - (3) सत् कारण से सत् कार्य की उत्पत्ति
 - (4) सत् कारण से असत् कार्य की उत्पत्ति
- (i) गौडपादाचार्य का कहना है कि 'असत् कारण से असत् कार्य की उत्पत्ति' विकल्प युक्ति युक्त नहीं है; क्योंकि शशश्रृंग से आकाश कुसुम की उत्पत्ति कहीं भी दिखायी नहीं देती।
 - (ii) दूसरा विकल्प 'असत् कारण से सत् कार्य की उत्पत्ति' भी असम्भव है क्योंकि शशश्रृंग से घटादि की उत्पत्ति असंभव है।
 - (iii) तीसरा विकल्प 'सत् कारण से सत् कार्य की उत्पत्ति' भी असम्भव है क्योंकि जो पहले से ही सत् है उसकी उत्पत्ति का कोई प्रयोजन ही नहीं है।
 - (iv) चौथा विकल्प से सत् कारण का कार्य असत् नहीं हो सकता, क्योंकि भाव से अभाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

अतएव यह कहा जा सकता है कि विवेकियों ने यह निष्कर्ष निकाला कि किसी भी वस्तु का कारण-कार्य भाव निश्चित नहीं है। इस प्रकार गौडपादाचार्य ने यह निष्कर्ष निकाला कि यदि कारण कार्य के पौर्वापर्य का हमें ज्ञान नहीं है, तो यह हमारी सबसे बड़ी दुर्बलता है। इसमें क्रम का भी भंगदोष अर्थात् क्रम का भी अन्यथाभाव उत्पन्न होता है। ऐसी स्थिति में हम कैसे कह सकते हैं कि कारण पूर्ववर्ती और कार्य परवर्ती है, जो कारणता के लिए आवश्यक है। यही कारण है कि गौडपादाचार्य 'अजातिवाद' को एक युक्ति-युक्त सिद्धांत के रूप में प्रतिपादन करने में सफल होते हैं।

1.6 गौडपादाचार्य, शंकराचार्य के परम गुरु और अद्वैत वेदान्त

गौडपादाचार्य, शंकराचार्य के परम गुरु और अद्वैत वेदान्त के अत्यन्त आदरणीय आचार्य हैं जिसकी 'माण्डूक्यकारिका' अद्वैत वेदान्त का प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ है। गौडपादाचार्य ने उपनिषद् को वेदान्त का मूल प्रस्थान मानकर उसके सिद्धांतों को समग्र रूप में अपनी श्रौत परम्परा के अनुसार विकसित किया। गौडपादाचार्य का अजातिवाद वस्तुतः निरपेक्ष ब्रह्मवाद एवं मायावाद ही है। गौडपादाचार्य इसे उपनिषद् सिद्धांत सिद्ध किया है तथा अनेक श्रुतियों के उदाहरण द्वारा अजातिवाद को एक सुसंगत सिद्धांत के रूप में प्रतिपादित करने का दावा किया है। गौडपादाचार्य के इस अजातिवाद को बुद्धदेव ने निरपेक्ष अद्वैतवाद के रूप

शंकराचार्य के पूर्व का अद्वैत वेदान्त

में ग्रहण किया था तथा माध्यमिक दर्शन में इसका विकास हुआ। 'अजातिवाद' या निरपेक्ष अद्वैतवाद बौद्धों या बुद्धदेव का मौलिक सिद्धांत नहीं है। गौडपादाचार्य ने अपने अजातिवाद द्वारा यह प्रतिपादित किया है कि निरपेक्ष अद्वैत ब्रह्म अपनी अनादि माया या अविद्या शक्ति के कारण अनेक जीवों एवं जगत के रूप में आभासित होता है। अजातिवाद द्वारा गौडपादाचार्य यह दिखाते हैं कि आत्मतत्त्व या ब्रह्म अविनाशी और अजन्मा है। अविनाशी वही होता है, जो अनुत्पन्न होता है। जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका विनाश होना भी अनिवार्य है। इसीलिए गौडपादाचार्य तत्त्व को 'अजाति' कहा है। जिसकी जाति (उत्पत्ति) न हो, उसे 'अजाति' कहते हैं। गौडपादाचार्य के अजातिवाद को शंकर ने और सुसंगत तथा व्यवस्थित रूप प्रदान करके उसे ब्रह्म की माया का आवरण और विक्षेप शक्ति के रूप में परिवर्तित कर दिया और यह आवरण और विक्षेप ही सम्पूर्ण सृष्टि को उत्थापित करता है। इस प्रकार शंकराचार्य ने गौडपादाचार्य के अद्वैत को उसकी पराकष्टा पर पहुँचाया।

प्रश्नावली

लघु उत्तरीय प्रश्न—

1. अजातिवाद का क्या अर्थ है?
2. अजातिवाद की तार्किक व्याख्या करें।
3. गौडपादाचार्य अजातिवाद का समर्थन किस प्रकार करते हैं स्पष्ट करें।
4. अजातिवाद का विकास किस प्रकार हुआ?
5. संसार की वस्तुओं को हेतु फल परम्परा से आबद्ध मानने की स्थिति को स्पष्ट करें?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न—

1. गौडपादाचार्य के अजातिवाद पर एक निबंध लिखिए।
2. अजातिवाद को सिद्ध करने की विस्तृत व्याख्या करें।

इकाई-2

गौडपाद के अजातिवाद का शंकर पर प्रभाव

संरचना

- 2.0 उद्देश्य
- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 गौडपाद के अद्वैत वेदान्त का शंकराचार्य पर प्रभाव
- 2.3 गौडपादकृत माण्डूक्यकारिका का प्रमुख प्रतिपाद्य
- 2.4 माण्डूक्यकारिका का द्वितीय 'वैतथ्य प्रकरण'
- 2.5 माण्डूक्य कारिका का तृतीय अद्वैत प्रकरण
- 2.6 माण्डूक्यकारिका का चतुर्थ अलात शान्ति प्रकरण
- 2.7 अद्वैत वेदान्त के केन्द्रीय सिद्धांत के रूप में गौडपाद का अजातिवाद
 - 2.7.1 गौडपादाचार्य के माण्डूक्य कारिका की विषय-वस्तु
 - 2.7.2 गौडपादाचार्य के माण्डूक्यकारिका का अद्वैत प्रकरण
 - 2.7.3 माण्डूक्य कारिका में ऊँकार की व्याख्या

2.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में गौडपाद द्वारा प्रतिपादित 'अजातिवाद'सिद्धांत का शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त पर होने वाले प्रभाव का आकलन किया गया है। गौडपादाचार्य अपने माण्डूक्य कारिका के तृतीय प्रकरण का नाम ही अद्वैत प्रकरण रखा है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने अपने 'अजातिवाद' सिद्धांत द्वारा द्वैत का निराकरण कर अद्वैत की स्थापना किया है। गौडपादाचार्य अपने अजातिवाद में यह दिखाया है कि ब्रह्म वह परम तत्व है जो बाहर और भीतर दोनों से ही अज है। इसीलिए गौडपाद ने उत्पत्ति से पूर्व सम्पूर्ण जगत् को अजन्मा ब्रह्म बताया है। यहाँ ब्रह्म से पृथक् किसी जीवात्मा या जगत् कि अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया गया है। इसी प्रकरण में अजातिवाद का समर्थन करते हुए चित्त की विशेष स्थिति को ब्रह्म कहकर उसकी महत्ता को दर्शाया गया है। जगत् और जीव की अनुत्पत्ति को दिखाते हुए जगत् और जीव को अविनाशी ब्रह्म का स्वभाव बताया गया है। गौडपाद ने अपने अजातिवाद के द्वारा ब्रह्म को एकमात्र सत् के रूप में प्रतिष्ठापित करते हैं और जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करते हैं। निश्चित रूप से गौडपाद के अजातिवाद का शंकराचार्य पर व्यापक प्रभाव पड़ा है, क्योंकि शंकराचार्य का अद्वैत-वेदान्त उनकी इस श्लोकार्द्ध पर ही आधारित है कि "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवा ब्रह्मैवनापरः।"

2.1 प्रस्तावना

प्रस्थानत्रयी में उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र एवं श्रीमद्भगवद्गीता को सम्मिलित किया जाता है। उपनिषद् को 'श्रुति-प्रस्थान' ब्रह्मसूत्र को 'न्याय-प्रस्थान' एवं श्रीमद्भगवद्गीता को 'स्मृति-प्रस्थान' के रूप में अभिहित किया जाता है। प्रस्थानत्रयी में उपनिषद् को ही मूल प्रस्थान कहा जाता है। सर्वप्रथम उपनिषदों को श्रुति के रूप में स्वीकार करते हुए उसकी प्रमुख दार्शनिक शिक्षाओं को वादरायण ने अपने 'ब्रह्मसूत्र' में सूत्रबद्ध किया, जो आगे चलकर वेदान्त के प्रथम व्याख्याता आचार्य गौडपाद द्वारा एक दार्शनिक निकाय के रूप में विकसित किया गया। गौडपाद उपनिषदों की शिक्षाओं को अपने ग्रन्थ 'माण्डूक्य कारिका' में संकलित एवं व्याख्यायित कर एक ओर उपनिषद् के अनुयायियों को वेदान्त दर्शन की उपादेयता से अवगत कराया, तो दूसरी ओर बौद्ध अनुयायियों में वेदान्त दर्शन का प्रचार किया। अपने उदार विचारों के कारण गौडपाद ने उपनिषद् के मूल सिद्धांतों के साथ बौद्ध सिद्धांतों का समन्वय करते हुए अद्वैत वेदान्त को व्यापक जनाधार प्रदान करने का प्रयास किया। गौडपाद गोविन्दपाद के गुरु थे और गोविन्दपाद शंकराचार्य के गुरु थे। ऐसी स्थिति में गौडपाद के द्वारा अद्वैत वेदान्त के जिन सिद्धांतों पर विचार किया गया और उसके पक्ष में जो तर्क दिये गये हैं, उसका प्रभाव शंकराचार्य पर पड़ना स्वाभाविक था। गौडपाद ने यह प्रतिपादित किया कि संसार में जो द्वैत है, नानात्व है, वह मायाजन्य है, परमार्थतः केवल अद्वैत ही एकमात्र सत् है। शंकराचार्य ने अद्वैत वेदान्त के सम्बन्धित गौडपाद के विचार को और अधिक व्यवस्थित रूप देते हुए यह प्रतिपादित किया कि ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्याजीवोब्रह्मैवनापरः अर्थात् ब्रह्म ही एकमात्र सत् है, जगत् मिथ्या है, जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है।

2.2 गौडपाद के अद्वैत वेदान्त का शंकराचार्य पर प्रभाव

यद्यपि शंकराचार्य के पूर्व भर्तृप्रपंच आदि कुछ आचार्य हुए, किन्तु उन्होंने उस अद्वैत दर्शन का प्रतिपादन नहीं किया जो शंकराचार्य को अभीष्ट था। भर्तृप्रपंच को भेदाभेदवादी कहा जा सकता है, न कि अद्वैतवादी। इसी प्रकार द्रविडाचार्य को अद्वैतवादी कहना कठिन हो जाता है क्योंकि अद्वैतवादी और विशिष्टाद्वैतवादी दोनों ही उन्हें अपने सिद्धांतों के समर्थक के रूप में उद्धृत करते हैं। इसलिए पूर्ववर्ती अद्वैत ने पूर्ण रूप से आदर देते हुए उन्हें अद्वैत वेदान्त के प्रथम व्याख्याता के रूप में स्वीकार किया है। गौडपाद के समय में दर्शन के क्षेत्र में बौद्धों का अत्यधिक प्रभाव था इसलिए जन सामान्य में 'श्रुति' की महत्ता को दर्शाना तथा बौद्ध मत के समर्थकों को भी श्रुति के प्रति उदार भाव अपनाने के लिए प्रेरित करना उनके समक्ष प्रमुख चुनौती थी। गौडपाद ने इस चुनौती को श्रुति एवं बौद्ध दर्शन के सम्मिलित रूप में दार्शनिक निकाय का विकास करके किया और जिस अद्वैत वेदान्त की पृष्ठभूमि वादरायण ने अपने ब्रह्मसूत्र के रचना के द्वारा तैयार किया था, उसे माण्डूक्यकारिका की रचना के द्वारा एक व्यवस्थित विचारधारा के रूप में विकसित करना था। बौद्धों का सत्य अनिर्वचनीय और अपरिभाष्य है, गौडपाद ने उसके स्थान पर आत्मा एवं ब्रह्म को रखकर उस अनिर्वचनीयता और अपरिभाष्यता का परिहार करते हुए पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म की एकमात्र निरपेक्ष सत्ता का प्रतिपादन किया।

2.3 गौडपादकृत माण्डूक्यकारिका का प्रमुख प्रतिपाद्य

गौडपाद के अजातिवाद
का शंकर पर प्रभाव

गौडपाद ने अपने 'माण्डूक्यकारिका' के रचना के द्वारा अद्वैत वेदान्त के सम्यक विकास के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया था। गौडपाद के 'माण्डूक्यकारिका' में अद्वैत वेदान्त से सम्बन्धित विचारों को चार प्रकरणों में किया है, जिसमें प्रथम प्रकरण को आगम प्रकरण कहा गया है, जिसमें चैतन्य की चार अवस्थाओं जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय अवस्था का निरूपण करने के साथ-साथ शरीर तथा आत्मा और ब्रह्म के विभिन्न रूपों का विशद वर्णन किया गया है। इसी प्रकरण में यह दिखाया गया है कि परम ब्रह्म का ज्ञान केवल तुरीयावस्था में ही संभव है। इस प्रकरण में माण्डूक्य उपनिषद् की व्याख्या के अतिरिक्त 'ऊँकार' की व्याख्या की गयी है। गौडपाद कहते हैं कि 'अनादि माया के प्रभाव से सोया हुआ जीव जब जागता है, तब वह अजन्मा, निद्रारहित, स्वप्न रहित, अद्वैत तत्व का ज्ञान प्राप्त करता है।' इसी प्रकरण में जगत् की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न दार्शनिकों के विचारों को उद्धृत कर उसका खण्डन किया गया है। गौडपादाचार्य का यह मानना है कि ईश्वर के लिए सृष्टि का कोई प्रयोजन नहीं है। सृष्टि ईश्वर का स्वभाव है। गौडपादाचार्य ने सृष्टि की रचना को स्वप्नवत् बताया है और प्रपंचात्मक जगत् की व्याख्या के लिए 'माया' शब्द का भी प्रयोग किया है। उनका मानना है कि प्रपंचात्मक जगत् में जो द्वैत है, नानात्व है तथा विविधता है वह मायाजन्य है, क्योंकि अद्वैत ब्रह्म अजन्मा है और उसमें किसी प्रकार का द्वैत नहीं है। गौडपाद ने इसी प्रकरण में जीव एवं ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन किया है तथा प्रपंचात्मक जगत् के नानात्व का कारण माया को ठहराया गया है।

2.4 माण्डूक्यकारिका का द्वितीय 'वैतथ्य प्रकरण'

माण्डूक्यकारिका का द्वितीय प्रकरण वैतथ्य प्रकरण है जिसमें संसार की वस्तुओं की 'अयथार्थता' या वैतथ्य को प्रदर्शित किया गया है। इस प्रकरण में सांसारिक वस्तुओं का स्वप्न दृश्य के समान मिथ्यात्व दिखाया गया है। यहां गौडपाद ने यह दिखाया है कि जिस प्रकार स्पृजावस्था में चित् में कल्पना किये गये पदार्थ बाहर देखे जाते हैं और असत्य होते हैं उसी प्रकार जागृतावस्था में भी मानसिक और इन्द्रियग्राह्य दोनों ही पदार्थ असत्य होते हैं। गौडपादाचार्य का यह कहना है कि माया कि कारण आत्मदेव अव्यक्त वासना के रूप में स्थित भेदभाव समूह को व्यक्त करता है। यह प्रकरण शंकराचार्य के अध्यास की व्याख्या के लिए आधारभूमि प्रदान करता है।

2.5 माण्डूक्य कारिका का तृतीय अद्वैत प्रकरण

गौडपाद ने माण्डूक्यकारिका के तृतीय प्रकरण को 'अद्वैत प्रकरण' कहा है। इस अद्वैत-प्रकरण में गौडपाद शंकराचार्य के ब्रह्म विषयक अवधारणा का पूर्वाभास दे देते हैं, जिसे शंकराचार्य ने अपने अद्वैत वेदान्त में परमार्थतः एकमात्र सत् माना है। इस प्रकरण में ब्रह्म को सभी प्रकार के द्वैत से अतीत बताया गया है किन्तु अद्वैत ब्रह्म अपनी माया शक्ति के द्वारा जीवात्मा और जगत् को उत्पन्न करता है। जीवात्माएं और जगत् ब्रह्म की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। जीवात्मा एवं जगत् दोनों के भीतर ब्रह्म किसी न किसी रूप में उपस्थित रहता है। वास्तविकता यह है कि गौडपाद के अनुसार जीवात्मा ज्ञाता है और जगत् ज्ञेय है। इसलिए ज्ञाता और ज्ञेय परस्पर सापेक्ष सत्ताएं हैं। एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती है।

इस प्रकरण में उत्पत्ति से पूर्व सम्पूर्ण जगत् को अजन्मा बताया गया है। यहां ब्रह्म से पृथक् किसी जीवात्मा एवं जगत् के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया गया है। इसी प्रकरण में 'अजातिवाद' का समर्थन करते हुए चित्त की विशेष स्थिति को ब्रह्म कहकर उसकी प्रशंसा की गयी है। इसी प्रकरण में यह कहा गया है कि जीव और जगत् अनुत्पन्न है। इसकी कोई जाति नहीं है। यही शंकराचार्य का अजातिवाद है।

2.6 माण्डूक्यकारिका का चतुर्थ अलात शान्ति प्रकरण

अलातशान्ति प्रकरण 'माण्डूक्यकारिका' का अन्तिम तथा सबसे बड़ा प्रकरण है। इस प्रकरण में एक सौ श्लोक दिये गये हैं। इस प्रकरण में सदवाद, असदवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि मतों का खण्डन किया गया है। इन मतों का खण्डन करने के बाद 'अजातिवाद' की व्याख्या की गयी है। गौडपाद की ख्याति इसी सिद्धांत पर आधारित है। गौडपाद ने 'अलात' शब्द का अर्थ उल्का या मशाल है। जिस प्रकार उल्का चक्र अपने स्पन्दन से नाना प्रकार की आकृतियों को जन्म देता है, उसी प्रकार विज्ञान अपने स्पन्दन से सृष्टि की नाना प्रकार की वस्तुओं को उत्पन्न करता है। जिस प्रकार 'अलात चक्र' के स्पन्दन की शान्ति होने पर नाना प्रकार की 'आकृतियों' का शमन हो जाता है, उसी प्रकार विज्ञान के स्पन्दन के निरोध से सृष्टि का भी शमन हो जाता है। यही अलातशान्ति प्रकरण का उद्देश्य है।

2.7 अद्वैत वेदान्त के केन्द्रीय सिद्धांत के रूप में गौडपाद का अजातिवाद

गौडपाद अपने अद्वैत वेदान्त की विचारधारा को सशक्त रूप में स्थापित करने के उद्देश्य से अजातिवाद की स्थापना की है। गौडपाद अपने 'अजातिवाद' के द्वारा ब्रह्म को द्वैत से अतीत बताया है तथा सम्पूर्ण जगत् और जीव को अजन्मा ब्रह्म बताया है। अजातिवाद के द्वारा गौडपाद परोक्ष (अप्रत्यक्ष) ब्रह्म का अपरोक्ष (प्रत्यक्ष आत्मा) के साथ तादात्म्य सम्बन्ध की स्थापना किये हैं। वास्तविकता यह है कि गौडपादाचार्य ने अपने अजातिवाद सिद्धांत को वह केन्द्रीय स्थान दिया है, जिसके आधार पर ही उनका सम्पूर्ण अद्वैत वेदान्त विकसित हुआ है। इसलिए गौडपाद के अद्वैत वेदान्त का शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। गौडपाद के अद्वैत वेदान्त का शंकराचार्य के अद्वैत-वेदान्त पर निम्नलिखित प्रभाव दृष्टिगोचर होता है—

2.7.1 गौडपादाचार्य के माण्डूक्य कारिका की विषय-वस्तु

माण्डूक्योपनिषद् पर गौडपादाचार्य द्वारा रचित 'माण्डूक्य कारिका' अद्वैत वेदान्त की आधारशिला मानी जाती है। विश्व के अत्युत्तम ग्रन्थों में 'माण्डूक्यकारिका' का दर्शनशास्त्र में गणना की जाती है। इस ग्रन्थ के 'आगमशास्त्र', 'माण्डूक्यवार्तिक' और 'वेदान्तमूल' आदि विभिन्न नामों से भी अलंकृत किया गया है। गौडपादाचार्य के 'माण्डूक्यकारिका' की विषय-वस्तु का संकलन उपनिषदों, पूर्वाचार्यों की कृतियों और बौद्ध ग्रन्थों से किया गया लगता है। 'वैतथ्य प्रकरण के एक उल्लेख से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि गौडपादाचार्य ने ज्ञान को मोक्ष प्राप्ति का मुख्य साधन माना है जो उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय

है। वास्तव में अन्य वेदान्तियों की भांति गौडपादाचार्य भी उपनिषदों के ही सिद्धांतों का प्रतिपादन करना चाहते थे, किन्तु वे उस समय के बौद्धाचार्यों के विचारों से भी इतने अधिक प्रभावित थे कि परम्परा से उन्हें वैदिक मानने पर भी विचारों की दृष्टि से उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध कहा गया है। शंकराचार्य भी परम्परा से इसी विचार के अनुयायी रहे हैं, क्योंकि उन्होंने भी अपने विचारों की मूल सामग्री गौडपादाचार्य के ही विचार-परम्परा से प्राप्त हुई होगी, इसलिए शंकराचार्य को भी प्रच्छन्न बौद्ध कहा जाता है।

2.7.2 गौडपादाचार्य के माण्डूक्यकारिका का अद्वैत प्रकरण

गौडपादाचार्य के माण्डूक्यकारिका के तीसरे प्रकरण का नाम अद्वैत प्रकरण है। इसमें उत्पत्ति से पूर्व सम्पूर्ण जगत् को अजन्मा ब्रह्म कहा गया है। उनका यह मानना है कि अन्तिम तत्त्व परम ब्रह्म है, पर और अपर उसके दो रूप हैं। वास्तव में वह रूप रहित (निर्गुण) नित्य चैतन्य स्वरूप है। उसी प्रणव या ब्रह्म को सबके हृदय में स्थित ईश्वर माना गया है। वह ब्रह्म प्रकाश स्वरूप और सर्वव्यापक है। वह सबका आदि, मध्य और अन्त है। जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में वह एक रूप रहता है। वह ब्रह्म अज है, अनिद्र है, अस्वप्न है, अनामक है, अरूपक है। वह ज्ञेय और नित्य होने के साथ-साथ सर्वदर्शी है। परमार्थिक दृष्टि से वह सभी प्रकार के द्वैत से अतीत अद्वैत है। ब्रह्म से पृथक्, किसी जीवात्मा या आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसीलिए आत्मा को अजन्मा कहा गया है। आत्मा ने अपनी ही माया से अपने चारों ओर कल्पित प्रपंच परिवेष्टित कर रखा है। आत्मा असंग है, क्योंकि आत्मा और ब्रह्म तत्त्वतः एक ही है। गौडपादाचार्य चित्त के रूप को और भी स्पष्टतः प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि

अजमनिद्रमस्वप्नमनात्मकरूपकम् ।

सकृद्धिभातं सर्वतं नोपचारः कथंचन् ॥

अर्थात् अज है, अनन्त है, अनात्म है, अरूपक है और एक बार ही प्रकाशित होता है। इस समाधि में किसी भी प्रकार का उपचार होने से समाधि शेष नहीं रह जाती। समाधिक के लिए मनोनिग्रह के कई उपाय बताये गये हैं। गौडपादाचार्य के अनुसार साधन करते-करते जब चित्त निरुद्ध हो जाता है, तो बोध का उदय होता है। इन साधनों के विवेचन के बाद निम्नलिखित कारिका से जीव का स्वरूप दिखाकर प्रकरण की समाप्ति की जाती है —

न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते ।

एतत् तदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते ॥

अर्थात् कोई जीव जन्म ग्रहण नहीं करता, क्योंकि उसका कोई कारण नहीं है। यह कहीं किसी के जन्म न होने की जो स्थिति है, वही उत्तम स्थिति है।

इस प्रकार आचार्य शंकर अपने अद्वैत ब्रह्म के निरूपण में गौडपाद के 'ब्रह्म' सम्बन्धित विचारों से काफी मात्रा में प्रभावित रहे हैं और कहीं-कहीं तो बिल्कुल उनका अनुसरण करते हुए दिखायी पड़ते हैं।

2.7.3 माण्डूक्य कारिका में ऊँकार की व्याख्या

माण्डूक्यकारिका को पहले आगम-प्रकरण में माण्डूक्य उपनिषद् की व्याख्या के अतिरिक्त ऊँकार की विस्तृत व्याख्या की गयी है। ऊँकार की मात्रा अ+उ+म् के द्वारा स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर के अभिमानी विश्व, तैजस, प्राज्ञ

शंकराचार्य के पूर्व का अद्वैत वेदान्त

का वर्णन करते हुए उनका वैश्वानर, हिरण्यगर्भ और ईश्वर के साथ अभेद दिखलाया गया है। विश्व, तैजस और प्राज्ञ का भेद स्पष्ट किया गया है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति में विश्व, तैजस और प्राज्ञ के रूप से उपभोक्ता का निर्देश किया गया है। यहां यह दिखलाया गया है कि परमार्थ तत्व इन सब अवस्थाओं से परे है, वह तुरीय अवस्था में रहता है। वह नित्य, शुद्ध, ज्ञान स्वरूप और सर्वव्यापी है। यह विशेषणों का स्वरूप स्वयं आत्मा के स्वरूप का भी निर्देशक है। गौडपादाचार्य कहते हैं कि –

अनादिमाया सुप्ता यदाजीवः प्रबुध्यते।

अजमनिद्रस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा।।

अर्थात् अनादि कालीन माया के प्रभाव से सोया हुआ जीव जब जागता है तब वह अजन्म निद्रा रहित, स्वप्न रहित अद्वैत तत्व का ज्ञान प्राप्त करता है।

गौडपादाचार्य माण्डूक्यकारिका में आत्मा के चार पादों का स्पष्ट उल्लेख किया है। 'पाद' शब्द का अर्थ है—'पद्यते गम्यते इति पादः' अर्थात् जिससे या जिस पैर से आत्मा गमन करती है, उसे 'पाद' कहते हैं। सर्वप्रथम गौडपाद आत्मा के तीन पादों का विवरण प्रस्तुत करते हैं और यह दिखाते हैं कि व्यापक विश्व बहिष्प्रज्ञ है, तैजस अन्तःप्रज्ञ है और प्राज्ञ प्रज्ञान है। इस प्रकार गौडपाद एक ही आत्मा के तीन अवस्थाओं का वर्णन किये हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि आत्मा के जिन पादों के विषय में गौडपाद ने वर्णन किया है वे तीन पाद न होकर एक आत्मा के तीन विभिन्न अवस्थाएं हैं।

गौडपादाचार्य के अनुसार आत्मा का चतुर्थ पाद 'तुरीय' है, यह आत्मा का शुद्ध रूप है, जिसका निर्वचन वाणी द्वारा संभव नहीं है। आत्मा के तुरीय अवस्था में सभी भावों का निषेध हो जाता है। इसलिए गौडपादाचार्य द्वारा वर्णित आत्मा की तुरीय अवस्था के विषय में यह प्रश्न उठाया जाता है कि क्या इसे 'शून्य' माना जाएँ? शंकराचार्य का कहना है कि ऐसा सोचना ठीक नहीं है क्योंकि बिना निमित्त के मिथ्या विकल्प की सिद्धि नहीं हो सकती—मिथ्याविकल्पनिमित्तत्वानुपपत्तेः। शंकराचार्य का कहना है कि लोक में शुकित के बिना रजत की, रज्जु के बिना सर्प की, टूट के बिना पुरुष की तथा ऊसर भूमि के अधिष्ठान के बिना मृगतृष्णा विकल्प को बताना सर्वथा असंभव है। इसीलिए शंकराचार्य का कहना है कि तुरीय आत्मा जाति, गुण और क्रिया सम्बन्ध से रहित है, जिसके कारण उसका भावात्मक वर्णन नहीं किया जा सकता है। आचार्य शंकर का कहना है कि –

- (1) आत्मा अद्वितीय है, इसलिए उसमें सामान्य-विशेष भाव नहीं है।
- (2) निर्विकार होने के कारण पाचकादि के समान उस तुरीय आत्मा में क्रिया भी नहीं है।
- (3) निर्गुण होने के कारण आत्मा में नीलादि के समान गुण भी नहीं है।

अतएव जात्यादि प्रवृत्ति के समस्त निमित्त का अभाव होने के कारण किसी भी नाम से उसका निर्देश नहीं किया जा सकता। आत्मा के स्वरूप का निरूपण करते हुए गौडपादाचार्य माण्डूक्य उपनिषद् का उद्धरण देते हुए कहा है कि—

“नान्तः प्रज्ञं नबहिष्प्रज्ञं न उभयतः प्रज्ञं च प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञं अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यते स आत्मा विज्ञेयः।”

गौडपाद के अजातिवाद का शंकर पर प्रभाव

आत्म के उपर्युक्त वर्णन के विषय में वेदान्ती कहते हैं कि जिस प्रकार रज्जु-सर्प विवेक होते ही अधिष्ठान रज्जु में अध्यस्त सर्प की निवृत्ति रूप फल प्राप्त हो जाने पर रज्जु का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा में कल्पित अवस्थात्रय तथा तदाभिमानि अन्तःप्रज्ञादि का निषेध होने पर तत्क्षण ही अधिष्ठान तुरीय आत्मा का बोध हो जाता है।

गौडपाद ने जगत को मिथ्यामात्र बताया है। यह द्वैत रूप प्रपंच माया मात्र है। परमार्थ रूप से यह अद्वैत है। यथार्थ में भेद नामक कोई वस्तु नहीं है। यह सारा प्रपंच ब्रह्म का विवर्त मात्र है। वैतथ्य प्रकरण में चौथे श्लोक की टीका में शंकराचार्य लिखते हैं कि जाग्रत अवस्था में दृश्यमान भाव पदार्थ मिथ्या है, क्योंकि वे दृश्य हैं, स्वप्न में देखने वाले भाव पदार्थों की तरह। गौडपाद की दूसरी युक्ति यह है कि जो आदि में नहीं है, वह वर्तमान काल में भी वैसा ही है। नागार्जुन के समान गौडपाद किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं मानते वे अजातिवाद के समर्थक हैं। गौडपाद ने प्रपंच को मायामय बतलाकर माया का स्वरूप तो बतला दिया, किन्तु उन्होंने माया का प्रयोग कई अर्थों में कर दिया है। आगे चलकर शंकराचार्य को गौडपाद के निष्कर्षों को केवल उपनिषद् सत्य दिखाकर स्वीकार करना पड़ा। विज्ञानवाद और प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धांत से प्रभावित रहने के कारण गौडपाद माया का स्वरूप स्पष्ट नहीं कर सके थे।

गौडपाद माया के सम्प्रत्यय को अपने दर्शन प्रपंचात्मक जगत की व्याख्या के लिए स्वीकार किया है। गौडपाद से पूर्व उपनिषदों में माया का उल्लेख अवश्य किया है। गौडपाद से पूर्व उपनिषदों में माया का उल्लेख अवश्य हुआ है किन्तु एक व्यवस्थित सिद्धांत के रूप में उसका विकास नहीं हुआ था। विश्व प्रपंच की शून्यता का स्पष्ट प्रतिपादन बौद्ध दर्शन के विज्ञानवाद एवं शून्यवाद में मिलता है, जिससे प्रभावित होकर गौडपाद ने भी जगत को अविद्यात्मक या मायिक बतलाते हैं। अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में शंकराचार्य ने दो स्थलों में आचार्य गौडपाद को सम्प्रदाय विद कहते हुए स्मरण किया है। उन्होंने उनकी दो कारिकाओं को भी प्रमाण रूप में उद्धृत किया है।

गौडपादाचार्यजी माण्डूक्य कारिका के द्वितीय वैतथ्य प्रकरण में जगत के मिथ्यात्व का श्रुतियों के आधार पर प्रतिपादन करते हैं। उनका यह स्पष्ट रूप से कहना है कि परम तत्त्व ब्रह्म अद्वैत है, संसार में हमें जो भी द्वैत या नानात्व दिखायी पड़ता है, वह सब माया के कारण दिखायी पड़ता है। गौडपाद सृष्टि को मायाजनित मानते हुए इसे स्वप्न सदृश बताया है। प्रायः गौडपाद के 'वैतथ्य' के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठाया जाता है कि 'वैतथ्य' से उसका तात्पर्य क्या है? शंकराचार्य का इस प्रश्न के सम्बन्ध में यह कहना है कि 'वैतथ्य के भाव को वैतथ्य कहते हैं जिसका भाव असत्यत्व या मिथ्यात्व है। अब एक प्रश्न यह उठता है कि संसार की कौन सी वस्तुएं असत्य या मिथ्या हैं तो इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि स्वप्न की वस्तुएं असत्य या मिथ्या हैं। ऐसी स्थिति में यदि संसार की वस्तुओं को स्वप्नवत् मिथ्या सिद्ध कर दिया जाय, तो स्वप्न के समान संसार की वस्तुएं भी मिथ्या सिद्ध की जाएंगी।

गौडपादाचार्य का यह मानना है कि जिस प्रकार स्वप्नावस्था में चित्त में कल्पना किये गये पदार्थ असत्य और बाहर देखे जाने वाले पदार्थ सत्य जान पड़ते

शंकराचार्य के पूर्व
का अद्वैत वेदान्त

हैं, उसी प्रकार जाग्रतावस्था में भी मानसिक और इन्द्रिय ग्राह्य दोनों ही पदार्थ असत्य हैं। यह सम्पूर्ण विश्व मायामय है, गौडपाद कहते हैं कि —

स्वप्नमये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा ।

तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ।।

अर्थात् जैसे स्वप्न दिखायी पड़ता है, माया दिखायी पड़ती है, जैसे गन्धर्व नगर होता है उसी प्रकार वेदान्त में निष्णात्, बुद्धिमानों को यह विश्व दिखायी पड़ता है।

गौडपाद स्वरूप विस्मृति को ही माया कहते हैं। गौडपाद कहते हैं कि माया से मोहित जीव को भेद प्रपंच की भ्रांति होती है। संसार का अनुभव स्वप्नवत् पदार्थों की ही भांति विषय प्रतीतिमात्र ही है और मिथ्या है। माया का आवरण हटते ही एक मात्र अखण्ड, अद्वैत ब्रह्म रह जाता है।

गौडपादाचार्य का मानना है कि प्रपंच की प्रतीति और अप्रतीति दोनों ही भ्रांति है। परमार्थ दृष्टि से न तो उसकी उत्पत्ति होती है न लय होता है। इस भ्रांति का अधिष्ठान परमब्रह्म है। अतएव रज्जु में सर्प के समान इस दृश्यमान प्रपंच जगत की ब्रह्म में प्रतीति होती है। प्रायः गौडपाद के पूर्ववर्ती सभी दर्शन एवं दार्शनिक कारण से ही कार्य की उत्पत्ति मानते हैं, किन्तु बौद्ध दर्शन के परवर्ती दार्शनिक जिसमें शून्यवादी और विज्ञानवादी विशेष रूप से उल्लेखनीय है, 'अजातिवाद' की स्थापना और समर्थन किया है। बौद्ध परम्परा के अजातिवाद का ही किसी न किसी रूप में पोषण तथा समर्थन करते हुए यह कहते हैं कि न तो विद्यमान उत्पन्न होता है और न अविद्यमान उत्पन्न होता है। वास्तव में अजाति ही सत्य है। इस तर्क को देते हुए अद्वैत की प्रतिष्ठा करते हैं। गौडपाद स्वयं यह कहते हैं कि बौद्धों का जो अजातिवाद विषयक कथन है उसका हम अनुमोदन करते हैं। गौडपाद यह भी कहते हैं कि उनका बौद्धों के अजातिवाद के साथ कोई विवाद नहीं है। आगे चलकर शंकराचार्य ने परमार्थ सत्य के रूप में इसे स्वीकार किया है कि द्वैत पारमार्थिक सत् न होकर अद्वैत का विवर्त है।

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि गौडपाद ने अपने माण्डूक्यकारिका में जिस अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा करते हुए जगत के मिथ्यात्व का तर्क के द्वारा प्रतिपादन किया है उसे शंकराचार्य भी स्वीकार करते हैं। गौडपाद माण्डूक्य कारिका के चतुर्थ अलातशान्ति प्रकरण में अद्वैत वेदान्त विरोधी जितने भी दर्शन है उनका खण्डन प्रस्तुत किया है। गौडपादाचार्य के दर्शन की यह विशेषता है कि वे सत्य तक पहुंचने के लिए मण्डन एवं खण्डन दोनों ही प्रक्रियाओं को उपयोग में लाते हैं। गौडपाद का आगम-प्रकरण मण्डनात्मक है और वैतथ्य-प्रकरण खण्डनात्मक है। पुनः अद्वैत-प्रकरण मण्डनात्मक है और अलात-शान्ति प्रकरण खण्डनात्मक है। इस प्रकार गौडपादाचार्य द्वारा मण्डन-खण्डन द्वारा सत्य तक पहुंचने की चेष्टा की गयी है। वास्तविकता यह है कि गौडपाद का यह निश्चित मत है कि अद्वैत विरोधी जितने भी दर्शन है, वे परस्पर विरोधी होने के कारण रागद्वेषादि क्लेशों के केन्द्र हैं। अतः इन परस्पर विरोधी दर्शनों के मिथ्यात्व एवं असंगतियों को सिद्ध करने के लिए अन्तिम अलातशान्ति प्रकरण का प्रारम्भ किया जाता है। यह अलातशान्ति ब्रह्मस्वरूप है, जो मानव के सभी क्लेशों के अन्त का, उसके शमन का द्योतक है। शंकराचार्य गौडपाद के अद्वैत-वेदान्त से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धांतों को कहीं-कहीं ज्यों का

त्यों तथा कहीं-कहीं संशोधित एवं संस्कारित रूप में स्वीकार करके अद्वैत-वेदान्त गौडपाद के अजातिवाद को सभी दर्शनों में सर्वश्रेष्ठ दर्शन प्रणाली के रूप में प्रतिष्ठित किया है। का शंकर पर प्रभाव

प्रश्नावली

लघु उत्तरीय प्रश्न-

1. माण्डूक्य कारिका का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय क्या है?
2. वैतथ्य प्रकरण पर चर्चा करें।
3. अद्वैत प्रकरण की व्याख्या करें।
4. अद्वैत वेदान्त का केन्द्रीय सिद्धान्त क्या है?
5. शांति प्रकरण को स्पष्ट करें।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

1. अजातिवाद का शंकर पर प्रभाव पर एक निबंध लिखिए?
2. माण्डूक्य कारिका में ऊंकार की व्याख्या किस प्रकार की गयी है।

इकाई—3

अद्वैत वेदान्त की सामान्य विशेषताएं

संरचना

- 3.0 उद्देश्य
- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 अद्वय तत्व की स्थापना
- 3.3 अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म की अवधारणा
- 3.4 ब्रह्म के निर्गुण और सगुण की अवधारणा
- 3.5 अद्वैत वेदान्त का ब्रह्म
- 3.6 ब्रह्म और आत्मा
- 3.7 अद्वैत वेदान्त में ईश्वर, जीव और साक्षी
- 3.8 माया अविद्या और अध्यास
- 3.9 अद्वैत वेदान्त में ईश्वर और जगत्
- 3.10 अद्वैत वेदान्त का प्रमुख लक्ष्य मानव को मोक्ष लाभ कराना है
- 3.11 निष्कर्ष

3.0 उद्देश्य

उपनिषद्, ब्रह्म सूत्र एवं श्रीमद्भगवद्गीता के समन्वित रूप को प्रस्थानत्रयी कहा जाता है। अद्वैत वेदान्त का सम्यक विकास इसी प्रस्थानत्रयी के ऊपर किए गये भाष्य पर ही आधारित है। सर्वप्रथम आचार्य शंकर ने जो अद्वैत मत के प्रमुख प्रतिष्ठाता माने जाते हैं, प्रस्थानत्रयी पर रचे गये भाष्यों में अद्वैत वेदान्त का प्रतिपादन और समर्थन किया है। इस इकाई का उद्देश्य अद्वैत वेदान्त निम्नलिखित प्रमुख विशिष्टताओं को उद्घाटित करना है।

- (1) पारमार्थिक दृष्टि से एकमात्र ब्रह्म ही सत् है। अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को अद्वय निर्गुण, कूटस्थ, नित्य, सच्चिदानन्द कहा गया है।
- (2) जीवात्मा, आत्मा और ब्रह्म तात्त्विक दृष्टि से एक ही सत्ता है।
- (3) जीव और ब्रह्म में जो भेद दिखायी देता है अथवा जीव जो बन्धनग्रस्त दिखायी देता है, उसका कारण अनादि अविद्या है।
- (4) यह दृश्यमान जगत् माया का कार्य या मिथ्या है।
- (5) अद्वैत वेदान्त उपनिषदों के 'परा' और अपरा विद्याओं के भेद को पारमार्थिक एवं व्यावहारिक सत्त्यों के भेद में रूपान्तरित कर देता है।

- (6) अद्वैत वेदान्त सांख्य के सत्कार्यवाद को विवर्तवाद में परिवर्तित कर दिया है।
- (7) शंकर अद्वैत वेदान्त में मोक्ष को ही जीवन का परम लक्ष्य बताया गया है तथा मोक्ष को ब्रह्म या आत्म साक्षात्कार कहा गया है।

3.1 प्रस्तावना

वादरायण ने अपने ग्रन्थ 'ब्रह्मसूत्र' में उपनिषदों के मंत्रों को सूत्रात्मक रूप में संकलित कर अद्वैत वेदान्त की आधारशिला रखी। वादरायण के पश्चात् भर्तृहरि, द्रविडाचार्य, गौडपादाचार्य आदि अनेक ऐसे वेदान्त सम्प्रदाय के समर्थक एवं पोषक आचार्य हुए, जो अपने सिद्धांतों को मुख्यतः उपनिषदों से प्राप्त करने का दावा करते हैं। सम्पूर्ण वेदान्त परम्परा प्रस्थानत्रयी पर आधारित है। प्रस्थानत्रयी के अन्तर्गत उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भवद्गीता को सम्मिलित किया जाता है। प्रस्थानत्रयी में उपनिषदों को मूल प्रस्थान माना जाता है, तथा इसे 'श्रुति' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। सर्वप्रथम आचार्य शंकर ने जो अद्वैत वेदान्त के प्रमुख प्रतिष्ठाता माने जाते हैं, प्रस्थानत्रयी को ही अपने दार्शनिक गवेषणा का प्रमुख विषय बनाया और उनके पश्चात् के सभी वेदान्त सम्प्रदाय के दार्शनिक उनकी परम्परा का ही निर्वहन करते हुए दिखायी पड़ते हैं। शंकराचार्य ने अपने अद्वैत वेदान्त को जिस पराकाष्ठा पर पहुंचाया है, वह उनके प्रस्थानत्रयी की व्याख्या पर ही आधारित था। विचारधारा तथा दार्शनिक प्रणाली के रूप में अद्वैत वेदान्त अपने आरम्भिक उदय काल से अब तक सम्पूर्ण विश्व में दार्शनिक प्रौढता के कारण विशेष लोकप्रिय दर्शन बन गया है। इसलिए अद्वैत वेदान्त के जो प्रमुख दार्शनिक सिद्धांत हैं उसे ही उसकी विशेषता माना जा सकता है। वास्तविकता यह है कि सम्पूर्ण अद्वैत वेदान्त मोक्षशास्त्र की दृष्टि से विशेष रूप से महत्वपूर्ण दर्शन बन गया है।

3.2 अद्वय तत्व की स्थापना

अद्वैत वेदान्ती सभी प्रकार के भेद या द्वैत खण्डन कर अद्वय तत्व की स्थापना करते हैं। अद्वैत वेदान्तियों का यह मानना है कि ब्रह्म ही एकमात्र तत्व है, जिसका चैतन्य गुण नहीं, स्वभाव है। चैतन्य का कोई विस्तार नहीं होता। इसीलिए ब्रह्म या चैतन्य अनन्त कहा जाता है। तैत्तिरीय उपनिषद् के शंकर भाष्य में ब्रह्म को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि – 'वृहत्तमत्वात् ब्रह्म या वृहणात् ब्रह्म' अर्थात् जो वृहत्तम है वह ब्रह्म है आत्मा का शाब्दिक अर्थ है— व्यापक। व्याप्ति अर्थ वाले 'आप' धातु से आत्मा शब्द निष्पन्न होता है, आत्मा या ब्रह्म चेतन स्वरूप सार्वभौम, शाश्वत तथा नित्य है। शंकराचार्य चैतन्य को ही तत्व इसलिए कहते हैं, क्योंकि उनका यह मानना है कि संसार की सभी वस्तुएं जो हमारे ज्ञान का विषय हैं, उनका व्यभिचार होता है या हो सकता है, किन्तु उनके ज्ञाता या चैतन्य का कभी व्यभिचार नहीं होता। अतः चैतन्य ही एक मात्र तत्व है जिसे ज्ञाता के रूप में जाना जाता है। ज्ञाता के ज्ञान का निराकरण नहीं किया जा सकता। शंकराचार्य शारीरिक भाष्य में कहते हैं कि—“नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते। यह एवहि निराकर्त्तादेव तस्य स्वरूपम्” अर्थात् द्रष्टा के दृष्टि का विपरिलोप नहीं हो सकता, क्योंकि निराकर्त्ता ही उसका स्वरूप है। चैतन्य शाश्वत तत्व है और वही आत्मा है।

3.3 अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म की अवधारणा

वादरायण ने ब्रह्म की परिभाषा देते हुए, कहा है कि ब्रह्म वह है, जिससे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय होते हैं। आचार्य शंकर भी वादरायण के मत का समर्थन करते हुए ब्रह्म को जगत् का मूलकारण, सृष्टिकर्त्ता, पालक, संहारक, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान मानते हैं। परन्तु आचार्य शंकर द्वारा ब्रह्म को जगत् का कर्त्ता कहना केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही सत्य माना जा सकता है अर्थात् जब तक हम जगत् को सत्य मानते हैं। जगत् कर्त्तृत्व ब्रह्म का स्वरूप लक्षण नहीं है, केवल तटस्थ लक्षण है अर्थात् सृष्टि का कर्त्ता होना ब्रह्म का केवल औपाधिक गुण है, वास्तविक स्वरूप नहीं। शंकराचार्य का कहना है कि ब्रह्म का स्वरूप लक्षण 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' अर्थात् ब्रह्म सत्य और अनन्त ज्ञान स्वरूप है। शंकराचार्य का कहना है कि ब्रह्म जगत् से अतीत या परे है। इसलिए जगत् की जब तक प्रतीति होती है तब तक वह एक मात्र ब्रह्म के ही आश्रित रहता है। इसलिए ब्रह्म वास्तविक रूप में जगत् में व्याप्त भी है और उससे परे भी है।

3.4 ब्रह्म के निर्गुण और सगुण की अवधारणा

आचार्य शंकर का यह मानना है कि पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म ही एकमात्र सत् है। ब्रह्म निर्गुण और निर्विशेष होने के कारण सभी प्रकार के विशेषणों से रहित है। यही कारण है कि ब्रह्म की केवल 'नेति-नेति' के रूप में निषेधात्मक व्याख्या ही की जा सकती है अर्थात् ब्रह्म में यह गुण नहीं है, वह गुण नहीं हैं ऐसा निर्गुण ब्रह्म धार्मिक व्यक्ति के उपासना का भी विषय नहीं हो सकता। यही शंकराचार्य का निर्गुण ब्रह्म है, जिसे वे परब्रह्म कहते हैं।

आचार्य शंकर का यह कहना है कि जगत् के मूल कारण में एक ऐसी अनिवर्चनीय शक्ति है, जो वस्तुतः एक अपरिवर्तनशील सत्ता होते हुए भी अनेक रूपों में उद्भासित करती है। इस दार्शनिक तथ्य को माया शक्ति सम्पन्न सृष्टिकर्त्ता ईश्वर कह सकते हैं। इस प्रकार के ही ब्रह्म को शंकराचार्य मायोपहित ब्रह्म कहते हैं। वास्तविकता यह है कि अव्यक्त माया का आश्रय होने के कारण ब्रह्म को सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान ईश्वर कहा जाता है। शंकराचार्य संसार को ब्रह्म की माया शक्ति का ही परिणाम माना है। इसीलिए उन्होंने सृष्टिकर्त्ता ईश्वर को मायावी के समान कहा है केवल अज्ञानी मनुष्यों के लिए ही सृष्टि सत्य है, क्योंकि उन्हें यह ज्ञान नहीं होता है कि कर्त्तृत्व ब्रह्म का वास्तविक गुण नहीं है क्योंकि ब्रह्म कर्त्तृत्व शक्ति से युक्त तभी होता है जब वह माया से विशिष्ट होता है। माया केवल ब्रह्म की वाह्य-उपाधि मात्र है जिसको हम भ्रमवश ब्रह्म में आरोपित करते हैं। अतः सृष्टिकर्त्तृत्व के रूप में ब्रह्म केवल मायोपहित ब्रह्म हैं, वस्तुतः सगुण एवं निर्गुण ब्रह्म दोनों ही एक ही है। जगत् की अपेक्षा से जो ईश्वर है, वही निरपेक्ष रूप से परब्रह्म है।

3.5 अद्वैत वेदान्त का ब्रह्म

सभी प्रकार के भेदों से रहित है। ब्रह्म एक अभेद सत्ता है। वह सजातीय, विजातीय और स्वागत सभी भेदों से रहित है। ब्रह्म में सजातीय भेद नहीं है क्योंकि उसके समान कोई अन्य सत्ता नहीं है। ब्रह्म में विजातीय भेद भी नहीं है क्योंकि ब्रह्म की कोई विरोधी सत्ता नहीं है। ब्रह्म में अंगांगिभेद का अभाव होने के कारण स्वगत भेद भी नहीं है। इस प्रकार ब्रह्म सभी भेदों से रहित निर्गुण, निर्विशेष और निरपेक्ष सत्ता है।

3.6 ब्रह्म और आत्मा

अद्वैत वेदान्त में केन्द्रगत सत्प्रत्यय ब्रह्म है। अद्वैत मत में आत्मा और ब्रह्म में अभेद है। इस अभेद के पक्ष में शंकराचार्य अनेक स्थलों पर श्रुतियों को उद्धृत करते हैं। वे बृहदारण्यक उपनिषद् के 'अहं ब्रह्मास्मि' बृहदारण्यक उपनिषद् के ही 'अयमात्मा ब्रह्म, छान्दोग्य उपनिषद् के 'तत्त्वमसि' एकमेवाद्वितीयम्, सर्वखल्विदं ब्रह्म एवं ऐतरेय उपनिषद्, के आत्मा व इदमेक एवाग्रासीत इत्यादि श्रुतिवाक्यों की व्याख्या द्वारा केवल यही सिद्ध करते हैं कि तत्त्वतः ब्रह्म और आत्मा एक है। आचार्य शंकर श्रुतियों का सहारा लेते हुए ब्रह्म को अपरोक्ष या साक्षात्कार रूप कहा है। वास्तविकता यह है कि अद्वैत-वेदान्त में आत्मा निर्गुण ब्रह्म ही है। इसीलिए बृहदारण्यक उपनिषद् में एक स्थल पर आत्मा को अस्थूल, अनणु, अह्रस्व अदीर्घ, अलोहित आदि नकारात्मक विशेषणों द्वारा निरूपित किया गया है। अद्वैत वेदान्त में आत्मा या तो विशुद्ध ज्ञान-स्वरूप है या शुद्ध द्रष्टा, वह कभी भी विषय या दृश्य नहीं बनता बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि 'न दृष्टेः द्रष्टारं पश्येः' दृष्टि स्वरूप आत्मा का कोई द्रष्टा नहीं है।

3.7 अद्वैत वेदान्त में ईश्वर, जीव और साक्षी

अद्वैत वेदान्त में निर्गुण पर ब्रह्म का, सगुण या सविशेष रूप अपर ब्रह्म या ईश्वर का रूप है। अद्वैत वेदान्तियों का यह कहना है कि निरुपाधि पर ब्रह्म माया की उपाधि के कारण ईश्वर के रूप में प्रतीत होता है। माया में प्रतिबिम्बित या अवच्छिन्न या माया के कारण आभासित पर ब्रह्म ही ईश्वर कहलाता है। माया के कारण ही ब्रह्म ईश्वर, जीव और जगत् के रूप में प्रतीत होता है तथा माया की निवृत्ति हो जाने पर शुद्ध पर ब्रह्म ही प्रकाशित होता है। यद्यपि ईश्वर, जीव और जगत् की व्यावहारिक सत्ता है और तीनों ही एक साथ प्रतीत होते हैं तथा एक साथ निवृत्त होते हैं, तथापि जीव की दृष्टि से ईश्वर ही सब कुछ है। अतएव यह कहा जा सकता है कि माया के कारण पर ब्रह्म ईश्वर के रूप में प्रतीत होता है तथा ईश्वर, जीव और जगत् के रूप में प्रतीत होता है। ईश्वर ब्रह्म का सर्वोच्च आभास है। जीव और जगत् ईश्वर के सूक्ष्म और स्थूल शरीर हैं तथा ईश्वर जीवों और जगत् की आत्मा है। शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्तियों ने ईश्वर और जीव के विषय में प्रतिबिम्बवाद, अवच्छेदवाद और आभासवाद की अवधारणा को मान्यता प्रदान की है।

- (1) प्रतिबिम्बवाद के अनुसार ब्रह्म का माया में प्रतिबिम्ब ईश्वर है और अविद्या में प्रतिबिम्ब जीव है। अद्वैत वेदान्ती ईश्वर को बिम्ब तथा जीवों को ईश्वर का प्रतिबिम्ब कहते हैं। इस सिद्धांत विरुद्ध प्रमुख आरोप यह लगाया जाता है कि माया और ब्रह्म दोनों ही निराकार हैं अतः एक दूसरे के भीतर प्रतिबिम्ब किस प्रकार पड़ सकता है?
- (2) अवच्छेदवाद के अनुसार माया द्वारा अवच्छिन्न ब्रह्म ईश्वर है तथा अविद्या द्वारा अवच्छिन्न ब्रह्म जीव कहलाता है किन्तु माया या अविद्या नित्य अनन्त ब्रह्म को सीमित कैसे करती है?
- (3) आभासवाद के अनुसार ब्रह्म का माया में आभास ईश्वर है और अविद्या या अन्तःकरण में आभास जीव है। ऐसी स्थिति में माया या अविद्या के सदसत् अनिवर्चनीय होने के कारण आभास भी सदसदनिर्वचनीय और मिथ्या हो

जाएगा। आचार्य शंकर में आभासवाद को ही सर्वाधिक महत्व दिया है, किन्तु उन्होंने प्रतिबिम्बवाद और अवच्छेदवाद के भी दृष्टान्त दिये हैं। उनके अनुसार प्रतिबिम्ब और अवच्छेद भी आभासवाद में ही समाहित हो जाते हैं। जिस प्रकार ईश्वर वस्तुतः ब्रह्म ही है, उसी प्रकार जीव भी वस्तुतः ब्रह्म ही है। जीव और ईश्वर का भेद व्यावहारिक ही है, परमार्थतः जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। वास्तविकता यह है कि जीव, ईश्वर और ब्रह्म एक ही है और अद्वैत में भेद कैसा? आचार्य शंकर का मानना है कि जीव का जन्म-मरण या उत्पत्ति-विनाश का संसरण अविद्याकृत है। जब तक अविद्या है, तभी तक जीव का जीवत्व है। जब तक देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि रूपी उपाधियां हैं तब तक जीव का जीवत्व है। अविद्या-निवृत्ति होते ही जीव अपने शुद्ध आत्म स्वरूप में प्रकाशित होता है। वस्तुतः अद्वैत वेदान्त में एक ही कूटस्थ नित्य विशुद्ध परमात्म तत्व है, जिसे आचार्य शंकर ब्रह्म कहते हैं, इसके अतिरिक्त अन्य कोई तत्व नहीं है।

साक्षी अद्वैत वेदान्त का एक विशिष्ट तत्व है। यह आत्मा या ब्रह्म और ईश्वर और जीव इन तीनों से भिन्न है। 'साक्षी' परम ब्रह्म के समान निर्गुण निर्विशेष और नित्य चैतन्य है, जो स्वतः सिद्ध एवं स्वयं प्रकाश है। विशुद्ध आत्मतत्व के समान यह साक्षी समस्त ज्ञान और अनुभव का अधिष्ठान है। परम ब्रह्म या आत्मतत्व निरुपाधिक है किन्तु साक्षी सोपाधिक है, यद्यपि वह उपाधि से किसी प्रकार लिप्त नहीं होता। साक्षी जीव और ईश्वर में अभिव्यक्त होता है। प्रत्येक जीव में उसका साक्षी विद्यमान रहता है। साक्षी अन्तःकरणोपहित चैतन्य है। अन्तःकरण की उपाधि निर्विशेष ब्रह्म की साक्षीचैतन्य बना देती है। 'साक्षी' निर्विकार द्रष्टा है। साक्षी कभी विषय के रूप में नहीं ज्ञात हो सकता, क्योंकि वह द्रष्टा के रूप में प्रत्येक अनुभव में प्रकाशित रहता है। अहं प्रत्यक्ष विषय जीव है। साक्षी नहीं है। जीव कर्त्ता और भोक्ता है, साक्षी नित्य शुद्ध चैतन्य और निर्गुण द्रष्टा है। शंकराचार्य मुण्डकोपनिषद् का उद्धरण देते हुए 'साक्षी' के स्वरूप को निम्नलिखित रूप में स्पष्ट करने का प्रयास किया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वति अनश्नन्नयोऽभिचाकशीति ।

अर्थात् दो पक्षी साथ-साथ सखा भाव से एक ही वृक्ष पर रहते हैं उनमें एक स्वादिष्ट फल को चाव से खाता है, किन्तु दूसरा बिना खाए केवल देखता रहता है। अतएव उपाधि भेद से अन्तःकरण से उपहित साक्षी 'जीव-साक्षी' और माया से उपहित साक्षी ईश्वर साक्षी की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। साक्षी चैतन्य समस्त ज्ञान और अनुभव का अधिष्ठान है एवं स्वतः सिद्ध तथा स्वयं प्रकाश है। जीव 'सत्यानृतमिथुनीकरण' है। उसमें सत्य का अंश साक्षी चैतन्य का है और अनृत अंश अविद्याकृत जीवत्व का है। अविद्या निवृत्त होते ही जीव, साक्षी और ईश्वर एक साथ पर ब्रह्म के रूप में प्रकाशित होते हैं।

3.8 माया, अविद्या और अध्यास

अद्वैत वेदान्त का सार श्लोकार्द्ध में इस प्रकार व्यक्त किया गया है— 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैवनापरः' अर्थात् केवल ब्रह्म ही सत्य है, जगतमिथ्या है,

शंकराचार्य के पूर्व का अद्वैत वेदान्त

जीव ब्रह्म ही है, उससे भिन्न नहीं है। इस प्रकार आचार्य शंकर का यह मानना है कि नाना रूपात्मक प्रपंचात्मक जगत् माया की ही प्रतीति है। ब्रह्म माया के कारण ही प्रपंचात्मक जगत् के रूप में प्रतीत होता है किन्तु पारमार्थिक रूप में एक मात्र सत् ब्रह्म है, ब्रह्म के अतिरिक्त जितनी भी वस्तुएं हैं वे सभी मिथ्या हैं।

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में 'माया' ब्रह्म की अभिन्न शक्ति है। माया ब्रह्म से अनन्य, अनादि, भाव रूप, सदसदनिर्वचनीय तथा अध्यासरूपा है। माया ज्ञाननिरस्या है। माया ब्रह्म का विवर्त है। माया का आश्रय और विषय ब्रह्म ही है। यद्यपि माया ब्रह्म से सर्वथा और सर्वदा अलिप्त रहता है, फिर भी अपनी माया शक्ति के कारण जगत् के रूप में आभासित होता है।

आचार्य शंकर का यह मानना है कि यह समस्त लोक व्यवहार दो तत्वों के मिलन या तादात्म्य पर निर्भर है—एक तो शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्म तत्त्व, जो विषयी ज्ञाता, चेतन और नित्य है एवं अहं प्रत्यय गोचर है और दूसरा विषय, यह ज्ञेय पदार्थ जो जड़ और अनित्य है एवं इदं (या युस्मत्) प्रत्ययगोचर है। यद्यपि विषयी आत्मा और विषयरूपी अनात्मा, जो प्रकाश और अन्धकार के समान परस्पर विरोधी है, किन्तु इनके मिलन या तादात्म्य के बिना कोई लोक व्यवहार सिद्ध नहीं होता।

इस असंभव मिलन को संभव के रूप में प्रतीत कराने वाली शक्ति माया है। परन्तु यह स्वीकार करना होगा कि जब आत्मा एवं अनात्मा का वास्तविक संबंध या मिलन असंभव है तो उनके मिलन या सम्बन्ध की प्रतीति और तज्जन्य लोक व्यवहार मिथ्या ही होना चाहिए। वस्तुतः आत्मा एवं अनात्मा के सम्बन्ध की मिथ्या प्रतीति कराने वाली 'माया' मूल विद्या है, विराट समष्टि की भ्रांति है, जो समस्त विश्व की जननी है तथा जिस पर ही समस्त प्रपंचात्मक लोक व्यवहार आधारित है। इस प्रकार समस्त लोक व्यवहार सत्य और अनृत का मिथुनीकरण है।

आचार्य शंकर ने सत्य और अनृत के मिथुनीकरण को 'अध्यास' कहा है। उनके अनुसार 'अध्यास' अविद्या है और आत्मा और अनात्मा के विवेक से चिदात्मा के स्वरूप का ज्ञान 'विद्या' है। अतएव अनादि, नैसर्गिक तथा मिथ्या ज्ञान स्वरूप अध्यास सारे अनर्थ का मूलकारण है। शंकराचार्य ने अध्यास के तीन लक्षण दिये हैं, जिनमें कोई तात्त्विक भेद नहीं है।

- (1) प्रथम लक्षण के अनुसार 'स्मृतिस्वरूपपरत्रदृष्टावभासः अध्यासः' अर्थात् अध्यास पूर्वदृष्ट वस्तु का अधिकरण में स्मृतिरूप अवभास है।
- (2) अध्यास को दूसरा लक्षण करते हुए आचार्य शंकर ने कहा है कि—'अन्यस्य अन्यधर्मावभासता अध्यासः' अर्थात् अध्यास किसी अन्य वस्तु (अधिष्ठान) का अन्य वस्तु (अधस्त) के धर्म के रूप में अवभासित होता है। अतएव एक वस्तु के 'द्रव्य' पर किसी अन्य वस्तु के धर्म को आरोपित करना अध्यास है।
- (3) अध्यास का तीसरा लक्षण करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि 'अध्यासोनाम अतस्मिन्तद्बुद्धिः' अर्थात् एक वस्तु में दूसरी वस्तु की बुद्धि प्राप्त होना 'अध्यास' कहा जाता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'अध्यास' मिथ्या ज्ञान या अन्यथा ज्ञान है। अध्यास अर्थात् असत् का सत् पर आरोप है। यह असत् अध्यस्त का सत् से तादात्म्य है। अध्यास में अधिष्ठान सत्य होता है, किन्तु असत् अध्यस्त से उसका

सम्बन्ध मिथ्या होता है। अतएव यह संसर्ग से मिथ्या है। यही कारण है कि आचार्य शंकर ने लौकिक अनुभव का सारा क्षेत्र 'सदसदनिर्वचनीय' या 'मिथ्या' कहा है। जो मिथ्या है, वह माया या अविद्या या भ्रम है।

अद्वैत वेदान्त में भ्रम के दो रूप माने गये हैं – व्यक्तिगत भ्रम और समष्टिगत भ्रम। व्यक्तिगत भ्रम को 'प्रतिभास' कहते हैं और इसके अन्तर्गत समस्त व्यक्तिगत भ्रम और स्वप्नादि आता है। दूसरे प्रकार का भ्रम समष्टिगत भ्रम है, जिसे व्यवहार कहते हैं। व्यवहार के अन्तर्गत समस्त लोक व्यवहार या जगत् प्रपंच आता है। आचार्य शंकर का कहना है कि प्रतिभास का बाध व्यवहार से होता है, किन्तु व्यवहार का बाध परमार्थ से होता है। जाग्रत अवस्था से स्वप्नादि का बाध होता है। इसी प्रकार लौकिक प्रपंच अपने आप में सत्य है तथा उसका बाध पारमार्थिक ब्रह्म ज्ञान से ही संभव है। जब तक पारमार्थिक ज्ञान नहीं होता, तब तक उसकी व्यावहारिक सत्यता अक्षुण्ण है। इस प्रकार शंकराचार्य ने 'प्रतिभास' और 'व्यवहार' में भेद करके व्यवहार को उच्चतर स्तर का माना है तथा जगत् की व्यावहारिक सत्ता का एवं उसके सापेक्ष सत्यत्व का साग्रह प्रतिपादन किया है। वास्तविकता यह है कि आचार्य शंकर के अनुसार जगत् सत् नहीं है, क्योंकि वह ब्रह्म के समान कूटस्थ नित्य नहीं है, जगत् असत् भी नहीं है, क्योंकि वह बन्ध्यापुत्र के समान बिल्कुल असत् भी नहीं है।

3.9 अद्वैत वेदान्त में ईश्वर और जगत्

आचार्य शंकर का यह मानना है कि ईश्वर और जगत् का उपादान और निमित्त कारण दोनों हैं। आचार्य शंकर ने जगत् को ब्रह्म का विवर्तमाना है। ईश्वर सर्वशक्तिसम्पन्न होने के कारण बिना उपकरणों के ही जगत् का निर्माण करता है। जिस प्रकार दूध स्वभाव से ही दही का रूप धारण कर लेता है उसी प्रकार ईश्वर भी स्वभावतः जगत् का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार जगत् ब्रह्म का विवर्त है। जगत् के मिथ्या होने के कारण ब्रह्म में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। जगत् केवल नाम रूपात्मक है, उसका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है। शंकर के अनुसार सृष्टि ईश्वर की लीला है, उसके सभी कार्य लीलावत स्वभावतः होते रहते हैं। शंकराचार्य के अनुसार ईश्वर और जगत् के बीच तादात्म्य या अनन्यत्व का सम्बन्ध है। अद्वैत वेदान्त में अनन्यत्व का एक विशिष्ट अर्थ है और वह यह है कि जिस प्रकार कारण से कार्य अन्य नहीं है, वैसे ही जगत् ईश्वर से अन्य नहीं है। इस प्रकार ईश्वर और जगत् का सम्बन्ध अनन्य संबंध है तथा इसे तादात्म्य संबंध भी माना जा सकता है, क्योंकि ईश्वर जगत् का साक्षी है।

3.10 अद्वैत वेदान्त का प्रमुख लक्ष्य मानव को मोक्ष लाभ कराना है

आचार्य शंकर के अनुसार अद्वैत वेदान्त का प्रमुख लक्ष्य ब्रह्म साक्षात्कार द्वारा मोक्ष के लिए मार्ग प्रशस्त करना है। उनका यह मानना है कि मोक्ष का साक्षात् कारण ज्ञान है। मोक्ष आत्मा का निजी स्वरूप है इसलिए वह नित्य पदार्थ है। नित्य पदार्थ किसी क्रिया का कार्य नहीं होता। इसलिए मोक्ष कर्म द्वारा साध्य नहीं है। इसीलिए आचार्य शंकर कहते हैं कि आत्मा का अपने स्वरूप में अवस्थिति ही मोक्ष है। मोक्ष अविद्या की निवृत्ति है, वह ब्राह्मी भाव में स्थित होना है। अद्वैत वेदान्त में जीवन्मुक्ति एवं विदेह मुक्ति दोनों को ही मान्यता प्रदान की है। अद्वैत वेदान्त में मोक्ष की प्राप्ति के लिए 'नित्यानित्यवस्तुविवेक

शंकराचार्य के पूर्व का अद्वैत वेदान्त

इहामुत्रार्थभोगविरागशमदमादिसाधनसंपतमुमुक्षुत्व' रूपी साधन चतुष्टय की योग्यता का साधक में होना आवश्यक माना गया है। साधन—चतुष्टय के अतिरिक्त साधक को श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा आत्म साक्षात्कार का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार के मार्ग का अनुगमन कर साधक अज्ञान की निवृत्ति तथा ज्ञान की प्राप्ति करता है।

3.11 निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त की प्रमुख विशेषता सभी प्रकार के भेदों का परिहार करते हुए अद्वय तत्व के रूप में ब्रह्म की ही एक मात्र पारमार्थिक सत्ता के रूप में प्रतिपादन करना। अतएव उन्होंने अपने अद्वैत वेदान्त में आत्मा और ब्रह्म की एकता, भेदभाव का खण्डन, ब्रह्म, ईश्वर, जीव तथा जगत, के पारस्परिक सम्बन्धों की युक्ति संगत व्याख्या किया है, जिसमें उन्हें श्रुतियों एवं जीवन की अनुभूतियों का खुलकर प्रयोग किया है। अतएव शंकराचार्य के दर्शन (अद्वैत वेदान्त) में तर्क, अनुभव, श्रुति एवं अपरोक्षानुभूति को सम्यक् स्थान प्रदान करके अद्वैत वेदान्त को एक विशिष्ट दर्शन के रूप में महिमा मण्डित किया।

प्रश्नावली

लघु उत्तरीय प्रश्न—

1. अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म की अवधारणा किस प्रकार की गयी है?
2. अद्वय तत्व की स्थापना पर चर्चा करें।
3. अद्वैत वेदान्त का प्रमुख लक्ष्य क्या है?
4. अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म और आत्मा के अभेद को स्पष्ट करें।
5. सगुण और निर्गुण ब्रह्म पर चर्चा करें।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न—

1. अद्वैत वेदान्त की सामान्य विशेषताओं पर निबन्ध लिखें।
2. अद्वैत वेदान्त के माया, अविद्या और अध्यास की व्याख्या करें।



MAPH-03

शंकराचार्य का दर्शन

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

खण्ड – 3

चतुःसूत्री भाष्य

इकाई – 1 79–86

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा

इकाई – 2 87–94

‘जन्माद्यस्य यतः’ सूत्र की व्याख्या

इकाई – 3 95–102

शास्त्रयोनित्वात्

इकाई – 4 103–112

‘तत्तुसमन्वयात्’

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

एम.ए.पी.एच.—03 (MAPH-03)

सरंक्षक मार्गदर्शक

प्रो.के.एन. सिंह — कुलपति, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

विशेषज्ञ समिति

- डॉ.आर.पी.एस. यादव — निदेशक, मानविकी विद्याशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
- प्रो. रामलाल सिंह (से.नि.) — दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
- प्रो.दीप नारायण यादव — दर्शनशास्त्र विभाग, पं० दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
- प्रो. द्वारिका — विभागाध्यक्ष, पं० दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
- प्रो. सभाजीत यादव — दर्शनशास्त्र विभाग, महात्मागांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी।
-

लेखक

- डॉ. श्यामकान्त — असिस्टेंट प्रोफेसर, आर्यकन्या डिग्री कालेज, इला० वि.वि. प्रयागराज।
- डॉ. अतुल कुमार मिश्र — शैक्षिक परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
-

सम्पादक

- प्रो. जटाशंकर — पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
-

परिभाषक

- प्रो. आर.पी.एस. यादव — निदेशक मानविकी विद्याशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
-

समन्वयक

- डॉ. अतुल कुमार मिश्र — शैक्षिक परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
-

2020 (मुद्रित)

© ३०१० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज—211021

ISBN-

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिनियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठ्य सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन — उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज— 211021

प्रकाशक — कुलसचिव, डॉ. अरुण कुमार गुप्ता ३०१० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज —2020

मुद्रक — चंद्रकला यूनिवर्सल प्राइवेट लिमिटेड, 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, प्रयागराज (इलाहाबाद)

इकाई –1

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा

संरचना

- 1.0. उद्देश्य
- 1.1. प्रस्तावना
- 1.2. 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' के विभिन्न पद 'अर्थ', 'अतः', 'ब्रह्म' और 'जिज्ञासा' का अर्थ

1.0 उद्देश्य

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' वेदान्त सूत्रों में प्रथम सूत्र है, जिसमें इच्छा का साक्षात् विषय होने के कारण ब्रह्मज्ञान मुख्य प्रयोजन है। कर्मपरक वाक्यों से कर्मज्ञान और कर्मज्ञान से कर्म का अनुष्ठान किया जाता है, तब कहीं स्वर्ग की प्राप्ति रूप मुख्य प्रयोजन की सिद्धि होती है। इस प्रकार 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' में कर्म ज्ञान मुख्य प्रयोजन न होकर अवान्तर प्रयोजन ही है, किन्तु ब्रह्मज्ञान के विषय में यह बात लागू नहीं होती, क्योंकि ब्रह्मज्ञान के बाद कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता है और वेदान्त वाक्यों से उत्थापित असंदिग्ध ब्रह्मज्ञान द्वारा समस्त दुःखों का शमन होकर परमानन्द रूप परम प्रयोजन की सिद्धि होती है।

1.1. प्रस्तावना

महर्षि वादरायण ने 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' के द्वारा ब्रह्म जिज्ञास्यता का प्रतिपादन किया है। परन्तु क्या ब्रह्म सहज रूप में जिज्ञास्य है या उसकी जिज्ञासा के पीछे कोई वास्तविक कारण है? आचार्य शंकर का यह मानना है कि ब्रह्मज्ञान ब्रह्मरूप होने के कारण सदैव प्राप्तव्य है, किन्तु अनादि अविद्या के कारण अप्राप्त होकर हमारी जिज्ञासा का विषय बन जाता है। वस्तुतः जिज्ञासा संशय से उत्पन्न होती है और संशय मीमांसा के प्रारम्भ का प्रायोजक होता है। इस प्रकार विचारशील व्यक्ति की शास्त्र में प्रवृत्ति के हेतुभूत संशय और प्रयोजन को सूचित करने के लिए सूत्रकार ने 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' की रचना की है। अथातो ब्रह्मजिज्ञासा में ब्रह्म की अपेक्षा 'जिज्ञासा' का विशेष महत्व है क्योंकि जिज्ञासा का विषय ज्ञान है और ज्ञान का विषय ब्रह्म है। अतएव यह कहा जा सकता है कि ब्रह्मज्ञान की सार्थकता और सप्रयोजनता ही मनुष्यों को ब्रह्मजिज्ञासा में प्रवृत्त करती है।

1.2. 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' के विभिन्न पद 'अर्थ', 'अतः', 'ब्रह्म' और 'जिज्ञासा' का अर्थ

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' में 'अथ' पद की व्याख्या पर विशेष बल दिया गया है। 'अथ' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है— (1) मंगल (2) अनन्तर (3)

आरम्भ (4) प्रश्न और (5) सम्पूर्णता। अब यहाँ प्रश्न उठता है कि प्रथम सूत्र में जो वादरायण ने 'अथ' शब्द का प्रयोग किया है, वह किस अर्थ में किया है। शंकराचार्य अपने भाष्य में 'अथ' शब्द के विभिन्न अर्थों पर विचार किया है और उनका यह कहना है कि—

- (i) 'अथ' शब्द मंगलार्थक इसलिए नहीं है, क्योंकि इसका ब्रह्मजिज्ञासा के साथ समन्वय नहीं बैठता। इसके अतिरिक्त आनन्तर्यार्थ में 'अथ' शब्द के प्रयुक्त होने पर उसके श्रवण मात्र से मंगलजनक होता है। इसलिए 'मंगल' के लिए 'अथ' शब्द की कोई आवश्यकता नहीं है।
 - (ii) आचार्य शंकर के अनुसार 'अथ' शब्द का प्रयोग अधिकार या 'आरम्भ' के अर्थ में भी नहीं है, क्योंकि ब्रह्मजिज्ञासा आरम्भ करने योग्य नहीं है। ब्रह्मजिज्ञासा का आरम्भ असंभव है।
 - (iii) पूर्वमीमांसा के भाष्यकार शबरस्वामी तथा वेदान्तसूत्रों के भाष्यकार वादरायण दोनों ने 'अथ' शब्द को आरम्भार्थक न मानकर आनन्तर्यार्थक माना है। यहाँ स्वाभाविक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि किस के अनन्तर धर्मजिज्ञासा या ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए? इसके लिए भाष्यकार हमारे समक्ष कई विकल्प प्रस्तुत करते हैं—
- (अ) इस विकल्प पर विचार किया जाता है कि 'स्वाध्यायानन्तर्य' अर्थात् वेदों का अध्ययन करने के बाद ब्रह्म जिज्ञासा करनी चाहिए। इस विकल्प को पूर्वमीमांसा में स्वीकार किया गया है, किन्तु शंकराचार्य 'स्वाध्यायानन्तर्य' को स्वीकार नहीं करते हैं, क्योंकि स्वाध्यायानन्तर्य ब्रह्मजिज्ञासा की प्रवृत्ति का विशेष हेतु न होकर धर्म जिज्ञासा शास्त्र के साथ सामान्य हेतु है। अतएव आचार्य शंकर का यह कहना है कि स्वाध्याय के बाद ब्रह्मजिज्ञासा की बात उचित नहीं लगती है।
 - (ब) इस विकल्प पर भी विचार किया जाता है कि क्या आनन्तर्य का अर्थ 'कर्मावबोधानन्तर्य' लिया जाएँ? कर्मावबोध से यहाँ तात्पर्य कर्मकाण्ड के परिज्ञान से है जो पूर्वमीमांसाशास्त्र के अध्ययन से प्राप्त होता है। अतः 'कर्मावबोधानन्तर्य' का यहाँ अर्थ हुआ— पूर्वमीमांसाशास्त्र के अध्ययन के पश्चात् हमें ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए। परन्तु शंकराचार्य इस मत से सहमत नहीं हैं, क्योंकि उनके अनुसार उपनिषदों को पढ़ने वालों को धर्मजिज्ञासा के पहले ही ब्रह्म जिज्ञासा हो सकती है। वाचस्पति मिश्र भी शंकराचार्य से सहमत हैं। वास्तविकता यह है कि कर्मों को न तो अप्रमाणभूत कारण माना जा सकता है और न ही प्रमाणभूत कारण। यह कार्य युक्तियों द्वारा भी सम्पादित किया जा सकता है। अतएव कर्मावबोधानन्तर्य ब्रह्मजिज्ञासा नहीं की जा सकती है।
- (1) आचार्य शंकर का यह भी कहना है कि धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा का कोई क्रम विवक्षित नहीं है, क्योंकि धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा के बीच शेषशेषिभाव या अंगांगिभाव मानने का कोई प्रमाण नहीं है। चूँकि धर्मजिज्ञासा एवं ब्रह्मजिज्ञासा के बीच शेषशेषिभाव है ही नहीं, तो इसके लिए कर्मावबोधानन्तर्य की आवश्यकता ही कैसे हो सकती है?
 - (2) शंकराचार्य 'धर्मजिज्ञासा' एवं ब्रह्मजिज्ञासा के बीच अधिकृताधिकारभाव सम्बन्ध पर विचार करते हैं और इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि इनके बीच अधिकृताधिकार भाव सम्बन्ध भी नहीं हो सकता, क्योंकि धर्मजिज्ञासा एवं

ब्रह्मजिज्ञासा के बीच कोई क्रम विवक्षित नहीं है। ऐसी स्थिति में 'अथ' का अर्थ 'कर्मावबोधनन्तर्य' कदापि नहीं हो सकता।

- (3) **फलभेद** — धर्मजिज्ञासा एवं ब्रह्मजिज्ञासा के फलों के भिन्न होने से भी उनके बीच क्रम विवक्षित नहीं हो सकता। धर्मजिज्ञासा का फल 'अभ्युदय' अर्थात् लौकिक एवं पारलौकिक समृद्धि की प्राप्ति है और वह अनुष्ठान की अपेक्षा रखता है। तात्पर्य यह है कि केवल पूर्वमीमांसा का अध्ययन करने से ही अभ्युदय की प्राप्ति नहीं हो जाती, उसकी प्राप्ति के लिए नाना प्रकार के विहित कर्मों का अनुष्ठान भी करना होता है। इसके विपरीत, ब्रह्मजिज्ञासा का फल निःश्रेयस् या मोक्ष की प्राप्ति है तथा इसकी प्राप्ति के लिए किसी दूसरे कर्म का अनुष्ठान करने की आवश्यकता नहीं होती है।
- (4) **विषयभेद** — अब धर्मजिज्ञासा एवं ब्रह्मजिज्ञासा के विषयों के भेद की बात उठायी जाती है और यह स्पष्ट करने का प्रयास किया जाता है कि जिस प्रकार धर्मजिज्ञासा व ब्रह्मजिज्ञासा के फल में भेद है, उसी प्रकार उनके विषयों में भी विलक्षणता पायी जाती है। धर्मजिज्ञासा का भव्य है अर्थात् कर्मानुष्ठान के उपरान्त उत्पन्न होने वाला है तथा धर्मजिज्ञासा के ज्ञान—काल विद्यमान नहीं हैं, क्योंकि उसके लिए पुरुष व्यापार की आवश्यकता होती है। इसके विपरीत ब्रह्मजिज्ञासा का विषय भूत अर्थात् नित्यसिद्ध ब्रह्म है। अतः इसके लिए किसी पुरुष व्यापार की आवश्यकता नहीं है। तात्पर्य यह है कि इन दोनों शास्त्रों के फलों विषयों के नितान्त भिन्न होने के कारण उन दोनों में न शेषशेषिभाव सम्बन्ध हो सकता है और न ही कोई क्रम ही विवक्षित है।
- (5) **चेतना प्रवृत्ति भेद** — 'चेतना' शब्द का अर्थ है— प्रेरणा देने वाला विधिवाक्य धर्ममीमांसा के विधिवाक्य की प्रवर्तकता भिन्न प्रकार की है। पूर्वमीमांसा में आए विधिवाक्य; जैसे 'स्वर्ग काम यजेत्' अर्थात् 'याग स्वर्ग प्राप्ति का साधन है' इस बात का बोध भी कराते हैं तथा याग के अनुष्ठान में अधिकारी व्यक्ति को प्रवृत्त भी करते हैं, क्योंकि पूर्वमीमांसा की मान्यता है कि योग के अनुष्ठान के बिना स्वर्ग की प्राप्ति संभव नहीं है। इसके विपरीत 'ब्रह्मचेतना' या ब्रह्मपरक विधिवाक्य केवल ब्रह्मज्ञान प्राप्त कराते हैं, पुरुष को उसमें नियुक्त नहीं कराते । जिस प्रकार इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष के द्वारा अर्थ का ज्ञान प्राप्त होता है, पुरुष को उसमें प्रवृत्त नहीं कराया जाता, उसी प्रकार 'ब्रह्मचेतना' या 'ब्रह्मज्ञान' विधिवाक्य केवल ब्रह्म का ज्ञान कराते हैं, इसके लिए पुरुष को उसमें नियुक्त करने की आवश्यकता नहीं होती। ब्रह्मज्ञान 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों द्वारा उत्पन्न हो जाता है, इसके लिए किसी कर्मानुष्ठान की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार विधि वाक्यों की प्रवृत्ति में भेद होने के कारण धर्म जिज्ञासा एवं ब्रह्मजिज्ञासा के बीच क्रम विवक्षित नहीं है।

कुछ भाष्यकारों का यह मानना है कि जिस प्रकार चेतना—वाक्य (विधिपरक वाक्य) केवल विषय—वस्तु का अवबोध ही नहीं करता, वरन् बोध्यमान पदार्थ में प्रवृत्त भी करता है, उसी प्रकार वेदान्त वाक्य भी केवल ब्रह्मावबोध के जनक नहीं, अपितु उसमें प्रवर्तक भी होते हैं। जैसे; 'आत्मा व अरे द्रष्टव्यो, श्रोतव्यो मन्तव्यः।' परन्तु शंकराचार्य और वाचस्पति मिश्र इस व्याख्या को स्वीकार नहीं करते। वे प्रश्न करते हैं, कि यदि वेदान्तवाक्यों को ब्रह्मावबोध में प्रवर्तक माना जाता है, तब क्या (1) वह ब्रह्म विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान में प्रवर्तक है? अथवा (2) वह ब्रह्मोपासना में प्रवर्तक है अथवा (3) परीक्षात्मक शब्दबोध में प्रवर्तक है? शंकराचार्य और वाचस्पति

मिश्र को प्रथम विकल्प स्वीकार्य नहीं है क्योंकि ब्रह्मसाक्षात्कार ब्रह्मस्वरूप होने के कारण नित्य है, जिसके लिए किसी प्रकार के कर्म की अपेक्षा नहीं है। द्वितीय विकल्प भी संगत नहीं है, क्योंकि किसी भी वस्तु का निरन्तर दीर्घकाल तक मनन करने से उसका साक्षात्कार सहजतः हो जाता है, उसके लिए उपासना क्रिया की कोई आवश्यकता नहीं होती। तृतीय विकल्प भी संभव नहीं है, क्योंकि जिस व्यक्ति को पद-पदार्थ की संगति का ज्ञान हो गया है उसे वेदान्त वाक्यों के श्रवण करते ही ब्रह्म का शब्दबोध ज्ञान विधि के बिना वैसे ही सम्पन्न हो जाता है, जैसे इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के बाद नियमतः अर्थज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

इस प्रकार आचार्य शंकर 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' सूत्र में यह स्पष्ट करते हैं कि 'अथ' पद का अर्थ यहाँ न तो 'स्वाध्यायानन्तर्य' है और न ही कर्मावबोधानन्तर्य ही है। अब यहाँ स्वाभाविक प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि तब 'अथ' शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है? किसके अनन्तर्य ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए। शंकराचार्य ने यहाँ 'अथ' शब्द का 'आनन्तर्य' अर्थ तो लिया है, किन्तु यह न तो स्वाध्यायानन्तर्य है और न ही कर्मावबोधानन्तर्य है बल्कि आचार्य शंकर के अनुसार यह आनन्तर्य साधन सम्पत्त्यानन्तर्य है। आचार्य शंकर के अनुसार 'साधन चतुष्टय' के अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए। वह साधनचतुष्टय क्या है? शंकराचार्य के अनुसार वे साधन चतुष्टय निम्न है—

- (1) **नित्यानित्यवस्तु विवेक** — नित्य अर्थात् ब्रह्म एवं अनित्य अर्थात् जगत् के बीच विवेक अर्थात् भेद ज्ञान इस भेद ज्ञान के अनन्तर साधक ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करने के लिए उद्यत होता है।
- (2) **इहामुत्रार्थभोगविराग** — 'इह' से तात्पर्य सांसारिक से है तथा 'अमुत्र' से यहाँ तात्पर्य पारलौकिक से है। इस प्रकार 'इहार्थ' और 'अमुत्रार्थ' विराग का अर्थ हुआ— सांसारिक सुखभोग और पारलौकिक सुखभोग दोनों से विराग।
- (3) **शमदमादिसाधनसम्पत्**— शमादि साधन सम्पत् से यहाँ तात्पर्य 'षट्सम्पत्ति' से है। षट् सम्पत्ति शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा तथा समाधान है। इन षट् सम्पत्तियों से युक्त होने पर ही कोई साधक ब्रह्मजिज्ञासा कर सकता है।
- (4) **मुमुक्षुत्व** — 'मुमुक्षुत्व' से तात्पर्य मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा से है। यदि किसी साधक के मन में मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा विद्यमान है, तो वह 'धर्मजिज्ञासा' के पहले भी और बाद में भी ब्रह्मजिज्ञासा कर सकता है।

अतः यह स्पष्ट होता है कि शंकराचार्य 'अथ' के विभिन्न प्रचालित अर्थों में से 'आनन्तर्य' के अर्थ को ग्रहण करते हुए 'साधन-चतुष्टय' के आनन्तर्य का बोधक माना है।

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा—

आचार्य शंकर ने 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' में 'अथ' पद के पश्चात् 'अतः' पद की व्याख्या की ओर अग्रसर होते हैं। 'अतः' शब्द 'हेत्वर्थक' है, क्योंकि वेद ही 'अग्निहोत्रादि' स्वर्ग साधकों के फल की अनित्यता को सूचित करता है। श्रुति कहती है, जैसे यहाँ कर्मों द्वारा प्राप्त लोक अर्थात् जन्म का नाश होता है, उसी प्रकार परलोक में पुण्य द्वारा संचितलोक का भी नाश होता है। इसके विपरीत ब्रह्मज्ञान के विषय में श्रुति कहती है कि ब्रह्मज्ञानी परम पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष को

प्राप्त करता है। कर्मफल अनित्य है तथा ज्ञान का फल अर्थात् मोक्ष नित्य है। अतः मोक्ष की कामना करने वाले साधकों को वेदान्त वाक्यों का मनन करना चाहिए।

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा

ब्रह्मजिज्ञासा—

‘अथातो ब्रह्मजिज्ञासा’ में शंकराचार्य ‘अथ’ और ‘अतः’ की व्याख्या करने के पश्चात् ‘ब्रह्मजिज्ञासा’ शब्द की व्याख्या प्रारम्भ करते हैं। ‘ब्रह्म’ पर विचार करना ही ब्रह्मजिज्ञासा है। ‘ब्रह्मणः जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा’ इस विग्रह वाक्य में ‘ब्रह्मणः’ यह कर्म षष्ठी है, शेष पद षष्ठी नहीं है, क्योंकि जिज्ञासा को जिज्ञास्य विषय (कर्म) की अपेक्षा है और ब्रह्म से भिन्न अन्य किसी कर्म का यहाँ निर्देश नहीं पाया जाता। कुछ पूर्व व्याख्याकार ‘ब्रह्मणः जिज्ञासा’ में ‘कर्मषष्ठी’ न मानकर ‘शेषषष्ठी’ मानते हैं। ‘शेषषष्ठी’ का अर्थ है— सम्बन्ध सामान्य में षष्ठी। कृदन्त पद के योग में कर्ता में भी षष्ठी हो सकती है, और कर्म में भी। किन्तु जहाँ दोनों में युगपद् षष्ठी प्राप्त हो, वहाँ कर्म में भी षष्ठी करनी चाहिए। इस प्रकार, पूर्व व्याख्याकारों के अनुसार शेषषष्ठी मानने पर भी ‘ब्रह्म’ को जिज्ञासा का कर्म मानने में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि शेषषष्ठी में निहित सम्बन्ध सामान्य की समाप्ति भी किसी विशेष सम्बन्ध (यहाँ कर्म) में हो सकती है। परन्तु शंकराचार्य इस ‘शेषषष्ठी’ रूप सम्बन्ध को स्वीकार नहीं करते। ‘कर्मषष्ठी’ मानने पर ‘ब्रह्म’ पद जिज्ञासा ‘कर्मत्व’ का साक्षात् अन्वय हो सकता है तथा ‘शेषषष्ठी’ मानकर पुनः उसका कर्म में उपसंहार करने से कर्मता परोक्ष रूप से आती है। अतः शंकराचार्य के अनुसार ‘ब्रह्मणः जिज्ञासा’ में शेषषष्ठी न मानकर कर्मषष्ठी ही मानना चाहिए।

आचार्य शंकर इस प्रश्न पर भी विचार करते हैं कि उनके मत के विरोध में कुछ पूर्व व्याख्याकार यह तर्क रख सकते हैं कि ‘कर्मषष्ठी’ की अपेक्षा ‘शेषषष्ठी’ मानना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि केवल ‘कर्मषष्ठी’ मानने में सम्बन्ध संकुचित हो जाता है, किन्तु ‘शेषषष्ठी’ मानने पर विचार का क्षेत्र पर्याप्त व्यापक हो जाता है। शेष का अर्थ ही होता है— ‘सम्बन्ध—सामान्य’ और उस ‘सम्बन्ध—सामान्य’ कर्ता, कर्म, करण इत्यादि सभी सम्बन्धों का समावेश हो जाता है। इस प्रकार, ब्रह्म का सभी प्रकार का अशेष विचार ‘शेषषष्ठी’ पद में आ जाता है। अतः ‘शेषषष्ठी’ मानकर ही हमें उसका उपसंहार ‘कर्मषष्ठी’ में करना चाहिए। इसलिए पूर्वव्याख्याकार कह सकते हैं कि उनका प्रयास व्यर्थ नहीं है।

शंकराचार्य अपने से पूर्व व्याख्याकारों द्वारा ‘ब्रह्मणः जिज्ञासा’ की ‘शेषषष्ठी’ के रूप में की गयी व्याख्या पर आपत्ति करते हुए कहते हैं कि पूर्व व्याख्याकारों की बात सत्य नहीं है, क्योंकि प्रधान का ग्रहण हो जाने पर उससे सम्बद्ध सभी विचारों का ग्रहण स्वतः हो जाता है। उनका पृथक् रूप में व्याख्यान करने की आवश्यकता नहीं होती। अब प्रश्न उठता है कि प्रधान कौन है? ज्ञान के द्वारा प्राप्त करने में ‘ब्रह्म’ इष्टतम है, अतः वह प्रधान है। जिज्ञासा के कर्मभूत उस ब्रह्म का ग्रहण हो जाने पर जिनके विचार के बिना ब्रह्म की जिज्ञासा नहीं बन सकती, उन सब का अर्थतः आक्षेप स्वतः ही हो जाता है। उदाहरण के लिए ‘राजासौ गच्छति’ अर्थात् ‘यह राजा जा रहा है’ ऐसा कहने पर परिवारादि सहित राजा का गमन सूचित होता है। इसी प्रकार प्रधान ब्रह्म का ग्रहण हो जाने पर जिनके बिना उसका विचार पूर्ण नहीं होता, वे सब अर्थतः स्वतः आक्षिप्त हो जाते हैं। अतः शंकराचार्य के अनुसार कर्मषष्ठी मानने पर भी ब्रह्मश्रित अशेष विचार स्वतः उस पर आश्रित हो सकता है, उसके लिए शेषषष्ठी मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

शंकराचार्य ‘अथातो ब्रह्मजिज्ञासा’ सूत्र में ‘ब्रह्मणः जिज्ञासा’ में अब तक ‘शेषषष्ठी’ के स्थान पर ‘कर्मषष्ठी’ का प्रतिपादन युक्तियों के आधार पर किया, अब

श्रुतियों को आधार मानकर अपने पक्ष का समर्थन करने का प्रयास किये हैं। उन्होंने तैत्तिरीय उपनिषद् का उद्धरण देते हुए कहा है कि— “यतो व इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्ति अभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म” अर्थात् जिससे ये प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिसके द्वारा उत्पन्न होने पर जीवित रहते हैं, तथा मरणोन्मुख होने पर जिसमें सभी लीन हो जाते हैं, उसे जानने की इच्छा करो, वह ब्रह्म है। इस श्रुतिवाक्य में ब्रह्म को जिज्ञासा का साक्षात् रूप में कर्म माना गया है। अतः कर्मषष्ठी मानना ही उचित है।

शंकराचार्य ने ‘अथातो ब्रह्मजिज्ञासा’ सूत्र में अथ, अतः ब्रह्मणः इत्यादि की व्याख्या प्रस्तुत करने के पश्चात् ‘जिज्ञासा’ शब्द की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। उनका यह कहना है कि ‘जिज्ञासा’ पद ‘ज्ञा’ धातु से सन् प्रत्यय के लगने से निष्पन्न होता है। सन् प्रत्यय इच्छार्थक होता है। इस विश्लेषण के अनुसार जानने की इच्छा ही ‘जिज्ञासा’ हुई। ब्रह्मज्ञान विषयक इच्छा की पूर्णता या समाप्ति ब्रह्म या ईश्वर विषयक साक्षात्कार में होती है। अतः यहाँ जिज्ञासा पद से ‘अवगति पर्यन्तज्ञानम्’ अर्थात् साक्षात्कारात्मक अनुभूति का ग्रहण होता है और उसका विषय या कर्म ब्रह्म है, क्योंकि इच्छा सदा फल विषयिणी होती है। ज्ञान रूप प्रमाण के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति अभीष्ट है और ब्रह्म का साक्षात्कार ही परम पुरुषार्थ है। इसलिए सब को ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए। परन्तु यहाँ एक अन्य गम्भीर प्रश्न उठ खड़ा होता है, जो ‘जिज्ञासा’ की सम्भाव्यता से है और वह प्रश्न यह है कि ब्रह्म प्रसिद्ध है अथवा अप्रसिद्ध? यदि वह लोक में प्रसिद्ध अर्थात् सबको ज्ञात है, तो उसकी जिज्ञासा करने की आवश्यकता ही नहीं है तथा यदि वह अप्रसिद्ध या लोक में अज्ञात है तो उसकी जिज्ञासा संभव ही नहीं है। अतः दोनों अवस्थाओं में ब्रह्मजिज्ञासा असंभव है।

परन्तु ‘ब्रह्म’ जिज्ञासा की संभावना को लेकर उठाये गये प्रश्न का समाधान करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि ब्रह्म पूर्ण रूप में हमारे लिए अज्ञात नहीं है। ‘ब्रह्म’ शब्द के व्युत्पत्तिलभ्य व्याख्या में ब्रह्म के विभिन्न गुण स्वतः आ जाते हैं। ‘वृह वृद्धौ’ धातु से ब्रह्म शब्द बनता है, जिसमें ‘नित्यत्व’, ‘सर्वज्ञत्व’ सर्वशक्तिमत्त्व, ‘सर्वव्यापकत्व’ आदि ब्रह्म के गुण प्रकट होते हैं। इसके साथ सबका आत्मभूत होने से उस ब्रह्म के अस्तित्व की प्रतीति भी होती है। प्रत्येक व्यक्ति अपने अस्तित्व का अनुभव करता है। मैं नहीं हूँ ऐसा अनुभव नहीं करता है। पुनः आत्मा ही ब्रह्म है। अतएव ब्रह्म अज्ञात नहीं है।

ब्रह्म के विषय में एक प्रश्न यह भी उठाया जाता है कि यदि सबका आत्मा होने से ब्रह्म लोक प्रसिद्ध है, तो फिर उसकी जिज्ञासा ही व्यर्थ हो जाती है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि आत्मा की सामान्य रूप से अस्तित्व ज्ञान होने पर भी उसके विशेष स्वरूप के विषय में लोगों में मतभेद पाया जाता है। भौतिकवादी चार्वाक चैतन्य युक्त शरीर को ही आत्मा कहते हैं। कुछ लोग इन्द्रियों को ही चेतन आत्मा मानते हैं। कुछ दार्शनिक सम्प्रदाय ‘मन’ को आत्मा समझ लेते हैं। योगाचार बौद्ध क्षणिक विज्ञान को ही आत्मा कहते हैं। माध्यमिक बौद्ध शून्य को ही आत्मा कहते हैं। नैयायिकों के अनुसार आत्मा कर्त्ता और भोक्ता है, जो देहादि से भिन्न है। कुछ विचारक आत्मा को केवल भोक्ता के रूप में ही स्वीकार करते हैं, कर्त्ता के रूप में नहीं। ईश्वर को मानने वाले जीवात्मा से भिन्न ईश्वर को परम आत्मा के रूप में स्वीकार करते हैं। अतएव यह कहा जा सकता है कि आत्मा के स्वरूप को लेकर चाहे जो भी मतभेद हो, किन्तु सभी भारतीय दार्शनिकों ने आत्मा के सामान्य रूप को मान्यता दी है।

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि सभी भारतीय दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न रूपों में तर्क-वितर्क करके ब्रह्म को ही किसी न किसी रूप में अपने गवेषणा एवं जिज्ञासा का विषय बनाया है। आचार्य शंकर का यह स्पष्ट अभिमत है कि बिना ब्रह्म के विषय में उचित रूप से विचार किये किसी विशेष मत को मान लेने वाला व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता, वह उल्टे अनर्थ में अवश्य फँस जाएगा। इसलिए उन्होंने मोक्ष की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक समझा कि 'ब्रह्मजिज्ञासा' के द्वारा ही सभी प्रकार के बाधाओं का परिहार संभव है। उन्होंने ब्रह्मजिज्ञासा के द्वारा अविरोधी तर्कों से उपनिषद् वाक्यों की मीमांसा की और यह दिखाया कि 'ब्रह्मजिज्ञासा' सबके लिए मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है। ब्रह्मसूत्र के प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' का यही निहितार्थ है।

प्रश्नावली

लघु उत्तरीय प्रश्न—

1. वेदान्त का प्रथम सूत्र क्या है? स्पष्ट करें।
2. ब्रह्म जिज्ञासा का उद्देश्य क्या है?
3. अथातो ब्रह्म जिज्ञासा में 'अथ' पद का अर्थ बताएँ।
4. अथातो ब्रह्म जिज्ञासा में 'जिज्ञासा' पर का अर्थ बताएँ।
5. शंकराचार्य के अनुसार 'साधन चतुष्टय' क्या है?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न—

1. अथातो ब्रह्म जिज्ञासा पर एक निबन्ध लिखिए।
2. 'ब्रह्म जिज्ञासा' की व्याख्या करें।

इकाई-2

'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र की व्याख्या

संरचना

- 2.0 उद्देश्य
- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 वस्तु लक्षण
 - 2.2.1 'तादात्म्येन'
 - 2.2.2 तर्द्धमत्वेन
 - 2.2.3 तज्जन्यत्वेन
- 2.3 ब्रह्म के तज्जन्यत्व लक्षण के रूप में स्वरूप एवं तटस्थ लक्षण
- 2.4 शंकराचार्य के द्वारा 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र का विश्लेषण एवं व्याख्या
 - 2.4.1 जन्मादि
 - 2.4.2 अस्य
 - 2.4.3 यतः
- 2.5 सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान ब्रह्म का ही जगत के उत्पत्ति का कारण होने का आधार
- 2.6 क्या ईश्वर जगत का निमित्त कारण मात्र है?
- 2.7 धर्म जिज्ञासा और ब्रह्म जिज्ञासा में भेद
- 2.8 निष्कर्ष

2.0 उद्देश्य

'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' नामक प्रथम सूत्र में शंकराचार्य ने ब्रह्म जिज्ञासा के विषय पर विचार करने की प्रतिज्ञा की। 'ब्रह्मजिज्ञासा' के द्वारा शंकराचार्य ब्रह्म के स्वरूप की ओर कुछ संकेत अवश्य किया है, किन्तु उस पर विस्तार पूर्वक विचार प्रस्तुत नहीं किया है। ब्रह्म के जिज्ञासितव्य के लिए उसके लक्षण प्रकट करना आवश्यक है। आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र के दूसरे सूत्र 'जन्माद्यस्य यतः' द्वारा ब्रह्म के तटस्थ लक्षण को बताया है, उसका स्वरूप लक्षण नहीं। जो धर्म-धर्मी के साथ केवल कुछ समय ही सम्बद्ध हो, वह तटस्थ लक्षण है। जो धर्म-धर्मी के साथ सदैव रहे, वह स्वरूप लक्षण है। शंकराचार्य 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र के द्वारा ब्रह्म के तटस्थ लक्षण को व्यंजित करते हुए वे दिखाते हैं कि इस जगत् का कारण सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान ब्रह्म है।

2.1 प्रस्तावना

शंकराचार्य ने ब्रह्म सूत्र के प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' के माध्यम से प्रतिपाद्य विषय के नाम का केवल उल्लेख किया। ब्रह्म सूत्र के दूसरे सूत्र 'जन्माद्यस्य यतः' के द्वारा प्रतिपाद्य विषय 'ब्रह्म' का लक्षण या स्वरूप का निरूपण करने का प्रयास किया है। शंकराचार्य ने दूसरे सूत्र की व्याख्या द्वारा यह दिखाने का प्रयास किया है कि विश्व में जो भी वस्तु अनुभूत होती है, वह परिमित, अविशुद्ध, अबुद्ध और नश्वर है। उसकी उपलब्धि से उसके विरुद्ध नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव ब्रह्म का स्वरूप नहीं जाना जा सकता है, क्योंकि लोक में कृतक (जन्य) पदार्थ के द्वारा नित्य पदार्थ कभी भी लक्षित नहीं होता। नित्यत्वादि धर्मों के द्वारा नित्य ब्रह्म का लक्षण तो किया जा सकता है, किन्तु नित्यत्वादि धर्म संसार में कहीं उपलब्ध ही नहीं हैं। किसी भी पदार्थ का लोक प्रसिद्ध धर्म ही लक्षण माने जाते हैं, अप्रसिद्ध धर्म नहीं। जब नित्य, शुद्ध, बुद्ध स्वरूप ब्रह्म प्रसिद्ध ही नहीं है, ऐसी स्थिति में कोई पद उसका अभिधान कैसे करेगा? पदार्थ ही वाक्यार्थ होता है। जब संसार में 'ब्रह्म' पद का अर्थ ही नहीं है, तो किसी वाक्य द्वारा 'ब्रह्म' का बोध कैसे कराया जा सकता है कि ब्रह्म का कोई लक्षण न हो सकने के, परिणामस्वरूप ब्रह्म के जिज्ञासितव्य पर भी शंका की जाती है। इस प्रकार के आक्षेप का परिहार करने के लिए ही सूत्रकार ने 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र की रचना की है।

2.2 वस्तु लक्षण

सूत्रकार ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि ब्रह्म का 'तादात्म्येन' या 'तद्धर्मत्वेन' लक्षण भले ही न हो, किन्तु तज्जन्यत्वेन लक्षण अवश्य ही किया जा सकता है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार किसी भी वस्तु का तीन प्रकार से लक्षण किया जा सकता है।

2.2.1 'तादात्म्येन'

जब कोई लक्षण लक्ष्य से बिल्कुल तादात्म्य हो, तो उसे 'तादात्म्येन' लक्षण कहा जाता है, जैसे यदि कोई कहे कि "यह वृक्ष शिशपा है", तो यहां 'शिशपा' जो वृक्ष का लक्षण दिया गया है, वह तादात्म्येन लक्षण दिया गया है।

2.2.2 तद्धर्मत्वेन

कोई लक्षण लक्ष्य का धर्म होता है, जैसे 'सास्वनादिमत्त्व' 'गौ' का धर्म है। यदि कोई कहे कि 'यह गाय सास्वनादिमत्त्व है' तो यहां 'सास्वनादिमत्त्व' जो गाय है का लक्षण दिया गया है, वह तद्धर्मत्वेन लक्षण दिया गया है।

2.2.3 तज्जन्यत्वेन

जब कोई लक्षण लक्ष्य से उत्पन्न होकर लक्ष्य का लक्षण हो जाता है, तो उसे 'तज्जन्यत्वेन' लक्षण कहा जाता है, जैसे धूम्र अग्नि का लक्षण है। पर्वत पर धूम्र देखकर हम 'अग्नि' लक्ष्य का ज्ञान करते हैं, क्योंकि धूम्र अग्नि से जन्य है। अतः यहां धूम्र अग्नि का तज्जन्यत्वेन लक्षण है।

2.3 ब्रह्म के तज्जन्यत्व लक्षण के रूप में स्वरूप एवं तटस्थ लक्षण

किसी भी वस्तु में दिये गये उपर्युक्त तीन लक्षणों में से ‘जन्माद्यस्य यतः’ सूत्र में ‘जन्मादि’ लक्षण द्वारा महर्षि वादरायण ने ‘ब्रह्म’ को सिद्ध करने का जो प्रयास किया है, वह ब्रह्म का ‘तज्जन्यत्व’ लक्षण है क्योंकि ब्रह्म से ही जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं लय होता है। जहाँ तक लक्षण से अभिप्राय है, तो उसके विषय में यह कहा जाता है कि किसी भी वस्तु के व्यावर्तिक गुण को लक्षण कहते हैं। वह असाधारण धर्म जो लक्ष्यमाण को छोड़कर अन्यत्र न पाया जाता हो, उसे लक्षण कहा जाता है। यह लक्षण दो प्रकार का हो सकता है— प्रथम स्वरूप लक्षण एवं द्वितीय तटस्थ लक्षण। वह लक्षण जो वस्तु के स्वरूप के अन्तर्निहित होता है तथा अन्य वस्तुओं से भेद करने वाला हो, उसे स्वरूप लक्षण कहते हैं। उदाहरण के लिए सत् चित् एवं आनन्द ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है, क्योंकि ये तीनों लक्षण ब्रह्म में अन्तर्निहित हैं और अन्य जागतिक वस्तुओं से ब्रह्म को पृथक् करने वाले हैं। तटस्थ लक्षण स्वरूप लक्षण से भिन्न होता है। जो लक्षण किसी वस्तु के अन्तर्गत न होने पर भी अन्य वस्तुओं से भेद करने वाला हो, उसे तटस्थ लक्षण कहते हैं। वादरायण ने ब्रह्म सूत्र में ‘जन्माद्यस्य यतः’ के रूप में जो द्वितीय सूत्र दिया है, वह ‘ब्रह्म’ का तटस्थ लक्षण है, क्योंकि जगत् के जन्म, स्थिति और प्रलय ब्रह्म के स्वरूप में अन्तर्गत नहीं आते, किन्तु अन्य जीव तथा प्रकृति दोनों से ब्रह्म या ईश्वर को भिन्न करते हैं।

2.4 शंकराचार्य के द्वारा ‘जन्माद्यस्य यतः’ सूत्र का विश्लेषण एवं व्याख्या

शंकराचार्य ‘जन्माद्यस्य यतः’ सूत्र की व्याख्या करते हुए यह दिखाया है कि यह सूत्र ‘जन्मादि+अस्य+यतः’ इन तीन शब्दों के मेल से बनता है। इन तीनों शब्दों की पृथक् व्याख्या इस प्रकार है —

2.4.1 जन्मादि

जन्मादि का अर्थ है, जन्म जिनके आदि में है। जन्मादि से यहाँ जन्म स्थिति एवं भंग अर्थात्, उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तीनों का ग्रहण होता है इसे ‘तद्गुणसंविज्ञानबहुब्रीहि’ समास कहा जाता है। जिस व्याख्या के अनुसार जन्म का संग्रह भी जन्मादि पद से हो जाय, उसे ‘तद्गुणसंविज्ञानबहुब्रीहि’ कहा जाता है। परन्तु जिस व्याख्या से अनुसार जन्म को छोड़कर केवल स्थिति एवं प्रलय दो का ही ग्रहण जन्मादि पद से हो, उसे ‘अतद्गुणसंविज्ञान बहुब्रीहि’ कहा जाता है। चूँकि यहां शंकराचार्य जन्मादि पद से जन्म, स्थिति एवं प्रलय तीनों को ग्रहण करना चाहते हैं, अतः उन्होंने ‘जन्मादि’ पद में ‘तद्गुणसंविज्ञान बहुब्रीहि’ स्वीकार किया है। ‘जन्माद्यस्य यतः’ सूत्र में ‘जन्म’ को जो सबसे पहले निरूपित किया गया है। उसके विषय में शंकराचार्य का यह कहना है कि वह श्रुति द्वारा निर्दिष्ट एवं वस्तुस्थिति दोनों ही दृष्टियों से समर्थित है। श्रुति स्पष्ट रूप से यह संकेत करती है कि— ‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयान्तिभिसंविशन्ति तद् ब्रह्म’। इस श्रुतिवाक्य में स्पष्ट रूप से जन्म, स्थिति एवं प्रलय के क्रम को दिखाया गया है। वस्तुस्थिति भी ऐसी ही होती है। प्रथम वस्तु का जन्म होता है, तब उसकी स्थिति एवं लय संभव होता है। शंकराचार्य के अनुसार जन्मादि का यही भावार्थ है।

2.4.2 'अस्य'

पद के द्वारा शंकराचार्य ने प्रत्यक्ष रूप से दिखायी देने वाले जगत् (इदम्) का निर्देश किया है। इसमें षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया है, जो जगत् के जन्मादि के साथ सम्बन्ध को सूचित करती है।

2.4.3 यतः

शंकराचार्य का यह मानना है कि 'यतः' पद से उपादान एवं निमित्त कारण का निर्देश किया गया है। शंकराचार्य का यह कहना है कि यह जगत् नाम और रूप के द्वारा अभिव्यक्त अनेक कर्त्ता एवं भोक्ता से युक्त है, जिसमें नियत देश और नियत काल पर ही जीवात्माओं को उनके कर्मों का फल प्राप्त होता है। इसप्रकार ऐसे सूक्ष्म एवं क्लिष्ट रचना वाले इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय जिस सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान कारण से होता है, उसे ब्रह्म या ईश्वर कहते हैं। यह सूत्र का अध्याहार है। अतएव 'जन्माद्यस्य यतः' सम्पूर्ण सूत्र का अध्याहार है। अतएव 'जन्माद्यस्य यतः' सम्पूर्ण सूत्र का भावार्थ यह है कि — इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय जिस निमित्त कारण से होती है वह ब्रह्म या ईश्वर कहलाता है। यह सूत्र ब्रह्म के तटस्थ लक्षण की अभिव्यंजना करता है।

2.5 सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान ब्रह्म का ही जगत् के उत्पत्ति का कारण होने का आधार

प्रायः यह प्रश्न उठाया जाता है कि जगत् के उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय की स्थिति का एक मात्र कारण सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान ब्रह्म ही को क्यों माना जाएँ? जगत् की रचना अचेतन, प्रधान, अणु, अभाव, संसारी (जीवात्मा) या अन्य किसी कारण से क्यों न स्वीकार किया जाएँ? इन प्रश्नों के सन्दर्भ में शंकराचार्य का कहना है कि प्रधान अणु इत्यादि अचेतन कारणों से सृष्टि की रचना संभव नहीं है। सृष्टि के लिए सर्वदा चेतन कारण की आवश्यकता होती है। जीवात्मा जो अज्ञानी व अशक्त है स्वयं सृष्टि को कारण नहीं हो सकता है। स्वभावतः भी सृष्टि संभव नहीं है, क्योंकि यदि स्वभावतः पदार्थों की उत्पत्ति हो जाएँ, तो किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति के लिए विशिष्ट देश—काल या विशिष्ट सामग्री की आवश्यकता न हो।

उपर्युक्त समस्या को वाचस्पति मिश्र ने निम्न प्रकार से उठाने की चेष्टा की है — श्रुतियों में प्रधान (प्रकृति), काल, ग्रह(सूर्यादि), लोकपाल, क्रिया, यदृच्छा, स्वभाव, अभाव(शून्य) आदि द्वारा जगत् की उत्पत्ति प्रतिपादित है। ऐसी स्थिति में सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान ब्रह्म को जगत् का कारण कैसे माना जा सकता है? इस शंका का समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं— 'अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य'। व्याकृतत्वादि विशेषणों से युक्त जगत् में चेतनकर्तृत्व और भावकर्तृत्व ही हो सकता है, क्योंकि जिस पदार्थ को नाम और रूप दिया जाता है, वह चेतनकर्तृत्व ही होता है, जैसे घटादि। विवादास्पद जगत्—नाम—रूपात्मक है, अतः चेतन कर्तृत्व है। वह चेतन सत्ता ब्रह्म है। यदि कोई कहे कि ग्रह और लोकपालादि जो चेतन सत्ताएं हैं, वे अपनी बुद्धि में निर्देश करके जगत् की रचना कर देंगे, इसके लिए ब्रह्म की क्या आवश्यकता है? इस शंका निराकरण करने के लिए भाष्यकार ने 'अनेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य' का प्रयोग किया गया है। ग्रह, लोकपालादि भी तो उसी जगत् में समाविष्ट हैं, जिसका कर्त्ता ब्रह्म माना जाता

है। इसके अतिरिक्त कुछ पुरुष किसी कार्य के कर्त्ता ही होते हैं, भोक्ता नहीं; जैसे ऋत्विग्गण यजमान से दक्षिणा लेकर यजमान के लिए कर्म करते हैं, किन्तु कर्मजन्य फल का भोक्ता यजमान ही होता है, ऋत्विग नहीं। इसी प्रकार कुछ पुरुष कर्मजन्य फल के भोक्ता ही होते हैं, कर्त्ता नहीं, जैसे श्राद्ध कर्म से जन्य फल के भोक्ता पितृगण ही होते हैं, कर्त्ता नहीं। इस प्रकार ब्रह्म द्वारा रचित जगत् में कर्त्ता और भोक्ता दोनों का समावेश है, केवल कर्त्ता या केवल भोक्ता नहीं, अतः एक सत्ता ऐसी अवश्य होनी चाहिए, जो सृष्टि का केवल कर्त्ता हो और वह सत्ता ब्रह्म या ईश्वर है।

‘जन्माद्यस्य यतः’ सूत्र के भाष्यकारों का यह स्पष्ट अभिमत है कि यह जगत् किसी परिमित शक्तिवाले ग्रह या लोकपालादि की रचना न होकर किसी सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान ब्रह्म या ईश्वर की रचना है। इसे सिद्ध करने के लिए वाचस्पति मिश्र ने एक दूसरा तर्क भी दिया है। उनका यह मानना है कि सृष्टि के भीतर एक व्यवस्था या क्रम है, जिसे किसी साधारण चेतन सत्ता द्वारा सम्पादित नहीं किया जा सकता। इस व्यवस्था की अभिव्यक्ति के लिए भाष्यकार ने ‘देशकाल निमित्तक्रियाफलानि’ का प्रयोग किया है। कुछ पदार्थ प्रतिनियत देश में ही उत्पन्न होते हैं, जैसे –काले हिरण यज्ञ योग्य देश में ही पाए जाते हैं। कुछ पदार्थ किसी काल विशेष में होते हैं, जैसे कोयल का मधुर स्वर बसन्त ऋतु में ही सुना जाता है। कुछ वस्तुएँ नियत-निमित्तक होती हैं, जैसे नवल मेंघमाला का गर्जन सुनकर बगुलियां गर्भ-धारण करती हैं। कुछ लोगों की क्रिया नियत होती है जैसे ब्राह्मणों का ही यागादि कर्म कराना काम होता है, क्षत्रियादि का नहीं। इसी प्रकार कुछ प्राणियों का सुखादि रूप फल नियत होता है, जैसे ब्रह्म लोकस्थ जीवों को सुख और नरकवासी प्राणियों को दुःख ही प्राप्त होता है। इस प्रकार का प्रपंच न तो स्वाभाविक हो सकता है और न यादृच्छिक, किन्तु किसी सर्वज्ञ और सर्वशक्तिशाली सम्पन्न ईश्वर द्वारा ही रचित हो सकता है। इसीलिए भाष्यकार ने इसे ‘मनसाऽप्यचिन्त्यरचनारूपस्य’ कहा है।

2.6 क्या ईश्वर जगत् का निमित्त कारण मात्र है

‘जन्माद्यस्य यतः’ की व्याख्या में एक दूसरा प्रश्न भी उपस्थित हो सकता है और वह यह है कि जिस प्रकार नैयायिक सृष्टि को कार्य मानकर उसके निमित्त कारण के रूप में ईश्वर का अनुमान कर लेते हैं, उसी प्रकार क्या यहाँ वेदान्ती ‘जन्माद्यस्य यतः’ के आधार पर ब्रह्म या ईश्वर के अस्तित्व का अनुमान कर रहा है? नैयायिकों का अनुमान निम्न प्रकार का है – ‘क्षित्यादिकं जगत् सकर्तृकम्, जन्मादियुक्त्वाद् घटादिवत्’ इस प्रश्न के उत्तर में शंकराचार्य कहते हैं कि ‘जन्माद्यस्य यतः’ कोई अनुमान नहीं है। अनुमान से ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। अनुमान वहीं संभव है जहाँ व्याप्ति है। ब्रह्म और जगत् में जगत् तो प्रत्यक्ष का विषय है, किन्तु ब्रह्म प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। अतः दोनों के बीच व्याप्ति की स्थापना असम्भव होने से उसे अनुमान नहीं कहा जा सकता। अतएव ‘जन्माद्यस्य यतः’ अनुमान बोध न होकर श्रुतिवाक्य रूपी कुसुमों के ग्रन्थन के लिए बनाया गया है। ब्रह्म का साक्षारात्मक ज्ञान वाक्यार्थों के ही ज्ञान से उत्पन्न होता है, अनुमानादि अन्य प्रमाणों द्वारा नहीं। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण ब्रह्म या ईश्वर ही है। इस आशय के वेदान्त वाक्यों के प्रमाण रूप में उपस्थित होने पर ही उनके अर्थ ज्ञान को दृढ़ करने के लिए उपनिषद् वाक्यों के समर्थक अनुमानादि प्रमाणों का प्रयोग किया जा सकता है। परन्तु यदि अनुमान के आधार पर ब्रह्म के अस्तित्व के प्रतिपादन का प्रयास किया जाए, तो वह कभी भी

सार्थक नहीं हो सकता। यद्यपि यह उचित है कि श्रुति के सहायक के रूप में तर्क या अनुमान की प्रतिष्ठा जा सकती है। श्रुति कहती है कि —‘श्रोतव्यो मन्तव्यो’ अर्थात् श्रुति का श्रवण करो और उसके बाद उसका तर्क या अनुमान द्वारा मनन करो। इसी प्रकार श्रुति यह भी कहती है कि जिस प्रकार पण्डित मेंधावी पुरुष गान्धार देश में पहुँच ही जाता है, उसी प्रकार उत्तम आचार्य को प्राप्त पुरुष आचार्य की सहायता से अपने ब्रह्म साक्षात्कार रूप लक्ष्य को प्राप्त कर ही लेता है। इस वाक्य में पण्डित मेंधावी पदों द्वारा तर्क और अनुमानादि को श्रुति के सहायक के रूप में सूचित किया गया है।

2.7 धर्म जिज्ञासा और ब्रह्म जिज्ञासा में भेद

शंकराचार्य ने ‘जन्माद्यस्य यतः’ सूत्र में यह स्पष्ट किया है कि ब्रह्म का साक्षात्कार केवल श्रुति प्रमाण द्वारा ही संभव है, तर्क अनुमान आदि उनके सहायक रूप में ही कार्य कर सकते हैं। परन्तु यही बात धर्म जिज्ञासा पर भी लागू होती है। धर्म जिज्ञासा में भी श्रुति को ही एक मात्र प्रमाण माना गया है। ऐसी स्थिति में ब्रह्म जिज्ञासा की धर्म जिज्ञासा से भिन्न क्या विलक्षणता है? इस प्रश्न के उत्तर में शंकराचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार धर्म जिज्ञासा में केवल श्रुति ही प्रमाण है, उसी प्रकार ब्रह्म जिज्ञासा में ऐसी बात नहीं है। धर्म जिज्ञासा की विलक्षणता को शंकराचार्य निम्न प्रकार से स्पष्ट करते हैं —

(1) धर्म जिज्ञासा में केवल श्रुति ही प्रमाण है, किन्तु ब्रह्म जिज्ञासा में श्रुति प्रमाण के साथ अनुभव आदि भी प्रमाण है, क्योंकि ब्रह्म ज्ञान की समाप्ति अनुभूति गम्य होती है एवं ब्रह्म ज्ञान भूतवस्तु (पूर्व सिद्ध वस्तु) विषयक होता है। इसके विपरीत कर्तव्य विषय में अनुभव की आवश्यकता नहीं होती है, इस कारण केवल श्रुति को ही प्रमाण माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त कर्तव्य-विषय की स्वरूप सिद्धि पुरुष व्यापार के अधीन होती है। परन्तु ब्रह्म के सिद्ध होने से उसके लिए पुरुष व्यापार की कुछ भी अपेक्षा नहीं है।

(2) शंकराचार्य इस विषय पर भी विचार व्यक्त करते हैं कि कर्तव्य विषय किस प्रकार पुरुष व्यापार के अधीन होते हैं? कर्तव्य विषय पुरुष व्यापार के अधीन होने का दृष्टान्त देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि लौकिक और वैदिक सारे कर्मों के विषय में तीन विकल्प उपस्थित होते हैं — वे किये जा सकते हैं या नहीं किए जा सकते हैं और अन्यथा भी किए जा सकते हैं। लौकिक कर्म (गमन) का उदाहरण देते हुए वे कहते हैं कि कोई भी व्यक्ति घोड़े पर चढ़कर जा सकता है अथवा पैरों द्वारा जा सकता है अथवा नहीं जा सकता है। यह सब पुरुष की इच्छा पर निर्भर करता है। इसी प्रकार वैदिक कर्म का उदाहरण देते हुए वे कहते हैं कि अतिरात्र रूप यज्ञ में कोई षोडसी नामक पात्र ग्रहण कर भी सकता है, नहीं भी ग्रहण कर सकता है। यह सब पुरुष व्यापार के अधीन है। यहां ‘विधि प्रतिषेधश्चात्रार्थवन्तः स्युः, विकल्पोत्सर्गापवादाश्च’ अर्थात् विधि, प्रतिषेध, उत्सर्ग तथा अपवाद सभी सार्थक होते हैं। परन्तु पूर्वसिद्धि ब्रह्म पर ये सभी बातें लागू नहीं होती हैं। वस्तु इस प्रकार की है या इस प्रकार की नहीं है, इस प्रकार के विकल्प का विषय नहीं होती है। उसके विषय में उठाये जाने वाले विकल्प तो पुरुष की बुद्धि के अनुसार (भ्रमादि रूप) होते हैं। वस्तु का यथार्थ ज्ञान पुरुष बुद्धि पर आश्रित न होकर वस्तु

पर ही आश्रित होता है। उदाहरण के लिए, एक स्थाणु के विषय में कि वह स्थाणु है अथवा पुरुष है अथवा कुछ अन्य वस्तु है, तत्त्वज्ञान नहीं कहा जा सकता। स्थाणु के लिए यह कहना कि यह पुरुष है या कोई अन्य वस्तु है, मिथ्या ज्ञान ही कहा जाएगा। परन्तु इसके विपरीत स्थाणु के विषय में यह कहना कि ‘यह स्थाणु ही है’, यह ज्ञान केवल वस्तु के अधीन होने से यथार्थ ज्ञान कहा जाएगा। इसी प्रकार सिद्ध वस्तु के ज्ञान की प्रमाणिकता भी वस्तु तत्त्व ही होती है। अतः ब्रह्म का ज्ञान भी सिद्ध वस्तु होने से वस्तुतन्त्र ही है।

(3) आचार्य शंकर अपने पूर्व विवेचन में यह स्पष्ट कर चुके हैं कि ब्रह्म पुरुष—व्यापारतंत्र न होकर वस्तु तंत्र ही है। वह धर्म जिज्ञासा का विषय कदापि नहीं हो सकता। अब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि ब्रह्म सिद्ध वस्तु है तो उसका ग्रहण प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों द्वारा हो जाएगा। ऐसी स्थिति में उसके ग्रहण के लिए श्रुतिवाक्यों की आवश्यकता ही क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में शंकराचार्य कहते हैं कि ब्रह्म इन्द्रियगोचर न होने से प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं हो सकता। इन्द्रियाँ स्वभावतः लौकिक विषयों को ग्रहण करने वाली होती हैं, ब्रह्म या ईश्वर को ग्रहण करने वाली होती है, ब्रह्म या ईश्वर को ग्रहण करने वाली नहीं होती। यदि ब्रह्म प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, तो वह अनुमान का भी विषय नहीं है। यदि ब्रह्म प्रत्यक्ष का विषय होता, तो वह जगत (कार्य) ब्रह्म से सम्बद्ध है अथवा किसी अन्य वस्तु से सम्बद्ध है, ऐसा निश्चय किया जा सकता था। परन्तु वास्तविकता यह है कि केवल जगत ही हमारे प्रत्यक्ष का विषय है, ब्रह्म नहीं। अतः यह निर्णय कठिन है कि कार्यभूत जगत ब्रह्म से उत्पन्न है अथवा किसी अन्य कारण से उत्पन्न है। इसलिए जन्मादि सूत्र अनुमान को प्रस्तुत करने वाला नहीं है, वरन् श्रुतिवाक्य प्रस्तुत करने के लिए है।

अब यहाँ स्वाभाविक प्रश्न उपस्थित होता है कि वे कौन से श्रुति वाक्य हैं, जिनको लक्ष्य कर ‘जन्माद्यस्य यतः’ सूत्र की वादरायण द्वारा ब्रह्म सूत्र में रचना की गयी है। इस प्रश्न के उत्तर में भाष्यकार कहते हैं कि तैत्तिरीय उपनिषद् के एक प्रसंग में आया है कि एक दिन वरुण ऋषि के पुत्र भृगु ऋषि अपने पिता वरुण ऋषि के पास गए और हाथ जोड़कर बोले—‘हे भगवन्! मुझे ब्रह्म का ज्ञान कराइए।’ भृगु की प्रार्थना सुनकर महर्षि वरुण को निम्न उपदेश दिया—‘यतो व इमानि जातानि जायन्ते ये जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशान्ति, तद् ब्रह्मेति’। इस श्रुतिवाक्य द्वारा वरुण ने भृगु को ब्रह्म का तटस्थ लक्षण बताया। ब्रह्म का तटस्थ लक्षण जानने के बाद उसके स्वरूप लक्षण को जानने की स्वाभाविक जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है। इस स्वाभाविक जिज्ञासा की शान्ति के लिए प्रसंग के उपसंहार वाक्य का वर्णन किया गया है—‘आनन्दाद्भवेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्द प्रयन्त्यभिसंविशन्ति’। इसी प्रकार से अन्य सजातीय श्रुति वाक्यों को लक्ष्य करके ही ‘जन्माद्यस्य यतः’ सूत्र की रचना की गयी है। नित्य शुद्ध बुद्ध सर्वस्वरूप तथा जगत के कारण ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाले उपनिषद् वाक्य ही ‘जन्माद्यस्य यतः’ के आधार के रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं।

कुछ व्याख्याकार, जैसे श्री भारतीतीर्थमुनि का कहना है कि ‘जन्माद्यस्य यतः’ सूत्र में ब्रह्म का लक्षण बनता है या नहीं इसमें सन्देह है। ‘जन्माद्यस्य यतः’ इस सूत्र में ब्रह्म के स्वरूप लक्षण ‘सत्यंज्ञानमनन्तम्’ की कोई चर्चा नहीं की गयी है, क्योंकि जन्मादि की सत्ता ब्रह्म में न होकर जगत में रहती है। अन्यनिष्ठ होने

के कारण जगत् का जन्मादि ब्रह्म लक्षण नहीं हो सकता। अतएव यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ब्रह्म का कोई लक्षण नहीं है।

2.8 निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र में ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है। ऐसा इसलिए है क्योंकि जन्मादि उभयनिष्ठ होने पर भी ब्रह्म का तटस्थ लक्षण हो सकता है। 'यो भुजंगः या स्रक' अर्थात् जिस प्रकार स्रक में कल्पित भुजंगत्व भी स्रक को लक्षित करता है, इसी प्रकार ब्रह्म में कल्पित जगत्-कारणत्व भी ब्रह्म को लक्षित कर सकता है। अतः जन्मादि को ब्रह्म का तटस्थ लक्षण मानने में किसी भी प्रकार की कोई आपत्ति उचित नहीं लगती है।

प्रश्नावली

लघु उत्तरीय प्रश्न-

1. वाचस्पति मिश्र के अनुसार वस्तु के लक्षण क्या हैं?
2. ब्रह्म सूत्र के दूसरे सूत्र की चर्चा करें।
3. ब्रह्म का तज्जन्य लक्षण क्या है?
4. ब्रह्म सूत्र के दूसरे सूत्र में 'यतः' पद का क्या अर्थ है।
5. जगत् की उत्पत्ति का कारण क्या है स्पष्ट करें।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

1. जन्माद्यस्य यतः सूत्र पर एक निबन्ध लिखें।
2. धर्म जिज्ञासा और ब्रह्म जिज्ञासा में अंतर की व्याख्या करें।

इकाई—3

शास्त्रयोनित्वात्

संरचना

- 3.0 उद्देश्य
- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 'शास्त्रस्य योनिः
- 3.3 शास्त्र योनिः यस्य
- 3.4 वेदान्त का प्रयोजन सिद्ध वस्तु का प्रतिपादन करना
- 3.5 अर्थवाद वाक्य निषेध की निन्दा कर अनुष्ठाता को उससे विमुख करता है
- 3.6 निष्क्रिय ब्रह्म विधेय नहीं हो सकता :
- 3.7 निष्कर्ष

3.0 उद्देश्य

ब्रह्मसूत्र के प्रथम सूत्र में 'ब्रह्मजिज्ञासा' की प्रतिज्ञा की गयी। द्वितीय सूत्र द्वारा यह दिखाया गया कि इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय जिस निमित्त कारण से संभव है, वह ब्रह्म या ईश्वर है। ब्रह्म को जगत का कारण बताकर उसके दो लक्षणों, स्वरूप लक्षण तथा तटस्थ लक्षण का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत किया गया। चूँकि ब्रह्म जगत का निमित्त कारण और उपादान कारण दोनों हैं, इस कारण उसकी सर्वज्ञता तथा सर्वशक्तिमता प्रसिद्ध है। अब इसी सूत्र के सातत्य में सूत्रकार ने तृतीय सूत्र 'शास्त्र योनित्वात्' की रचना की है। इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि विशाल विश्व की कारणता से ही ब्रह्म की सर्वज्ञता नहीं है, अपितु ऋग्वेदादि के विपुल संहिताओं के प्रणेता होने के कारण भी उसकी सर्वज्ञता की पुष्टि होती है।

3.1 प्रस्तावना

शंकराचार्य ने वादरायण के ब्रह्मसूत्र के तृतीय सूत्र शास्त्रयोनित्वात् के द्वारा यह दिखाया है कि ब्रह्म सर्वज्ञ होने के कारण शास्त्र का भी प्रणेता है और उसका कारण है। इस सूत्र की व्याख्या के द्वारा शंकराचार्य का तात्पर्य यह है कि विशाल विश्व की कारणता मात्र से ही ब्रह्म की सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होती है, अपितु वेद ग्रन्थों का प्रणयन का श्रेय भी ब्रह्म को ही है, जो उसके सर्वज्ञता का दृढ़ता से प्रतिपादन करते हैं। शंकराचार्य का कहना है कि ऋग्वेदादिरूप सर्वगुणसम्पन्न शास्त्र की उत्पत्ति सर्वज्ञ को छोड़कर दूसरे किसी से संभव नहीं है। जो जो विस्तारार्थ शास्त्र जिस पुरुष विशेष द्वारा रचे जाते हैं – जैसे ज्ञेय का एकदेश जिनका अर्थ है ऐसे भी, व्याकरण आदि (शास्त्र) पाणिनि आदि (रचयिता) से वह

(पुरुष विशेष) उस (शास्त्र) से अधिकतर ज्ञानवान है, यह लोक में प्रसिद्ध है, तो अनेक शाखा भेद से भिन्न देव, पशु, मनुष्य, वर्ण, आश्रम आदि विभाग का हेतु सर्वज्ञान, ऋग्वेद आदि संज्ञक का अनायास ही 'लीलान्याय' से पुरुष निःश्वास के समान जिस महान सत्ययोनि से संभव है। इस महाभूत का जो निःश्वसित है वह ऋग्वेद है, इत्यादि श्रुति से जाना जाता है। उस महान सत्य योनि के निरतिशय और सर्वशक्तिमत्त्व में तो कहना ही क्या है? इतना ही नहीं शंकराचार्य का यह भी कहना है कि प्रातःकाल से लेकर सायंकाल तक सम्पादनीय नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मों तथा ब्रह्म तत्व का शासन करने के कारण ऋग्वेदादि को शास्त्र कहा जाता है। केवल प्रतिपाद्य विषय के दृष्टि से ही नहीं, अपितु सभी अंगों और उपांगों के मिला देने से उनका कलेवर महान हो जाता है। वेदों के छः अंग होते हैं, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। इनमें पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र मिला देने से सब दस विद्यास्थान कहे जाते हैं। इन विद्यास्थानों सहित वेदों को 'शास्त्र' के नाम से अभिहित किया जाता है।

शंकराचार्य ने शास्त्रयोनित्वात् सूत्र की दो प्रकार से व्याख्या प्रस्तुत की है। इस सूत्र की द्वयार्थकता 'योनि' शब्द की द्वयार्थकता के कारण है।

3.2 'शास्त्रस्य योनिः'

शंकराचार्य के अनुसार 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्र में 'योनि' शब्द द्वयार्थक है। 'योनि' शब्द का प्रथम अर्थ कारण है तथा दूसरा अर्थ प्रमाण है। 'योनि' शब्द की प्रथम व्याख्या के अनुसार शास्त्र अर्थात् 'वेदादि' की 'योनि' या कारण को स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि— 'शास्त्रस्ययोनिः शास्त्रयोनिः तस्यभावः शास्त्रयोनित्वं तस्मात् शास्त्रयोनित्वात्' अर्थात् वेदादि की योनि या कारण ब्रह्म है। शंकराचार्य का कहना है कि यद्यपि वेद में समस्त ज्ञान निहित है फिर भी अचेतन होने से वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता। इसलिए वेद को 'सर्वकल्प' कहा गया है। शंकराचार्य ने अपने भाष्य में दिखाया है कि सर्वगुणसम्पन्न ऋग्वेदादि रूप शास्त्र की उत्पत्ति सर्वज्ञता गुण सम्पन्न कारण को छोड़कर किसी अन्य कारण से नहीं हो सकती है। शंकराचार्य का कहना है कि अर्थों को प्रकाशित करने की शक्ति वेद में है, ऐसा कहने से तो वेद का ही सर्वज्ञत्व सिद्ध होता है, न कि उसके कारणभूत ब्रह्म का। इस शंका का समाधान है कि कार्य की शक्ति कारण से आती है यदि उपादान कारण में वह शक्ति न हो, तो कार्य में वह शक्ति आ ही नहीं सकती। इसलिए ऋग्वेदादि सर्वगुणसम्पन्न शास्त्र की उत्पत्ति सर्वज्ञ गुण सम्पन्न कारण से ही हो सकती है। रचना रचयिता के ज्ञान का एक अंश ही होती है। कहने का तात्पर्य है कि पुरुष के द्वारा वस्तु के जिन असाधारण धर्मों को अनुभव किया जाता है, उन सभी को शब्दों में अभिव्यक्त करना संभव नहीं होता, जैसे ईख, दूध और गुड़ आदि के माधुर्य को जो अन्तर अनुभूत होता है, वह वाणी द्वारा निर्वचनीय नहीं हो पाता है। आचार्य शंकर का कहना है कि —'लीलान्यायेन अप्रयत्नेनैव पुरुषनिःश्वासवत्' अर्थात् लीला न्याय से यानी खेल-खेल में अल्प प्रयत्न से उसी प्रकार ब्रह्म ने इस विशाल ऋग्वेदादि की अभिव्यक्ति कर दी है, जिस प्रकार श्वास लेने में पुरुष को कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना होता है। इस बात को श्रुति प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि —'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतत् यदृग्वेदः' अर्थात् इस महान भूत (ब्रह्म)का जो निःश्वसित है, वह ऋग्वेद है। अन्य श्रुतियाँ भी यही बात प्रतिपादित करती हैं। इसीलिए यह कहा गया है कि 'तस्य महतो भूतस्य निरतिशयं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं चेति' अर्थात् उस

महान भूत यानी ब्रह्म के श्रेष्ठ सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्त्व के बारे में कहना ही क्या? अर्थात् वह तो निश्चित रूप से सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान होगा।

3.3 शास्त्र योनिः यस्य

शंकराचार्य का कहना है कि वादरायण के 'ब्रह्मसूत्र' के प्रथम सूत्र में ब्रह्म को जिज्ञासा बताकर, द्वितीय सूत्र द्वारा जिज्ञासस्य ब्रह्म का लक्षण कहा गया है। इस लक्षित ब्रह्म में क्या प्रमाण है? इस प्रमाण की जिज्ञासा होने की स्थिति में इस सूत्र की व्याख्या दूसरे प्रकार से की जा रही है। अथवा अभी भाष्यकार ने षष्ठी तत्पुरुष समास दिखाकर सूत्र का अर्थ प्रदर्शित किया था और अब उपयुक्त सूत्र के 'शास्त्रयोनिः' पद का समासविग्रह बहुब्रीह के रूप में अन्य प्रकार से दिखाकर—'शास्त्रं योनिः यस्य अर्थात् 'शास्त्र है स्रोत जिसका'। इस प्रकार सूत्र की व्याख्या दूसरे प्रकार से करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि पूर्वोक्त ऋग्वेदादि शास्त्र जिस ब्रह्म के स्वरूप की जानकारी शास्त्र से होती है। केवल शास्त्र के प्रमाण से जगत् के जन्मादि का कारण ब्रह्म है—ऐसा जाना जाता है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि पिछले सूत्र में ब्रह्म के तटस्थ लक्षण के रूप में शास्त्र वचन 'यतो व इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्याभिसंविशतितद्विज्ञासस्व तद् ब्रह्म' को उद्धृत किया गया था। 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्र द्वारा यह दर्शाया गया है कि—'ब्रह्मणेशास्त्रयोनित्वं' अर्थात् ब्रह्म शास्त्र की योनि है। शंकराचार्य का यह कहना है कि पिछले सूत्र यानी 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र में प्रयुक्त पदों से शास्त्र का स्पष्ट ग्रहण नहीं होने से जगत् के जन्मादि का केवल अनुमान रूप से उपन्यास हुआ है—ऐसी शंका कोई कर सकता है। इस प्रकार की आशंका के निराकरण करने के लिए ही 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्र प्रवृत्त हुआ है। इस सूत्र में ब्रह्म के स्वरूप के प्रमाण का प्रसंग है। यद्यपि 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र द्वारा ही ब्रह्म का लक्षण प्रकट किया गया है और उस सूत्र के तात्पर्य द्वारा शास्त्र का प्रामाण्य प्रतिपादित किया जा चुका है, फिर भी,

- (1) अक्षरों के द्वारा प्रतिपादित अनुमान ही स्वतंत्र प्रमाण हैं और शास्त्र का अक्षरशः उल्लेख न होने से श्रुति स्वतंत्र प्रमाण नहीं है— ऐसी शंका के निवारण के लिए और
- (2) अक्षरशः शास्त्र के प्रमाण का प्रतिपादन करने के लिए प्रकृत सूत्र प्रवृत्त हुआ है।

उपर्युक्त कारणों से 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्र में पुनरुक्ति की शंका तथा अनुमान के स्वतंत्र प्रमाण होने की शंका नहीं करनी चाहिए। यहाँ भाष्यकार शंकराचार्य ने प्रथम वर्ण के द्वारा 'जगज्जन्मादिकर्तृत्वरूपलक्षण' में अनुमान होने की शंका का निरसन किया है और द्वितीय वर्णक के द्वारा ब्रह्म स्वरूप बोध में शास्त्र का प्रामाण्य दिखाया है। प्रथम वर्णक के अनुसार 'शास्त्रस्य योनिः इति शास्त्र योनिः' अर्थात् शास्त्र का उत्पादक जो कारण है वह शास्त्र की योनि है और द्वितीय वर्णक के अनुसार— शास्त्रं योनिः (ज्ञापक कारण) 'अस्येति शास्त्र योनिः' अर्थात् शास्त्र के ज्ञान का ज्ञापक कारण जो है, वह शास्त्र की योनि है। अब प्रश्न उठ सकता है कि शास्त्र ब्रह्म में प्रमाण है, यह कैसे कहते हो? क्योंकि वेद के क्रियार्थक होने से अक्रियार्थक वाक्य अनर्थक हैं— इस (श्रुति) के आधार पर शास्त्र का क्रियापरक होना दिखाया गया है। इस कारण वेद अनर्थक हैं, क्योंकि क्रियार्थक नहीं है अथवा कर्ता देवता, आदि को प्रकाशित करना वेद का प्रयोजन है, इसलिए वेद क्रियाविधि वाक्यों के अंग हैं अथवा उपासना आदि अन्य क्रियाओं का विधान वेदान्त का प्रयोजन है।

शंकराचार्य ब्रह्मसूत्र के चतुर्थ सूत्र 'तत्त्वसमन्वयात्' का भाष्य करने से पहले पूर्व पक्ष उठाते हुए यह कहते हैं कि 'वेदादि शास्त्र भला ब्रह्म का कैसे ज्ञान हो सकते हैं, क्योंकि पूर्व मीमांसा ग्रन्थ में 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यामतदर्शानाम्' सूत्र के द्वारा वेदादि शास्त्र को केवल क्रियापरक माना है वस्तु परक नहीं। वास्तविकता यह है कि ब्रह्म का प्रकाशन शास्त्र द्वारा होता है। वेद क्रियार्थक हैं अतः जो वाक्य अथवा शब्द समूह क्रियापरक नहीं है, वह अनर्थक हैं। इस प्रकार का विचार जैमिनि के पूर्व मीमांसा में व्यक्त हुआ है। 'आम्नाय' वेद को कहते हैं। यागादि क्रिया ही धर्म है और सम्पूर्ण वेद का तात्पर्य 'धर्म' में ही निहित है। सभी वेदवाक्य यागादि क्रिया के ही प्रतिपादक हैं, चाहे वह क्रिया का प्रतिपादक साक्षात् रूप में करें या अर्थवादादि वाक्यों के रूप में परम्पराया क्रिया का ही प्रतिपादन करें।

यद्यपि यह सूत्र जैमिनि ने सिद्धांत रूप में न प्रस्तुत करके अर्थात् अधिकरण में पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है, फिर भी इसका वे खण्डन नहीं करते हैं। इसलिए भाष्यकार ने इसे मीमांसकों के पक्ष को दृढ़ बनाने के लिए यहाँ उद्धृत किया गया है। इस मीमांसा सूत्र के द्वारा वेदादि शास्त्र का क्रियापरत्व प्रतिपादित किया गया है। इस प्रकार भाष्यकार का यह मानना है कि विधिवाक्य द्वारा वेदों में प्रयोजनता को व्यक्त किया गया है। अतः वेद वाक्य निष्प्रयोजन नहीं हो सकते। 'तत् त्वम् असि' (तत्त्वमसि) इत्यादि वाक्य में त्वम् कर्त्ता को तथा तत् ब्रह्म या देवता का प्रतिपादन करता है। 'विविदिषा' इत्यादि पदों से युक्त वाक्य फल का प्रतिपादन करते हैं अथवा यह माना जा सकता है कि उपासना आदि क्रियाओं का विधान ही वेदान्त वाक्यों का प्रयोजन है। पूर्वपक्षी कहता है कि यदि कहो कि कर्म विशेष का आरम्भ किए बिना कर्मकाण्ड से दूर पढ़े गये वेदान्तवाक्य, कर्म के अंग कैसे हो सकते हैं? इसलिए 'मोक्ष' के इच्छुक व्यक्ति को अपने में असत् ब्रह्म के अभेद का आरोप करके 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार की उपासना करनी चाहिए। यहाँ 'आदि' पद से 'श्रवणादि' विधियों का ग्रहण करना चाहिए।

3.4 वेदान्त का प्रयोजन सिद्ध वस्तु का प्रतिपादन करना

शंकराचार्य का कहना है कि वेदान्त का प्रयोजन सिद्ध वस्तु का प्रतिपादन करना है, जिसे पुनः सिद्ध करने के लिए किसी क्रिया की अपेक्षा न हो, क्योंकि सिद्ध वस्तु प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय नहीं है। पूर्वपक्षी कहता है कि सिद्ध वस्तु का प्रतिपादन संभव नहीं, क्योंकि सिद्ध वस्तु प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय होती है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विषयीभूत ब्रह्म का बोध कराना अनुवाद मात्र है, इन्हें पुनः प्रमाणित करने की क्या आवश्यकता है? वस्तुतः ब्रह्म का प्रतिपादन न त्याग करने के लिए होता है और न ग्रहण करने के लिए होता है। अतः इसके प्रतिपादन से किसी भी की प्राप्ति नहीं होगी। सिद्ध वस्तु का ज्ञान न हो तो हेय है और न उपादेय है। अतः उसमें पुरुषार्थ (भूत किसी क्रिया) का अभाव है ब्रह्म शुद्ध बुद्ध और उदासीन स्वभाव का होने से न तो हेय है, न ही उपादेय है, अपितु उपेक्षणीय है। सिद्ध वस्तु तो निरन्तर उपस्थित है। उसे त्यागने या ग्रहण करने का प्रश्न ही नहीं है। उसके लिए प्रवृत्त होने या निवृत्त होने का कुछ फल नहीं है। साध्य वस्तु ही त्यागने या ग्रहण करने योग्य हो सकती है। उपादेय जानकर उसमें प्रवृत्त की जा सकती है या हेय जानकर उससे निवृत्त की जा सकती है।

अतः सिद्ध वस्तु में अनर्थक्य का प्रसंग न हो, क्योंकि 'सोऽरोदति' अर्थात् वह रोया इत्यादि वह वेद वाक्य अनर्थक न हो, इसलिए विधिवाक्यों के साथ एक

वाक्यता को प्राप्त करके यह सिद्ध करना है कि अर्थवाद वाक्य विधेय पदार्थ की स्तुति में उपयोगी होते हैं इसलिए वेद में परिगृहीत सिद्ध अर्थ वाले वाक्यों को कर्म की स्तुति या निन्दा में तात्पर्य मानकर विधि-निषेध वाक्यों से उनका एकवाक्यत्व स्थापित किया जा सकता है। इस प्रकार स्तुत्यर्थक होने से वेदवाक्य सार्थक कहे गए हैं। भाष्यकार ऐसे वेद वाक्यों का उदाहरण देते हैं जिसके द्वारा उनके मत की पुष्टि होती है। तैत्तिरीय संहिता का उदाहरण देते हुए भाष्यकार कहता है कि—‘सोऽरोदति यदरोदीत्तद्रुष्ट रूद्रत्वम्’ अर्थात् देवताओं के द्वारा रोका गया, ‘अग्निदेव’ रोया और उसके आंसू पृथ्वी पर गिरकर चांदी बन गये। यह अर्थवाद वाक्य चांदी की निन्दा करने के कारण ‘बर्हिषि रजतं न देयम्’ इस निषेध वाक्य का पोषक हो गया है। तात्पर्य यह है कि ‘बर्हिषि रजतं न देयम्’ निषेध वाक्य यज्ञ में चांदी की दक्षिणा का निषेध करता है। इस वाक्य ‘सोऽरोदति’ का अपने वाच्यार्थ में कोई प्रयोजन नहीं है। यह अनर्थक न हो, इसलिए इसे उक्त निषेधवाक्य के साथ जोड़कर पूरे तात्पर्य का ग्रहण किया जाता है। अब इस एक वाक्यता के बाद इस वाक्य का लक्षणार्थ हो गया कि ‘रोने से जो आंसू गिरे थे वही चाँदी बने। अतः यदि यज्ञ में चांदी का दान दिया जाएगा तो घर में रोने का प्रसंग उठेगा।

3.5 अर्थवाद वाक्य निषेध की निन्दा कर अनुष्ठाता को उससे विमुख करता है

अर्थवादवाक्य निषेध की निन्दा कर अनुष्ठाता को उससे विमुख करता हुआ सार्थक हो जाता है और क्रिया और उसके साधनों का अभिधायक होने के कारण धर्म अर्थात् यागादि कर्म, द्रव्य, देवता, क्रिया, आदि अनेक पदार्थों द्वारा होता है। इन्हीं पदार्थों के लिए योगकर्म में उक्त प्रकार के मंत्रों का पाठ है यही ‘क्रियातत्साधनाभिधायकत्व’ पद का अर्थ है। इसीलिए भाष्यकार ‘कर्मसमवायित्वम्’ का तात्पर्य बताते हुए यह कहा है कि यह मंत्र कर्म के समवायिकारण या नित्य सम्बन्धी है। कहने का आशय यह है कि ‘माध्यन्दिन संहिता के ‘इषे त्वा’ ‘ऊर्जे त्वा’ इत्यादि मंत्रों के सार्थकता, ‘इषेत्वेति छिनत्ति’ इत्यादि पलाश-शाखा छेदनादि कर्मों से सम्बन्धित होने पर ही है। इसलिए क्रिया के साधक पदार्थों का स्मरण मंत्र से ही करना चाहिए। ‘मंत्रैरेव स्मर्तव्यम्’ यह नियमविधि ऐसा ही कहती है और नियमविधि के उल्लंघन से याग फल नहीं मिलता है। क्रिया के साधक पदार्थों का स्मरण कराने के कारण ही मंत्र की सार्थकता है अर्थात् विधिवाक्यों के साथ वाक्यार्थ ज्ञान द्वारा मंत्रों की एकवाक्यता है।

इस प्रकार कहीं पर भी बिना विधिवाक्य से एकवाक्यता (सम्बन्ध) हुए किसी भी तद्भिन्न वेदवाक्य की सार्थकता न देखने में आयी है और न ही उत्पन्न हो सकती है। वास्तविकता यह है कि विधिवाक्यों के साथ एकवाक्यता होने से ही वेदान्त वाक्यों की सार्थकता है, क्योंकि वे भी मंत्र और अर्थवाद के समान सिद्ध अर्थ का ज्ञान कराते हैं। यदि यह कहें कि जैसे विधि अज्ञात अर्थ का ज्ञापन करती है, उसी प्रकार वेदान्त वाक्य भी अज्ञात ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। अतएव वे कैसे ब्रह्मस्वरूप के विधायक हो सकते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में शंकराचार्य कहते हैं कि सिद्ध वस्तु के स्वरूप के विषय में विधि हो ही नहीं सकती, क्योंकि विधि क्रिया विषयक है। ‘दघ्नाजुहोति’ इसमें ‘सिद्ध वस्तु दर्ही’के विषय में विधि है: ऐसा नहीं समझना चाहिए। यहाँ ‘अग्निहोत्रम् जुहुयात्म्’ इस वाक्य द्वारा विहित होम में

क्रिया के समाधान रूप 'दही' के प्रयोग किया गया है। वह 'अग्निहोत्र होम' ही साध्य होने से विधेय है।

3.6 निष्क्रिय ब्रह्म विधेय नहीं हो सकता

विधि सदैव क्रिया परक होती है, इसलिए निष्क्रिय ब्रह्म कभी विधेय नहीं हो सकता। इसलिए यागादि कर्म के लिए अपेक्षित कर्त्ता के स्वरूप और देवता आदि का प्रकाशन करने से वेदान्त वाक्य क्रियाविधि के अंगभूत हैं। यह अन्य प्रकरण के उपस्थित होने के भय से जिस प्रकरण में कर्मों का वर्णन है, उससे दूर दूसरे प्रकरण में वेदान्त वाक्यों का कथन है। अतएव दोनों प्रकरण भिन्न-भिन्न होने से वेदान्त वाक्यकर्मार्थक नहीं हो सकते, इस शंका के भय ये इसे स्वीकार न किया जाय, फिर भी वेदान्त वाक्यों में उपलब्ध उपासना आदि कर्म परक हैं। यदि इसे यज्ञादि क्रियाविधि का अंगभूत न माने तो भी वेदान्त वाक्यों में ही उपलब्ध उपासनादि कर्मों के अंग रूप में इन्हें स्वीकार किया जाना चाहिए। इसलिए 'ब्रह्म' शास्त्र प्रमाण वाला अर्थात् वेदान्त प्रमाणक नहीं है। ऐसा पूर्व पक्ष प्राप्त होने पर सूत्रकार कहते हैं कि शास्त्र ही ब्रह्म का प्रमाण है। अर्थात् ब्रह्म वेदान्त शास्त्र से ही जाना जाता है और श्रुति वाक्यों का तात्पर्य ब्रह्म में होने से ही है।

3.7 निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि शंकराचार्य ने 'शास्त्रयोनित्वात्' की दो प्रकार से व्याख्या की है। प्रथम व्याख्या के अनुसार ब्रह्म को ही शास्त्रों का कारण माना गया है तो दूसरी व्याख्या में शास्त्रों को ब्रह्म के लिए प्रमाण मान लिया गया है। प्रथम व्याख्या के अनुसार यदि ब्रह्म वेद का कर्त्ता है तो क्या वह उसी प्रकार का कर्त्ता है, जिस प्रकार कुम्भकार घट का कर्त्ता है। श्रुति और स्मृति में वेद को 'नित्यावाक्' कहा गया है। अतः ब्रह्म या ईश्वर उसका साधारण कर्त्ता कभी नहीं हो सकता। पुनः ब्रह्म को 'अपौरुषेय' भी माना गया है। अतः कुम्भकार के समान वेदों का कर्त्ता नहीं माना जा सकता। अब प्रश्न यह उठ सकता है कि ऐसी स्थिति में ब्रह्म किस प्रकार वेदों का कर्त्ता माना जा सकता है? इस समस्या के समाधान के लिए शंकराचार्य ने बृहदारण्यक उपनिषद् का उद्धरण देते हुए यह कहा है कि जिस प्रकार किसी व्यक्ति का श्वास और प्रश्वास स्वाभाविक रूप में चलता है उसके लिए उसे किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करना पड़ता है, उसी प्रकार सभी वेद ब्रह्म या ईश्वर से स्वाभाविक रूप में निर्गमित होते हैं। उसके लिए ईश्वर को किसी भी प्रकार के प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती। यही कारण है कि ब्रह्म या ईश्वर वेदों का साधारण कर्त्ता न होकर आसाधारण कर्त्ता है। दूसरी व्याख्या के अनुसार वेद या शास्त्र ही ब्रह्म के प्रमाण है अर्थात् शास्त्र द्वारा ही ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। निराकार होने के कारण किसी लिंग के साथ (हेतु) के साथ उसकी व्याप्ति स्थापित नहीं की जा सकती। इसलिए निराकार होने के कारण ब्रह्म न तो प्रत्यक्षगम्य है और न ही अनुमानगम्य है। वह केवल शास्त्र प्रमाण द्वारा ही जाना जा सकता है। अतः शास्त्र योनित्वात् का निहितार्थ है

कि ब्रह्म शास्त्र के उत्पत्ति का कारण है और शास्त्र के द्वारा ही ब्रह्म को जाना जाता है।

शास्त्रयोनित्वात्

प्रश्नावली

लघु उत्तरीय प्रश्न—

1. ब्रह्मसूत्र का तृतीय सूत्र क्या है? स्पष्ट करें।
2. वेदान्त का प्रयोजन क्या है?
3. ब्रह्म की विधेयता को स्पष्ट करें?
4. "शास्त्रयोनित्वात्" की दो व्याख्या क्या है चर्चा करें।
5. ब्रह्म किस प्रकार वेदों का कर्ता माना जा सकता है?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न—

1. 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्र पर एक निबन्ध लिखिए।
2. 'शास्त्र योनिः यस्य' की व्याख्या कीजिए?

इकाई-4

'तत्त्वसमन्वयात्'

संरचना

- 4.0 उद्देश्य
- 4.1 प्रस्तावना
- 4.2 शंकराचार्य के अनुसार 'तत्त्वसमन्वयात्' का अभिप्राय
- 4.3 प्रथम शंका के रूप में मीमांसकों के 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यमतदर्थानाम्' का समाधान
- 4.4 शंकराचार्य के अनुसार 'तु' शब्द का अभिप्राय
- 4.5 ब्रह्मज्ञान फलमात्र से सर्वक्लेश का प्रहाण संभव है
- 4.6 ब्रह्म में क्रियाकारत्व की संभावना का अभाव
- 4.7 वेदान्ती के अनुसार कर्म और ब्रह्म विद्या के फल में वैलक्षण्य है
- 4.8 मोक्ष धर्मानुष्ठान का फल नहीं है
- 4.9 ब्रह्मेकत्व केवल काल्पनिक नहीं
- 4.10 शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म उपासना का विषय नहीं है
- 4.11 ब्रह्म आत्मरूप और सर्वज्ञ है
- 4.12 शंकराचार्य के अनुसार ज्ञान और क्रिया में महान अन्तर है और ये दोनों परस्पर विरोधी हैं
- 4.13 ब्रह्म ज्ञान से सर्वप्राप्ति हो जाती है
- 4.14 शंकराचार्य के अनुसार श्रुति साक्षी रूप आत्मा का उपदेश करती है
- 4.15 ब्रह्म का ज्ञान श्रुति भिन्न किसी अन्य प्रमाण से संभव नहीं है
- 4.16 देहाभिमान का नाश नहीं आत्मा का अशरीरत्व
- 4.17 स्वयं ब्रह्मज्ञान किसी क्रिया का साध्य नहीं है
- 4.18 निष्कर्ष

4.0 उद्देश्य

बादरायण के 'ब्रह्मसूत्र' के प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' द्वारा ब्रह्म के विषय में जिज्ञासा की गयी है। द्वितीय सूत्र 'जन्माद्यस्य यतः' के द्वारा ब्रह्म के तटस्थ लक्षण का विवेचन किया गया है। तृतीयसूत्र 'शास्त्रयोनित्वात्' द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि ब्रह्म ही शास्त्रों का कर्त्ता है या ब्रह्म के विषय में

शास्त्र ही एकमात्र प्रमाण है। ब्रह्मसूत्र का चतुर्थ सूत्र 'तत्तुसमन्वयात्' यह प्रदर्शित करता है कि समस्त वेद, उपनिषद् आदि एक स्वर से ब्रह्म को वेदों का प्रतिपाद्य विषय तथा जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण बताते हैं। 'तत्तुसमन्वयात्' सूत्र में यह प्रतिपादित किया गया है कि ब्रह्म ही समस्त शास्त्रों का समन्वय है। ब्रह्म के विषय में शास्त्रों को प्रमाण नहीं माना जा सकता है, जबकि शास्त्रों का प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म ही है। 'तत्तुसमन्वयात्' के द्वारा इसी बात को प्रदर्शित किया जा रहा है कि वेद के सभी वाक्यों का निहितार्थ ब्रह्म ही है।

4.1 प्रस्तावना

जिसप्रकार शंकराचार्य ने प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' की पर्याप्त विस्तारपूर्वक व्याख्या प्रस्तुत की है, उसी प्रकार उन्होंने चतुर्थ सूत्र 'तत्तुसमन्वयात्' की भी पर्याप्त विस्तार पूर्वक व्याख्या प्रस्तुत की है। भाष्यकार ब्रह्म को ही उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय मानते हैं, किन्तु कुछ ऐसे भी भारतीय दार्शनिक हैं, जो इस संबंध में अपना विरोधी मत प्रस्तुत करते हैं। इसमें सबसे प्रमुख विरोधी मत मीमांसकों का है। यदि वेदान्ती ज्ञान मार्ग के अनुयायी हैं तो मीमांसक कर्म मार्ग के अनुयायी हैं। उनके अनुसार सारे वैदिक साहित्य में किसी न किसी कर्म का प्रतिपादन किया गया है। महर्षि जैमिनि का कथन है कि सारा आम्नाय अर्थात् वेद क्रियापरक है। यदि वह क्रियापरक नहीं है तो अनर्थक है, क्योंकि उसके आधार पर किसी वस्तु की हानि या उपादान में सहायता नहीं मिलती है। परन्तु यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि वेदों में बहुत से ऐसे वाक्य हैं, जो विधि या निषेध के रूप में किसी क्रिया का वर्णन नहीं करते। उदाहरण के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों में 'वायुर्वक्षेपिष्ठा देवता' अर्थात् वायु शीघ्रगामी देवता है, इत्यादि कुछ ऐसे वाक्य आते हैं जो बिल्कुल ही क्रियापरक नहीं हैं ऐसी स्थिति में क्या ऐसे अतदर्थ या अक्रियार्थक वाक्य अनर्थक कहे जाएँगे? वेद के कुछ वाक्यों को सार्थक तथा कुछ वाक्यों को अनर्थक कैसे कहा जा सकता है। मीमांसा शास्त्र में ऐसे सिद्ध वस्तुपरक वाक्यों की विधायक वाक्यों के साथ संगति बिटाने की पर्याप्त प्रयास किया गया है। मीमांसा शास्त्र में ऐसे वाक्यों को 'अर्थवादवाक्य' कहा जाता है। 'अर्थवाद वाक्य' वे वाक्य हैं, जो स्वतंत्र रूप में किसी कर्म का प्रतिपादन नहीं करते, किन्तु प्रशंसा या निन्दा द्वारा मनुष्य के उस विशेष कर्म में जिसकी प्रशंसा या निन्दा करते हैं, प्रवृत्ति या निवृत्ति की प्रेरणा अवश्य देते हैं। 'अर्थवाद वाक्य' का तात्पर्य यह है कि 'जिसप्रकार वायु अतिशीघ्रगामी देवता है' उसी प्रकार वायु याग अत्यन्त शीघ्र फल प्रदान करने वाले होते हैं। इस प्रशंसात्मक वाक्य को पढ़कर या सुनकर लोगों के मन में वायुदेवता के कर्म में शीघ्र प्रवृत्ति हो जाती है। अतएव अर्थवाद वाक्यों की सार्थकता किसी विधि वाक्य के साथ एकवाक्यता होने पर ही सिद्ध होती है। परन्तु यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जब मीमांसकों के अनुसार सभी वेदवाक्य क्रियापरक हैं, यहाँ तक कि अर्थवाद वाक्य भी किसी न किसी क्रिया करने की प्रेरणा ही देते हैं, तो वेदान्तियों की यह बात कैसे स्वीकार की जा सकती है कि ब्रह्म एक सिद्ध वस्तु है, जो वेदों का प्रतिपाद्य विषय है। यहां जैमिनि एवं वादरायण के बीच प्रबल विरोध है। शंकराचार्य ने मीमांसकों के इसी सिद्धांत को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत कर अपनी सबल एवं सूक्ष्म युक्तियों द्वारा खण्डन किया

है तथा यह सिद्ध करने का सफल प्रयास किया है कि ब्रह्म या ईश्वर ही वेदों का प्रतिपाद्य विषय है और वेदवाक्यों से 'तत्तुसमन्वयात्' का पोषण होता है।

'तत्तुसमन्वयात्'

4.2 शंकराचार्य के अनुसार 'तत्तुसमन्वयात्' का अभिप्राय

शंकराचार्य ने 'तत्तुसमन्वयात्' सूत्र में प्रमुखरूप से दो प्रश्नों पर विचार किया है। प्रथम प्रश्न तो यह है कि वेद का उद्देश्य केवल विधि कर्म बताने में है अथवा विधि-कर्म और ब्रह्म ज्ञान दोनों में है। दूसरा प्रश्न ज्ञान और कर्म के सम्बन्ध के विषय में है। अतः इस सम्बन्ध में मीमांसकों के मत को पूर्वपक्ष बनाकर वेदान्त वाक्यों विषय में शंकाएं उठाकर उसका समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

4.3 प्रथम शंका के रूप में मीमांसकों के 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यमतदर्शानाम्' का समाधान

शंकराचार्य का कहना है कि जैमिनि के सूत्र 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यमतदर्शानाम्' अर्थात् 'शास्त्र क्रियापरक है' प्रथम शंका उठती है। यदि यह मान लिया जाय कि वेदान्त वाक्य अक्रियार्थक होने के कारण अनर्थक हैं अथवा यह कहा जा सकता है कि वे क्रिया के गौण अंश हैं (विधि विशेष) अथवा उपासना आदि के रूप में नयी प्रकार की क्रिया को बताने वाले हैं। इस प्रकार शंकराचार्य 'तत्तुसमन्वयात्' की भूमिका में ही इन शंकाओं का उल्लेख कर पूर्वपक्ष को बताया है। शंकराचार्य ने यह भी शंका उठायी है कि यदि वेदान्त वाक्यों का तात्पर्य सिद्ध वस्तु है, तब तो वह वस्तु प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा भी जानी जा सकती है और तब शास्त्र की अनर्थकता सिद्ध होगी। इसके अतिरिक्त सिद्ध वस्तु हेयत्व और उपादेयत्वरहित होने के कारण पुरुषार्थ का विषय नहीं हो सकती।

4.4 शंकराचार्य के अनुसार 'तु' शब्द का अभिप्राय

शंकराचार्य के अनुसार वादरायण के ब्रह्मसूत्र के चतुर्थ सूत्र 'तत्तुसमन्वयात्' में 'तु' शब्द से पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति सूचित की गयी है। तात्पर्य यह है कि वेदान्त वाक्यों से जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय आदि के कारण रूप ब्रह्म का ज्ञान होता है, क्योंकि सभी वेदान्त वाक्यों का समन्वय उसी अर्थ में होता है। ऐसा अर्थ न करने से या अर्थान्तर करने से श्रुति हानि का प्रसंग उठता है। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है कि वेदान्त वाक्यों का प्रयोजन किसी कर्त्ता का ज्ञान कराना है, क्योंकि 'तत्केन कं पश्येत्' आदि वाक्यों से क्रियाकारण फल का निराकरण हो जाता है। यह भी कहना उचित नहीं है कि सिद्ध वस्तु अथवा शुद्ध वस्तु होने के कारण ब्रह्म प्रत्यक्षादि का विषय हो सकता है, क्योंकि ब्रह्म 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों द्वारा केवल श्रुतिगम्य ही है। सर्वथा निर्गुण एवं निराकार होने के कारण ब्रह्म प्रत्यक्षादि का विषय नहीं हो सकता।

4.5 ब्रह्मज्ञान फलमात्र से सर्वक्लेश का प्रहाण संभव है

शंकराचार्य का मानना है कि यह कहना उचित नहीं है कि सिद्ध वस्तु या परिनिष्ठित वस्तु होने के कारण ब्रह्म पुरुषार्थ का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्मज्ञान मात्र से फल की प्राप्ति या सर्वक्लेश प्रहाण बताया गया है।

4.6 ब्रह्म में क्रियाकारत्व की संभावना का अभाव

शंकराचार्य का मानना है कि यदि उपासना का अर्थ देवताओं या ब्रह्म की उपासना है, तो उसका वेदान्त से विरोध नहीं है, किन्तु ब्रह्म को उपासना क्रिया का विषय नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ब्रह्म में द्वैत का सर्वथा अभाव होने के कारण अथवा हेयोपादेय शून्य होने से उसमें 'क्रियाकारकादि की संभावना नहीं है। एक बार ब्रह्मज्ञान हो जाने पर पुनः द्वैत की उत्पत्ति नहीं हो सकती और ब्रह्मज्ञान के बाद उपासना संभव नहीं मानी जा सकती। यद्यपि यह सही है कि अन्यत्र वेदवाक्यों का प्रमाणत्व विधि या क्रिया के उपदेश में ही है, फिर भी चूँकि आत्मज्ञान का फल में पर्यवसान (क्लेशनाश में पर्यवसान) है, अतः वेदवाक्यों की प्रमाणिकता में सन्देह नहीं किया जा सकता। कोई ऐसा अनुमान नहीं कर सकता कि वेदवाक्य प्रामाणिक हैं, क्योंकि वे विधि का उपदेश करते हैं। वेदवाक्यों की प्रमाणिकता स्वतः है, न कि अनुमानजन्य या परतः।

4.6 वेदान्ती के अनुसार कर्म और ब्रह्म विद्या के फल में वैलक्षण्य है

शंकराचार्य का कहना है कि यद्यपि कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि वेदान्तवाक्य ब्रह्म के विषय में प्रमाण हैं, फिर भी ब्रह्म को प्रतिपत्ति विधि (उपासना विधि) का अंग मानना चाहिए, क्योंकि 'तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः' इत्यादि वाक्यों से क्रिया की ही प्रधानता सिद्ध होती है, जैसे स्वर्गादि प्राप्त करने वालों को 'अग्निहोत्रादि' करने का उपदेश है। यदि कोई ऐसी शंका करे कि धर्मज्ञान के फल से ब्रह्मज्ञान के फल को वैलक्षण्य होना चाहिए, क्योंकि कर्मकाण्ड में धर्म जिज्ञास्य है और ज्ञानकाण्ड में ब्रह्म जिज्ञास्य है, तो उसके उत्तर में मीमांसक यह कह सकते हैं कि स्वर्ग और अमृतत्व दोनों अदृष्ट फल के रूप में समान ही हैं। यदिश्रुति के श्रवणमात्र से ब्रह्मज्ञान हो जाने वाला होता, तो क्रिया या उपासन की उपादेयता नहीं रहती, किन्तु ऐसा नहीं होता। मीमांसकों की इस शंका का समाधान वेदान्ती कर्म और ब्रह्मविद्या के फल में वैलक्षण्य दिखाकर देते हैं। उनका कहना है कि धर्म और अधर्म शरीरधारी से ही हो सकते हैं और उनके फल सुख-दुख भी शरीरधारी के लिए ही संभव है। इसके अतिरिक्त धर्म अधर्म तथा उनके फलस्वरूप सुख-दुख में तारतम्य देखा जाता है। किन्तु ब्रह्मज्ञान और उसके फल अमृतत्व और आनन्द के लिए न तो शरीर की अपेक्षा है और न तो उसमें कोई तारतम्य है। छान्दोग्य उपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है कि 'अशरीरं व वसन्तं न प्रियाऽप्रियास्पृशतः'। यदि मोक्ष धार्मिक क्रिया का फल होता तो उस स्थिति में प्रिय और अप्रिय या सुख-दुख दोनों का अभाव कैसे होता? यदि यह कहें कि अशरीरत्व ही धर्मानुष्ठान का फल है, तो यह भी कहना ठीक नहीं है क्योंकि अशरीरत्व तो आत्मा का ही स्वरूप है। शंकराचार्य का यह स्पष्ट अभिमत है कि आत्मा प्रकृति आदि के रूप में परिमाणी नित्य नहीं है, बल्कि उसमें कूटस्थ नित्यता है अर्थात् वह सब प्रकार के विकारों से परे है।

4.8 मोक्ष धर्मानुष्ठान का फल नहीं है

शंकराचार्य का कहना है कि मोक्ष को धर्मानुष्ठान का फल नहीं माना जा सकता, क्योंकि यदि मोक्ष को धर्मानुष्ठान का फल माना जाएँ तो सबसे बड़ी

कठिनाई यह होगी कि कार्य होने के कारण मोक्ष अनित्य हो जाएगा। परन्तु मोक्ष को कोई भी मोक्षवादी अनित्य नहीं मानता। इसी से श्रुतियाँ ब्रह्म विद्या के उपरान्त और मोक्ष के पहले बीच में कार्यान्तर का निवारण करती हैं। ब्रह्मज्ञान और मोक्ष में कोई कार्यान्तर वैसे ही नहीं है, जैसे कहा जाता है कि कोई खड़ा होकर गाता है तो खड़े होने और गायन क्रिया के मध्य में कोई दूसरी क्रिया नहीं होती। अतः अविद्या निवृत्ति मात्र ही मोक्ष है।

4.9 ब्रह्ममेंकत्व केवल काल्पनिक नहीं

ब्रह्मज्ञान न तो किसी विशिष्ट क्रियायोग का निमित्त है और न तो यह किसी क्रिया के पहले संस्कार रूप है। ब्रह्मात्ममेंकत्व केवल एक काल्पनिक तादात्म्य नहीं है। श्रुतियाँ तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म इत्यादि श्रुतिवाक्यों के रूप में आत्मा एवं ब्रह्म के साक्षात् एकत्व का प्रतिपादन करती हैं। वास्तविकता यह है कि ब्रह्मविद्या पुरुष व्यापारतंत्र नहीं है। प्रत्यक्षादि में जैसे ज्ञान वस्तुतंत्र होता है उसी प्रकार ब्रह्मविद्या भी वस्तुतंत्र है। अतः ब्रह्म का क्रियायोग से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। ऐसा भी नहीं सोचना चाहिए कि यह विधि-क्रिया (ज्ञान-क्रिया) का विषय है, क्योंकि ब्रह्म ज्ञात और अज्ञात दोनों से भिन्न है। इसीलिए श्रुतियाँ यह कहती हैं कि – ‘अन्यदेव तत् विदितादन्यो अविदितादधि केन’। इतना ही नहीं श्रुति वाक्यों के रूप में यह भी वर्णन मिलता है कि ‘येनेदं सर्वविजानाति तत् केन विजानीयात्’।

4.10 शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म उपासना का विषय नहीं है

शंकराचार्य का यह मत है कि ब्रह्म उपासना का विषय नहीं है क्योंकि उन्होंने स्पष्ट कहा है कि ‘नेदंयदिदमुपासते’। यहाँ पर एक ही शंका यह उठती है कि यदि ब्रह्म उपासना का विषय नहीं है, तो उसका ज्ञान शास्त्र द्वारा भी नहीं हो सकता। परन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि शास्त्र का प्रयोजन केवल अविद्या का निवारण मात्र है, न कि ब्रह्म की ‘यह’ या ‘वह’ के रूप में निरूपण करना है। शास्त्र स्पष्टतया ब्रह्म को प्रत्येक आत्मा के रूप में या अविषय के रूप में बताता है। इसीलिए कहा गया है कि वह मन वाणी इत्यादि के परे है, और यह भी कहा गया है कि – ‘यस्मामतं तस्य मतं, मतं यस्य न वेद सः।’ इन्हीं युक्तियों के आधार पर यह देखने का प्रयास किया जाता है कि मोक्ष संपतरूप है या अध्यास रूप है या विशिष्टक्रिया योग निमित्त है या संस्कार रूप है। शंकराचार्य इन सभी कल्पनाओं का खण्डन करते हुए कहते हैं कि यदि पूर्वोक्त किसी रूप में मोक्ष को स्वीकार किया जाएगा तो निश्चय ही मोक्ष अनित्य हो जाएगा।

4.11 ब्रह्म आत्मरूप और सर्वज्ञ है

शंकराचार्य कहते हैं कि ब्रह्म के विषय में ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है कि ब्रह्म प्राप्य होने के कारण कार्यापेक्ष्य है, क्योंकि ब्रह्मआत्म स्वरूप ही है और सर्वगत है। आत्मा से भिन्न मानने पर भी वह सर्वगत होने के कारण सर्वदा प्राप्त है। मोक्ष संस्कार रूप इसलिए नहीं है कि ब्रह्म में न तो किसी नवीन गुण को जोड़ा जा सकता है और न तो उसमें से किसी दोष को हटाया जा सकता है। यह कहना है कि शीशे पर अविद्या रूपी धूल को हटाना मोक्ष है, अतः वह संस्कार है,

ठीक नहीं है, क्योंकि यदि आत्मा में कोई क्रिया या परिवर्तन हो तो आत्मा अनित्य हो जाता है। स्मृति भी कहती है कि 'अविकारोऽयमुच्यते'। इस प्रकार यदि क्रिया या संस्कार को अन्यत्र माना जाएँ तो उसका आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। स्नान, आचमन आदि से केवल शरीरादि का ही संस्कार होता है, न कि शरीरी का। जिसमें अहंभाव या देहात्मभाव है, उसी से क्रिया होती है और उसी पर क्रिया का प्रभाव पड़ता है।

4.12 शंकराचार्य के अनुसार ज्ञान और क्रिया में महान अन्तर है और ये दोनों परस्पर विरोधी हैं

शंकराचार्य का कहना है कि ज्ञान और क्रिया के भेद के प्रसंग में यह शंका हो सकती है कि ज्ञान भी एक मानसी क्रिया है, किन्तु शंकराचार्य के अनुसार यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यद्यपि ज्ञान भी एक मानसिक वृत्ति है, फिर भी उसे क्रिया नहीं कहा जा सकता। शंकराचार्य का यह मानना है कि क्रिया पुरुष चित्त व्यापार के अधीन होती है, वस्तुस्वरूप के अधीन नहीं होती है, जबकि ज्ञान ठीक इसके विपरीत वस्तु स्वरूपाधीन होता है, न कि चित्त व्यापाराधीन, शंकराचार्य का यह मानना है कि ध्यान, चिन्तन आदि भी मानसिक हैं और उनको क्रिया भी कहा जा सकता है, क्योंकि वे पुरुष के द्वारा किए जा सकते हैं। वास्तविकता यह है कि ज्ञान मानसिक व्यापार होते हुए भी क्रिया नहीं है, क्योंकि वह प्रमाणजन्य है और प्रमाण वह है, जिसका विषय यथाभूत वस्तु हो। अतएव ज्ञान के विषय में करें या न करें अथवा अन्यथा करें, ऐसा प्रश्न नहीं उठता। ज्ञान केवल वस्तु तंत्र होता है, न तो किसी क्रिया पर निर्भर करता है और न ही पुरुष की इच्छा पर निर्भर करता है। अतः मानसिक होते हुए भी ज्ञान और क्रिया में महान अन्तर है।

4.13 ब्रह्म ज्ञान से सर्वप्राप्ति हो जाती है

शंकराचार्य अपने पूर्व विवेचन में यह स्पष्ट कर चुके हैं कि ब्रह्मज्ञान विधि-कार्य का विषय नहीं हो सकता। शंकराचार्य का यह कहना है कि ब्रह्म के विषय में विधि परक वाक्य वैसे ही असफल हो जाते हैं, जैसे पत्थर पर तीर; क्योंकि विधि का विषय वही हो सकता है, जो हेय या उपादेय हो, किन्तु ब्रह्म विशुद्ध वस्तु होने के कारण हेय या उपादेय नहीं है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठ सकता है कि तब विधिपरक वाक्यों का क्या अर्थ होगा? शंकराचार्य इस प्रश्न का यह उत्तर देते हैं कि हमारी जो स्वाभाविक बहिर्मुखी वृत्ति है, उस वृत्ति को अन्तर्मुखी वृत्ति से जीवन के उद्देश्य की प्राप्ति नहीं होती है और उनके प्रति वैराग्य होता है, तब श्रुति कहती है कि —'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' अर्थात् अब आत्मा की ओर अपना ध्यान ले जाओ और जब मनुष्य का ध्यान आत्मा की ओर जाता है, तब श्रुति 'अयमात्मा ब्रह्म' या 'तत्त्वमसि' का उपदेश करती है। अतः ब्रह्मज्ञान का सम्बन्ध किसी क्रिया से नहीं है। यह वेदान्ती के लिए दूषण नहीं बल्कि भूषण है। "अलंकारोऽयमस्माकम्।" ब्रह्मज्ञान के उपरान्त सभी प्रकार के कर्तव्य-अकर्तव्य का अन्त हो जाता है; क्योंकि ब्रह्मज्ञान से सर्वप्राप्ति हो जाती है। ब्रह्मज्ञान के पश्चात् शरीर आदि किसी भी विषय की चिन्ता नहीं रह जाती है मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है।

4.14 शंकराचार्य के अनुसार श्रुति साक्षी रूप आत्मा का उपदेश करती है

शंकराचार्य का कहना है कि वेद का कोई भी अंश केवल वस्तुवादी नहीं है अथवा यह कहना कि ब्रह्मज्ञान विधि निषेध का सहकारी है, गलत है। असंसारी आत्मा, जिसका उपदेश उपनिषद् में है, वह चतुर्विध विकारों से और जन्म मरण से परे है। परन्तु वह कुछ नहीं है, इस रूप में उसका निषेध नहीं किया जा सकता; क्योंकि जो निराकर्त्ता है वही तो आत्मा है। ऐसी शंका करना भी ठीक नहीं है कि आत्मा अहं प्रत्यय का विषय है, अतः उसके लिए उपनिषद् की आवश्यकता नहीं; क्योंकि उपनिषद् अहं प्रत्यय का उपदेश नहीं करती, बल्कि समान रूप से सर्वभूतस्य, कूटस्थ, साक्षी रूप आत्मा का उपदेश करता है और अहं विषयक अज्ञान को दूर करता है।

4.15 ब्रह्म का ज्ञान श्रुति भिन्न किसी अन्य प्रमाण से संभव नहीं है

शंकराचार्य का मानना है कि हम यह नहीं कह सकते कि वेद वस्तु-विषयक ज्ञान नहीं देता, जो लोग यह आग्रह करते हैं कि वेद में केवल कर्म-विषयक ज्ञान है, वे भी स्वीकार करते हैं कि विधि विशेष के रूप में वस्तु ज्ञान देता है। यदि वेद विधि शेष के रूप में वस्तुज्ञान देता है, तो क्यों नहीं वह नित्य आत्मा के विषय में ज्ञान दे सकता है? वस्तुज्ञान तो वस्तुज्ञान है, विधिशेष होने के कारण वस्तुज्ञान क्रिया नहीं हो जाता। अतएव मीमांसकों को यह कहना कि वेद वस्तु ज्ञान नहीं देता, ठीक नहीं है। वेदान्तियों का यह मानना है कि श्रुति विशुद्ध वस्तु भूत ब्रह्म का ज्ञान कराती है। शंकराचार्य इस पर इसलिए आग्रह करते हैं, क्योंकि उनका यह मानना है कि ब्रह्म ज्ञान श्रुति भिन्न किसी अन्य प्रमाण से नहीं हो सकता। शंकराचार्य का कहना है कि मीमांसकों में एक दूसरा आत्मविरोध भी पाया जाता है और वह आत्म-विरोध यह है कि यदि यह कहा जाए कि वेद केवल कर्म की शिक्षा देते हैं, तो यह वाक्य कि 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' अनर्थक हो जाता है। यह न तो क्रियापकर है और न क्रिया का साधन है। उपर्युक्त कठिनाई से बचने के लिए यह नहीं कहा जा सकता कि 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' का अर्थ है —'ब्राह्मणस्य हननं न कर्त्तव्यम्'; क्योंकि अहनन क्रिया नहीं है।

4.16 देहाभिमान का नाश नहीं आत्मा का अशरीरत्व है

शंकराचार्य का कहना है कि ऐसी आशंका की जा सकती है कि श्रुति श्रवण के उपरान्त भी मनुष्य का सांसारित्व देखा जाता है, जिससे यह सिद्ध होता है कि केवल वस्तु ज्ञान से किसी वस्तु की प्राप्ति नहीं होती। ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्मज्ञानी पुरुष का संसारी होना सिद्ध नहीं किया जा सकता।

वेद इस बात का प्रमाण है कि ब्रह्मज्ञान होने पर अहंभाव के नाश होने से मिथ्याज्ञानजन्य सुख-दुःख नहीं रहते जैसे एक धनिक व्यक्ति धन की हानि होने से दुःखी होता है, और प्राप्ति होने से सुखी होता है, किन्तु वही व्यक्ति जब सन्यास ले लेता है, तो धन की प्राप्ति और धन की हानि का उस पर प्रभाव नहीं पड़ता है। श्रुति स्पष्ट कहती है कि 'अशरीरत्वं वा वसन्तं न प्रियाऽप्रिये स्पृशतः'। यहाँ यह शंका नहीं होना चाहिए कि अशरीरत्व मृत्यु उपरान्त ही प्राप्त हो सकता है, क्योंकि

बन्धन देह से नहीं, बल्कि मिथ्याज्ञान जन्य देहाभिमान से होता है। ज्ञान प्राप्त होने पर देहाभिमान का नाश ही आत्मा का अशरीरत्व है और वह यहीं प्राप्य है। यह शंका करना कि देह की प्राप्ति पाप-पुण्य से होती है, अतएव देह की मुक्ति पाप-पुण्य के क्षय से होगी, ठीक नहीं है, क्योंकि पाप-पुण्य आत्मा के बन्धन कारक तभी होते हैं, जब वे आत्मा के द्वारा किए जाते हैं। परन्तु आत्मा निष्क्रिय है और पाप-पुण्य मिथ्याज्ञानजन्य अहं के कारण होते हैं। शरीर को पाप-पुण्य का कारण कहना और फिर पाप-पुण्य को शरीर के कारण कहना अन्योन्याश्रय होगा। बीजांकुरवत् पाप-पुण्य और शरीर को अनादि कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि बीज विशेष द्वारा जो अंकुर पैदा होता है, उस अंकुर द्वारा वही बीज विशेष नहीं पैदा होता, बल्कि एक नया बीज पैदा होता है। अतः अनादित्व कल्पना अन्धपरम्परा है। आत्मा में कर्तृत्वादि नहीं है। अतएव उसमें धर्म-अधर्म भी नहीं है। अहंकारपरक कर्तृत्वादि तो मिथ्याज्ञानजन्य है।

4.17 स्वयं ब्रह्मज्ञान किसी क्रिया का साध्य नहीं है

शंकराचार्य इस विषय पर भी विचार करते हैं कि यदि यह कहा जाए कि आत्मा के विषय में अहंकार की प्रतीति गौण है, न कि मिथ्या, तो यह ठीक नहीं है क्योंकि मुख्य और गौण का भेद तो दो प्रसिद्ध वस्तुओं में हुआ करता है, जैसे पुरुष, सिंह में। परन्तु 'अहं' की प्रतीति आत्मज्ञान के रहते हुए नहीं होती, बल्कि आत्मज्ञान के अभाव में या अविद्या की स्थिति में होती है। आत्मा और अनात्मा का भेद जानने वाले मनीषी लोगों में भी देहाभिमान या अहं प्रत्यय आत्मज्ञान के विस्मृत हो जाने पर ही होता है, जानबूझकर कोई आत्मा के लिए 'अहं' का प्रयोग नहीं करता। इससे सिद्ध होता है कि देहाभिमान अविद्या के कारण ही होता है और अविद्या के नाश हो जाने पर इसी जीवन में अशरीरत्व की प्राप्ति हो जाती है। ब्रह्मविषयक श्रुति के श्रवण के उपरान्त ही मनन और निदिध्यासन की क्रिया होती है। अतएव यह शंका नहीं होनी चाहिए कि ब्रह्म ज्ञान के उपरान्त भी क्रिया सम्भव है क्योंकि यह क्रियाएँ ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के पहले होती हैं। वास्तविकता यह है कि स्वयं ब्रह्मज्ञान किसी क्रिया का साधन नहीं है। ब्रह्मज्ञानी के लिए न तो क्रिया सम्भव है और न ही आवश्यक है। सभी विधि वाक्यों का तथा सभी विधियों का तथा सभी प्रमाणों का पर्यवसान 'अहं ब्रह्मास्मि' में है। अहेयोपादेय स्वरूप ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर सभी विषयों और सभी प्रमाता एवं सभी प्रमाणों का अन्त हो जाता है, क्योंकि वहाँ कोई द्वैतभाव नहीं रहता।

4.18 निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि जिसे ब्रह्मज्ञान हो गया है, उसे पहले के समान सांसारिकत्व नहीं होगा। श्रवण उपरान्त मनन निदिध्यासन आदि के कथन के कारण यह कहना कि ब्रह्म किसी विधि का अंग है, स्वरूप पर्यवसायी नहीं है, ठीक नहीं है क्योंकि श्रवण के समान मननादि भी ब्रह्म के अवरोध के लिए है। यदि ब्रह्मज्ञान का उपयोग अन्यत्र होता, तो यह विधि का अंग होता, परन्तु ऐसा नहीं है। मननादि केवल ब्रह्मज्ञान पर्यवसायी है। अतः उपासना विधि के अंग के रूप में ब्रह्मशास्त्र उपदिष्ट नहीं है। शंकराचार्य 'तत्तुसमन्वयात्' सूत्र के भाष्य में यह निष्कर्ष निगमित किया है कि वेदान्त वाक्यों के समन्वय से ब्रह्म स्वतंत्र रूप से शास्त्र उपदिष्ट है। इसी कारण 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' ब्रह्मविषयक शास्त्र का अलग से प्रणयन होना उचित ही है। यदि ब्रह्म उपासना

विधि का अंग होता, तो उसका समावेश धर्मजिज्ञासा में हो जाता, ‘अथातो ब्रह्मजिज्ञासा द्वारा पृथक्शास्त्र का प्रारम्भ न होता और होता भी तो अब अविशिष्ट, धर्म जिज्ञासा का प्रारम्भ होता एवं इस रूप में होता, जैसा कि कभी-कभी मीमांसा में किया गया है। अतएव यह कहा जा सकता है कि आत्मा ब्रह्म में एकत्व की प्रतिज्ञा पूर्व मीमांसा में नहीं है, इसीलिए इस अपूर्वशास्त्र का प्रारम्भ ‘अथातो ब्रह्म जिज्ञासा’ से ठीक ही किया गया है। अतः सभी विधि और सभी अन्य प्रमाणों का अवसान ‘अहं ब्रह्मास्मि’ ज्ञान में ही है। जब इस हेयोपादेयरहित अद्वैत आत्मा का अनुभव हो जाता है, तो सभी प्रमाण और प्रमाता निर्विषयक हो जाते हैं। शंकराचार्य ने ‘तत्त्वसमन्वयात्’ भाष्य में यह कहा है कि गौण एवं मिथ्या आत्माभिमान के असत् होने पर पुत्र, देहादि के बाध हो जाने पर ‘मैं ब्रह्म हूँ’ इस प्रकार का ज्ञान हो जाने पर कर्त्तव्याकर्त्तव्य का प्रश्न कैसे उठ सकता है? आत्मा तो ज्ञाता रूप तभी तक रहता है, जब तक कि जिज्ञासितव्य आत्मा पाप-पुण्य आदि से मुक्त ज्ञाता (आत्मा) है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि ब्रह्मात्मैक्यज्ञान हो जाने पर जीव और ब्रह्म के बीच अन्वेष्टा और अन्वेष्टव्य का सम्बन्ध भी समाप्त हो जाता है।

प्रश्नावली

लघु उत्तरीय प्रश्न—

1. ब्रह्मसूत्र का चौथा सूत्र क्या है?
2. ब्रह्म में किया कारत्व की संभावना का अभाव है चर्चा करें।
3. ब्रह्म उपासना का विषय नहीं है स्पष्ट करें?
4. शंकराचार्य के अनुसार ज्ञान और किया के अन्तर को स्पष्ट करें।
5. ब्रह्म ज्ञान को स्पष्ट करें।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न—

1. ब्रह्म सूत्र “तत्त्वसमन्वयात्” पर एक निबन्ध लिखिए।
2. ‘तत्त्वसमन्वयात्’ के आधार पर ब्रह्म की व्याख्या करें।



MAPH-03

शंकराचार्य का दर्शन

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

खण्ड – 4

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में तर्क की भूमिका

इकाई – 1 115–124

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म सत् की अवधारणा

इकाई – 2 125–134

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में जगत का मिथ्यात्व

इकाई – 3 135–144

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में अनुभव, तर्क एवं श्रुति का स्थान

इकाई – 4 145–156

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में अपरोक्षानुभूति

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

एम.ए.पी.एच.—03 (MAPH-03)

सरंक्षक मार्गदर्शक

प्रो.के.एन. सिंह — कुलपति, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

विशेषज्ञ समिति

- डॉ.आर.पी.एस. यादव — निदेशक, मानविकी विद्याशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
- प्रो. रामलाल सिंह (से.नि.) — दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
- प्रो.दीप नारायण यादव — दर्शनशास्त्र विभाग, पं० दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
- प्रो. द्वारिका — विभागाध्यक्ष, पं० दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
- प्रो. सभाजीत यादव — दर्शनशास्त्र विभाग, महात्मागांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी।
-

लेखक

- डॉ. श्यामकान्त — असिस्टेंट प्रोफेसर, आर्यकन्या डिग्री कालेज, इला० वि.वि. प्रयागराज।
- डॉ. अतुल कुमार मिश्र — शैक्षिक परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
-

सम्पादक

- प्रो. जटाशंकर — पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
-

परिभाषक

- प्रो. आर.पी.एस. यादव — निदेशक मानविकी विद्याशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
-

समन्वयक

- डॉ. अतुल कुमार मिश्र — शैक्षिक परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
-

2020 (मुद्रित)

© २०२० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज—211021

ISBN-

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को राजर्षि अण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिनियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठ्य सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन — उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज— 211021

प्रकाशक — कुलसचिव, डॉ. अरुण कुमार गुप्ता २०२० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज —2020

मुद्रक — चंद्रकला यूनिवर्सल प्राइवेट लिमिटेड, 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, प्रयागराज (इलाहाबाद)

इकाई—1

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म सत् की अवधारणा

संरचना

- 1.0 उद्देश्य
- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म विचार
- 1.3 ब्रह्म का तटस्थ एवं स्वरूप लक्षण
 - 1.3.1 ब्रह्म का तटस्थ लक्षण
 - 1.3.2 ब्रह्म का स्वरूप लक्षण
 - 1.3.3 शंकराचार्य के द्वारा लौकिक दृष्टान्त के द्वारा ब्रह्म के तटस्थ लक्षण और स्वरूप लक्षण का भेद
 - 1.3.4 शंकराचार्य द्वारा ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप और औपाधिक स्वरूपक के स्पष्टीकरण हेतु जादूगर का दृष्टान्त
- 1.4 शंकराचार्य के अद्वैत-वेदान्त में ब्रह्म के दो रूप—निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म
- 1.5 अद्वैत वेदान्त का ब्रह्म सभी प्रकार के भेदों से रहित है
- 1.6 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म अनिर्वचनीय सत्ता है
- 1.7 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म और ईश्वर
- 1.8 शंकराचार्य के अनुसार ईश्वर की सिद्धि श्रुतिवाक्यों से होती है, अनुमान या तर्क से नहीं
- 1.9 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में आत्मा और ब्रह्म
- 1.10 शंकराचार्य के अनुसार जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध
- 1.11 शंकराचार्य एवं रामानुज के ब्रह्म विचार में भेद
- 1.12 निष्कर्ष

1.0 उद्देश्य

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को ही एकमात्र निरपेक्ष सत् के रूप में स्वीकार किया गया है। शंकराचार्य ने ब्रह्म की अवधारणा से सम्बन्धित इस सिद्धांत को उपनिषदों से ग्रहण करके उसे अद्वैतवाद के अनुरूप तार्किक ढंग से विकसित किया है। यही कारण है कि उनके अद्वैतवाद की तत्त्वमीमांसा में ब्रह्म ही एकमात्र ही सत् है, जगत—मिथ्या है और परमार्थतः ब्रह्म ही है, ब्रह्म से भिन्न नहीं है।

1.1 प्रस्तावना

शंकराचार्य की ब्रह्म सम्बन्धित अवधारणा उपनिषदों में सन्निहित ब्रह्म का ही व्यवस्थित निरूपण है। शंकराचार्य ने उपनिषदों ब्रह्मात्मैक्यभाव को ही अपने अद्वैतवाद में विकसित किया है। उन्होंने ने अपने अद्वैतवाद के द्वारा परमार्थतः ब्रह्म के ही एकमात्र निरपेक्ष सत् होने का प्रतिपादन करते हैं, क्योंकि ब्रह्म ही एक ऐसी सत्ता है, जो त्रिकालबाधित है। शंकराचार्य ने एकमात्र ब्रह्म को ही सत् मानने के लिए उपनिषदों के अनेक उद्धरणों को प्रस्तुत किया है। उन्होंने छान्दोग्य उपनिषद् के 'एकमेवाद्वितीयम्' तथा सर्वं खल्विदं ब्रह्म का उल्लेख करते हुए यह स्पष्ट किया है कि शुद्ध सत्ता, जो समस्त संसार का मूल कारण है, नाना रूपों में अभिव्यक्त होने पर भी स्वयं निराकार है। भिन्न-भिन्न रूपों में होने पर भी यथार्थतः निरवयव है। शान्त विषयों में भासमान होने पर भी वस्तुतः अनन्त है। शंकर इस अनन्त, निर्विशेष सत्ता को ही संसार का मूलतत्त्व कहा है और इसे ही ब्रह्म की संज्ञा से अभिहित करते हैं। उनके अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है, जिसका चैतन्य गुण नहीं, अपितु स्वभाव है। यही कारण है कि ब्रह्म को विशुद्ध चैतन्य कहा जाता है। इसीलिए ब्रह्म शब्द की व्याख्या करते हुए यह कहा जाता है कि 'वृहत्तमत्वात्-ब्रह्म' या 'वृहणात्- ब्रह्म' अर्थात् जो वृहत्तम है, वही ब्रह्म है।

1.2 शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म विचार

शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म का विचार दो दृष्टियों से किया जा सकता है। व्यावहारिक दृष्टि से जगत् को सत्य माना जाता है और ब्रह्म को इसका मूलकारण, सृष्टिकर्त्ता, पालक, संहारक, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान कह सकते हैं। इसी रूप में उसे ईश्वर या सगुण ब्रह्म कहा जाता है। ईश्वर या सगुण ब्रह्म ही हमारी उपासना का भी विषय हो सकता है। परन्तु ब्रह्म को जगत्कर्त्ता कहना केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही सत्य माना जा सकता है, अर्थात् जब तक हम जगत् को सत्य मानते हैं। जगत् कर्त्तृत्व ब्रह्म का स्वरूप लक्षण नहीं है, केवल ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है, अर्थात् सृष्टि का कर्त्ता होना ब्रह्म का केवल औपाधिक गुण है, वास्तविक स्वरूप नहीं। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म के दो लक्षण प्राप्त होते हैं। तटस्थ लक्षण और स्वरूप लक्षण। किसी वस्तु का आन्तरिक स्वरूप न होते हुए भी अन्य वस्तुओं से उसका भेद करने वाला (व्यवच्छेदक) लक्षण तटस्थ लक्षण कहलाता है— 'स्वरूपान्तराभूत्वेसति इतरव्यावर्तकं तटस्थ-लक्षणम्'। पुनः 'स्वरूपान्तराभूत्वे सति इतरव्यावर्तकं स्वरूपलक्षणम्' अर्थात् किसी वस्तु को आन्तरिक स्वरूप, जो उसे अन्य वस्तुओं से पृथक् करता है, स्वरूप लक्षण है। अतएव यह कहा जा सकता है कि तटस्थ लक्षण किसी वस्तु का आगन्तुक गुण है, इसके विपरीत, स्वरूप लक्षण उसका अनिवार्य गुण है।

1.3 ब्रह्म का तटस्थ एवं स्वरूप लक्षण

1.3.1 ब्रह्म का तटस्थ लक्षण

अद्वैत वेदान्त में 'सृष्टि-कर्त्तृत्व' ब्रह्म का तटस्थ लक्षण माना जाता है। शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के द्वितीय सूत्र 'जन्माद्यस्य यतः' की व्याख्या में इसी तथ्य को उद्घाटित किया है। उनका कथन है कि इस जगत् का जन्मादि (जन्म, धारण और विनाश) जिस तत्त्व से होता है, वह ब्रह्म है। उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि

श्रुतियाँ भी ब्रह्म को जगत् का मूल कारण बताती हैं। उन्होंने श्रुतिवाक्यों की व्याख्या करते हुए यह विचार व्यक्त किया है कि –यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, यो जातानि जीवन्ति, यत् प्रत्यन्त्याभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञास्व तद् ब्रह्म’ अर्थात् जिससे इस जगत् के समस्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जिसमें स्थित एवं जीवित रहते हैं और जिसमें अन्ततः विलीन हो जाते हैं उस ब्रह्म की जिज्ञासा करो, वह ब्रह्म है। शंकराचार्य ने श्रुतियों से अपने अभीष्ट मत की पुष्टि करने के बाद तर्क द्वारा भी उसे पुष्ट करने का प्रयास किया है। वे ब्रह्मसूत्रभाष्य में अपने मत का पोषण करते हुए अन्य सृष्टिविषयक विद्वान्तों जैसे, सांख्य दर्शन के ‘प्रकृति-परिणामवाद’, न्याय-वैशेषिक दर्शन के ‘परमाणुवाद’ और अद्वैतेतर वेदान्तियों के ब्रह्म परिणामवाद को तार्किक दृष्टि से असंगत सिद्ध करते हैं और ब्रह्म को ही एकमात्र जगत् का मूल कारण सिद्ध करते हैं। उनके अनुसार ब्रह्म ही इस जगत् का उपादान कारण और निमित्तकारण दोनों है। उनके अनुसार जगत्- ब्रह्म का परिणाम नहीं है, अपितु ब्रह्म का विवर्त है। जगत्- ब्रह्म की प्रतीतिमात्र है, विकार या तात्त्विक परिवर्तन नहीं, क्योंकि ब्रह्म कूटस्थ एवं नित्य है। अतएव उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं है माया या अविद्या के कारण ब्रह्म ईश्वर या जीव के रूप में जगत् में प्रतीति होता है। इस प्रकार माया से युक्त ब्रह्म ही जगत् का मूल कारण है। उन्होंने विवर्तवाद का समर्थन करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि जगत् की वास्तविक उत्पत्ति नहीं होती, केवल उसकी उत्पत्ति का आभास होता है। इसलिए ब्रह्म के सृष्टिकर्तृत्व को केवल व्यावहारिक दृष्टि से सत्य कहा जा सकता है, पारमार्थिक दृष्टि से न कोई सृष्टि है और न ही कोई सृष्टिकर्ता। इस प्रकार जगत्कारणत्व या जगत् का कारण होना ब्रह्म का औपाधिक गुण है, वास्तविक स्वरूप नहीं। यह ब्रह्म का ऐसा लक्षण है जो उसके स्वरूप को प्रकट नहीं करता। वास्तविकता यह है कि जगत्कारणता ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है। इसीलिए श्रुतियों में यह कहा गया है कि ‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म’।

1.3.2 ब्रह्म का स्वरूप लक्षण

शंकराचार्य ब्रह्म का स्वरूप लक्षण को व्यक्त करते हुए उसे ‘सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म’, ‘विज्ञानानन्दं ब्रह्म’ एवं ‘सच्चिदानन्द’ कहते हैं। उनका यह मानना है कि श्रुतियों के के इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि उक्त वर्णन में ब्रह्म के गुण या विशेषण को नहीं बताया गया है। उनके अनुसार ऐसा इसलिए नहीं है, क्योंकि श्रुतियों द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किया गया है, वह भावात्मक निरूपण न होकर अभावात्मक निरूपण है। इसके अतिरिक्त ब्रह्म के सत् से असत् की, चित् से अचित् की और आनन्द से अपूर्णता या दुःख की व्यावृत्ति होती है। अर्थात् इससे यह व्यक्त होता है कि ब्रह्म असत्, अचित् एवं अपूर्ण नहीं है। इतना ही नहीं शंकराचार्य के द्वारा श्रुतियों के दिये गये उद्धरण से यह भी प्रकट होता है कि ब्रह्म में सभी प्रकार के भेदों का अभाव होने के कारण उसमें विशेष्य-विशेषण भाव की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। वास्तविकता यह है कि श्रुतियाँ बारम्बार ब्रह्म को नित्य सत्, शुद्ध चैतन्य और अखण्ड आनन्द बताती हैं। ब्रह्म त्रिकालाबाधित सत् है और कूटस्थ नित्य तथा अपरिणामी है। शंकराचार्य सत्, चित्त एवं आनन्द को तात्त्विक रूप में एक ही मानते हैं, क्योंकि सत् और चित् दोनों का ही अन्तर्भाव आनन्द में करते हैं। इसलिए उनकी यह स्पष्ट मान्यता है कि जो सत् है, वही चित् है वही आनन्द है और वही ब्रह्म है। शंकराचार्य के अनुसार यही ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है।

1.3.3 शंकराचार्य के द्वारा लौकिक दृष्टान्त के द्वारा ब्रह्म के तटस्थ लक्षण और स्वरूप लक्षण का भेद

शंकराचार्य लौकिक जीवन के दृष्टान्त के द्वारा भी ब्रह्म के स्वरूप एवं तटस्थ लक्षण के भेद को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। शंकराचार्य उस गड़ेरिया का उदाहरण देते हैं, जो रंगमंच पर राजा बनकर अभिनय करता है। वास्तविक दृष्टि से वह व्यक्ति गड़ेरिया है और गड़ेरिया के रूप ही उसका जो स्वरूप लक्षण है, वह उसे गड़ेरिया के रूप में परिभाषित किया है। परन्तु जब वह गड़ेरिया रंगमंच पर अभिनय करता है, तब वह एक राजा, विजेता तथा शासक के रूप में प्रतीत होता है। यह उस गड़ेरिया का तटस्थ लक्षण है। इस उदाहरण के द्वारा शंकराचार्य यह स्पष्ट करते हैं कि ब्रह्म का तटस्थ लक्षण केवल यह बताता है कि ब्रह्म वह अपरिवर्तनशील तत्व है, जिसका आभास यह जगत है, किन्तु इससे यह नहीं ज्ञात होता है कि ब्रह्म क्या स्वरूप है? शंकराचार्य ने ब्रह्म के स्वरूप को उद्घाटित करने के लिए ही उसके स्वरूप लक्षण का उल्लेख किया है। शंकराचार्य इस बात पर भी बल देते हैं कि ब्रह्म तटस्थ लक्षण (जगत् कर्तृत्व) मात्र व्यावहारिक दृष्टि से सत्य है। इसका विधान अविद्या से ग्रस्त प्राणी को ब्रह्म की एक झलक प्रदान करने तथा ब्रह्मजिज्ञासा की ओर अनुभव होने के लिए है। परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से जगत् के सम्बन्ध को लेकर ब्रह्म पर जितने भी विशेषण आरोपित किये जाते हैं, वह उनसे अतीत है।

1.3.4 शंकराचार्य द्वारा ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप और औपाधिक स्वरूपक के स्पष्टीकरण हेतु जादूगर का दृष्टान्त

शंकराचार्य ने ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप और औपाधिक स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए एक जादूगर का दृष्टान्त देते हुए यह कहते हैं कि जादूगर केवल उन्हीं लोगों के लिए चमत्कारी है, जो उसके जादू से प्रभावित होते हैं, और उसके द्वारा दिखाये गये जादुई खेल को सत्य मानते हैं। परन्तु जो लोग उसके माया जाल से प्रभावित नहीं होते हैं, उनके लिए वह जादूगर चमत्कारी नहीं है। इसी प्रकार अज्ञानी लोगों की दृष्टि में जगत् सत्य है और ब्रह्म जगत् का कारण या सृष्टिकर्ता है, किन्तु तत्त्वज्ञानियों के लिए न कोई सृष्टि है और न कोई वास्तविक सृष्टिकर्ता है। वस्तुतः शंकराचार्य का यह स्पष्ट अभिमत है कि ब्रह्म जगत् में व्याप्त भी है और उससे अतीत भी है। पारमार्थिक दृष्टि से जगत् की कोई सत्ता नहीं है। शंकराचार्य के अनुसार जगत् व्यावहारिक दृष्टि से ही सत्य है। परन्तु उनका यह भी कहना है कि व्यावहारिक दृष्टि से अस्तित्ववान तथा सत्य होते हुए भी जगत्, अपनी सत्ता के लिए ब्रह्म पर निर्भर रहता है, तथापि ब्रह्म जगत् के सुख-दुःख, पाप-पुण्यादि से वैसे ही प्रभावित नहीं होता, जैसे रंगमंच का पात्र राज्य लाभ या राज्य हानि से किसी प्रकार प्रभावित नहीं होता। पुनश्च जीव भी ब्रह्म से अभिन्न है। जीव अज्ञान के कारण ब्रह्म से अपने को भिन्न समझते हुए अपने पृथक् अस्तित्व की अनुभूति करता है। परन्तु जीव द्वारा ब्रह्म से भिन्न समझा जाना तभी तक रहता है, जब तक वह ब्रह्म की आत्मानुभूति नहीं करता है। ज्योंही जीव स्वयं को ब्रह्म के रूप में समझ लेता है, त्योंही वह ब्रह्म से तादात्म्य प्राप्त कर लेता है। अतएव जीव परमार्थतः ब्रह्म से अभिन्न है।

1.4 शंकराचार्य के अद्वैत-वेदान्त में ब्रह्म के दो रूप-निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म

शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म पारमार्थिक दृष्टि से निर्गुण है। शंकराचार्य द्वारा ब्रह्म को निर्गुण कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि वह शून्य है। इसका तात्पर्य केवल यह है कि बुद्धि द्वारा कल्पित कोई भी रूप उसका वास्तविक स्वरूप नहीं है। बुद्धि द्वारा प्रकल्पित कोई भी अवधारणा उस पर लागू नहीं होती। शंकराचार्य का यह भी मानना है कि निर्गुण ब्रह्म ही जगत के कारण की दृष्टि से सगुण हो जाता है। ब्रह्म की सगुण अवस्था माया से सम्पृक्त अवस्था है और इसे अद्वैत-वेदान्त में ईश्वर कहा जाता है। अद्वैत वेदान्त में जगत की अपेक्षा से या व्यावहारिक दृष्टि से ईश्वर या सगुण ब्रह्म की अवधारणा को स्वीकार किया गया है। वास्तविकता यह है कि अद्वैत-वेदान्त पारमार्थिक स्तर पर ब्रह्म के सगुण रूप को अस्वीकार करता है, क्योंकि उसका यह मानना है कि जीव और जगत के साथ सगुण ब्रह्म के सम्बन्ध की तार्किक व्याख्या नहीं की जा सकती। शंकराचार्य का यह कहना है कि सगुण ब्रह्म की अवधारणा अध्यास गर्भित है और ईश्वर की भाँति अन्तिम नहीं है। यद्यपि सगुण ब्रह्म का आदर्श दर्शन की पराकृष्टा के रूप स्वीकार किए जाने के लिए अपर्याप्त है, तथापि वह महत्वहीन नहीं है। सगुण ब्रह्म की व्यावहारिक उपादेयता है, क्योंकि यह हमें एक नैतिक आदर्श प्रदान करता है। साधक सगुण ब्रह्म को अपना आराध्य बना करके नैतिक पूर्णता की ओर उन्मुख होता है जिसके द्वारा वह आत्मानुभूति करता है, जो मोक्ष-प्राप्ति के लिए अपरिहार्य है। परन्तु शंकराचार्य के अद्वैत-वेदान्त में निर्गुण ब्रह्म सगुण ब्रह्म का व्याघाती नहीं है, बल्कि उसका अन्तस्थ सत्य है। इसके अतिरिक्त निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म एक ही पारमार्थिक सत्ता के दो रूप हैं। इसलिए पारमार्थिक दृष्टि से निर्गुण ब्रह्म एवं सगुण ब्रह्म तत्त्वतः एक ही है। सगुण ब्रह्म या ईश्वर निर्गुण ब्रह्म का ही प्रतिरूप है। शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म जगत की अपेक्षा सगुण है, किन्तु निरपेक्ष रूप से वह निर्गुण पर ब्रह्म है।

1.5 अद्वैत वेदान्त का ब्रह्म सभी प्रकार के भेदों से रहित है

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म एक ऐसी अभेद सत्ता है, जो सजातीय, विजातीय तथा स्वगत सभी भेदों से रहित है। एक ही प्रकार वस्तुओं के बीच जो भेद पाया जाता है, उसे सजातीय भेद कहते हैं, जैसे एक गाय और दूसरी गाय के बीच भेद। दो असमान वस्तुओं के बीच पाये जाने वाले भेद को विजातीय भेद कहते हैं जैसे गाय और घोड़े के बीच में भेद। एक ही वस्तु में अंगादि भेद स्वगत भेद है, जैसे किसी गाय के पैर, कान, पूँछ इत्यादि में जो भेद है वह स्वगत भेद है। ब्रह्म में सजातीय भेद नहीं है क्योंकि उसके समान कोई अन्य सत्ता नहीं है। ब्रह्म में विजातीय भेद नहीं है क्योंकि ब्रह्म की कोई विरुद्ध धर्मी सत्ता नहीं है। उसमें अंगांगि भेद का अभाव होने के कारण स्वगत भेद भी नहीं है। इस प्रकार शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म सभी भेदों से रहित, निर्गुण, निर्विशेष तथा निर्विकल्प सत्ता है।

1.6 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म अनिर्वचनीय सत्ता है

शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म अनिर्वचनीय सत्ता है क्योंकि वह निर्गुण, निर्विशेष होने के कारण अलक्षण है। परिणामतः उसे विचार का विषय नहीं बनाया

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में तर्क की भूमिका

जा सकता। अतएव ब्रह्म का निषेधात्मक वर्णन ही किया जा सकता है। आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के विचारक स्पिनोजा भी ईश्वर को निर्गुण एवं अनिर्वचनीय मानते हैं। उनकी यह मान्यता है कि 'प्रत्येक निर्वचन निषेधात्मक है। (Determinato Negato Esat) अर्थात् जब हम किसी वस्तु में किसी विशेष गुणों का आरोप करते हैं, तो उसमें उत्पन्न अन्य गुणों का निषेध हो जाता है। जब बुद्धि द्वारा ब्रह्म को जानने का प्रयास किया जाता है, तो उससे सीमित होकर सविशेष बन जाता है। इसीलिए श्रुतियों का भी यह स्पष्ट मानना है कि ब्रह्म का सर्वोत्तम निरूपण नेति-नेति के रूप में ही हो सकता है। वास्तविकता यह है कि अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को अनिर्वचनीय कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि वह अज्ञेय है। अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को अनिर्वचनीय कहने का तात्पर्य यह है कि ब्रह्म बुद्धि की कोटियों से परे है। किन्तु वह अज्ञेय नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि सामान्य इन्द्रियों की सहायता से ब्रह्म का ज्ञान संभव नहीं है, किन्तु ब्रह्म साक्षात्कार के अन्य साधन हैं और उसे अपरोक्षानुभूति से जाना जा सकता है। अपरोक्षानुभूति ब्रह्म का एक ऐसा अनुभव है, जिसमें ब्रह्म होकर ही उसे जाना जा सकता है।

1.7 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म और ईश्वर

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म का सगुण एवं सविशेष रूप ईश्वर कहलाता है। शंकराचार्य के अनुसार मायोपहित ब्रह्म ईश्वर कहलाता है। उनके अनुसार ब्रह्म जब माया की उपाधि से युक्त होता है, तो वह ईश्वर के रूप में जाना जाता है। वस्तुतः ब्रह्म जब माया में प्रतिबिम्बित या माया से सीमित होता है, तो वह ईश्वर कहलाता है। शंकराचार्य के अनुसार ईश्वर ब्रह्म का सर्वोच्च आभास है। ईश्वर व्यक्तित्व पूर्ण एवं सर्वगुणसम्पन्न हैं। ईश्वर सृष्टिकर्ता पालक एवं संहारक है। इसलिए शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में ईश्वर ही ज्ञान स्वरूप, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान एवं विभु सत्ता होने के कारण उपासकों एवं भक्तों के लिए उपासना का विषय है। ईश्वर सृष्टि में अन्तर्यामी और विश्वातीत दोनों है। यद्यपि कुछ विचारक ब्रह्म एवं ईश्वर में भेद करते हैं और उनका यह मानना है कि ब्रह्म निर्गुण निराकार एवं निर्विशेष है, किन्तु ईश्वर सगुण साकार तथा सविशेष है। ब्रह्म दर्शन की पराकष्टा है और ईश्वर धर्म का साध्य है। ब्रह्म व्यक्तित्व रहित सत्ता है, जबकि ईश्वर व्यक्तित्वयुक्त सत्ता है। ब्रह्म सृष्टिकर्तृत्व से युक्त है और ईश्वर ब्रह्म की प्रतीतिमात्र है। परन्तु वास्तविकता यह है कि ब्रह्म एवं ईश्वर दो पृथक सत्ताएं नहीं हैं, बल्कि व्यावहारिक दृष्टि से जिसे ईश्वर कहते हैं वह पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म है। ईश्वर ब्रह्म निर्वैयक्तिक ब्रह्म का व्यक्तित्वयुक्त रूप है। ईश्वर ब्रह्म का सर्वोच्च आभास है। यद्यपि पमरार्थतः ब्रह्म और ईश्वर में कोई भेद नहीं है, फिर भी अद्वैत वेदान्त में ईश्वर की अवधारणा का विशेष महत्व है। शंकराचार्य का यह मानना है कि ईश्वर से होकर ही सर्वोच्च निरपेक्ष सत्ता ब्रह्म तक पहुँच सकते हैं। अद्वैत वेदान्त का यह दृढ़ विश्वास है कि जब तक जीवन को जगत के अपूर्णता एवं मिथ्यात्व का ज्ञान ही होता है। तब तक वह ईश्वर को ही अपना आराध्य बनाता है और ब्रह्म के साक्षात्कार के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। अतएव ब्रह्म और ईश्वर एक ही सत्ता को तात्त्विक रूप में दो दृष्टि से देखने के दो रूप हैं।

1.8 शंकराचार्य के अनुसार ईश्वर की सिद्धि श्रुतिवाक्यों से होती है, अनुमान या तर्क से नहीं

शंकराचार्य ने ईश्वर या ब्रह्म की सत्ता को श्रुतिवाक्यों के आधार पर सिद्ध मानते हैं और उसके लिए अनुमान या तर्क की कोई आवश्यकता नहीं मानते हैं। यही कारण है कि उन्होंने अन्यान्य भारतीय दार्शनिकों द्वारा ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए दी गयी युक्तियों का खण्डन किया है। उनका यह मानना है कि ईश्वर को सृष्टि का निमित्तकारण बताने वाली विचारधाराएँ ईश्वर को सीमित कर देती हैं, क्योंकि उसे सृष्टि विषयक सामग्री के लिए अन्य तत्व (जड़तत्व) पर निर्भर होना पड़ता है। सृष्टिकर्ता ईश्वर यदि उपादान के लिए किसी अन्य तत्व पर निर्भर रहता है, तो वह सर्वशक्तिमान पूर्ण एवं निरपेक्ष सत्ता नहीं हो सकता है। इसी प्रकार शंकराचार्य ईश्वर परिणामवाद को भी अस्वीकार करके ब्रह्म या ईश्वर जो जगत का 'अभिन्ननिमित्तोपादान करण' स्वीकार किया तथा जगत को ईश्वर का विवर्त माना है। यहाँ उल्लेखनीय यह है कि पाश्चात्य दर्शन के भी अधिकांश विचारक ईश्वर की सत्ता के लिए युक्तियों को पर्याप्त मानते हैं। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक काण्ट ने यह स्पष्ट रूप कहा है कि ईश्वर तर्क का विषय न होकर श्रद्धा का विषय है।

1.9 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में आत्मा और ब्रह्म

शंकराचार्य आत्मा और ब्रह्म के तादात्म्य को उपनिषद् के ऋषियों की महान देन मानते हैं। शंकराचार्य और उपनिषद् के ऋषियों की परम्परा का अनुगमन करते हुए आत्मा एवं ब्रह्म के अभेद का प्रतिपादन किया है शंकराचार्य के अनुसार 'सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्ति प्रसिद्धिः' अर्थात् सब के आत्मतत्व के रूप में ब्रह्म का अस्तित्व प्रसिद्ध है। एक अन्य स्थान पर उन्होंने यह कहा है कि— 'आत्मव्यतिरेको अग्रहणात् आत्मैव सर्वम्' अर्थात् आत्मा के बिना सभी वस्तुएँ अग्रहीत होने के कारण आत्मा ही सब कुछ है। सर्व खल्विदं ब्रह्म' इत्यदि श्रुति वाक्यों से भी आत्मा एवं ब्रह्म के बीच अभेद की सिद्धि होती है। वस्तुतः शंकराचार्य सर्वत्र यह प्रतिपादित किया है कि एक ही तत्व है और वह ब्रह्म या आत्मा है। इसीलिए उनका यह मानना है कि संसार में दृष्टिगत होने वाला विषयी-विषय में भेद ज्ञाता-ज्ञेय में भेद, जीव और ईश्वर में भेद सब माया कि सृष्टि या मिथ्या है। वास्तव में जीव के सारतत्व की दृष्टि से विचार करने पर उस एकमात्र तत्व को आत्मा कहते हैं और वाह्य जगत के आधारतत्व के दृष्टि से उसे ब्रह्म कहते हैं।

शंकराचार्य ब्रह्मसूत्रभाष्य की प्रस्तावना में अनुभव के आधार तत्व के रूप में शुद्ध आत्मतत्व की सत्ता का प्रतिपादन करते हैं जो उसे ही सच्चिदानन्द की संज्ञा से अभिहित करते हैं। शंकराचार्य का यह मानना है कि मनुष्य के जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति की तीन अवस्थाओं में जो अपरिवर्तनशील तत्व है वह चिन्मात्र या ज्ञानमात्र है। इस प्रकार आत्मा का वास्तविक स्वरूप चैतन्य मात्र या निर्विषयक सत्ता है, जिसे शंकराचार्य 'साक्षी' के रूप में व्यक्त करते हैं। इसीलिए उनका यह मानना है कि आत्मा वास्तविक स्वरूप तुरीयावस्था में अभिव्यक्त होता है जो आन्तरिक एवं वाह्य सभी विषय के अभाव की अवस्था है जो शुद्ध चैतन्य स्वरूप और आनन्द स्वरूप होने के कारण ही सच्चिदानन्द है। अतएव आत्मा एवं ब्रह्म अभिन्न हैं।

1.10 शंकराचार्य के अनुसार जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध

शंकराचार्य के अनुसार जीव आत्मा या ब्रह्म का ही व्यावहारिक रूप है। जिसे हम जीव कहते हैं, वह अभौतिक (चैतन्य) एवं भौतिक तत्त्वों का योग है। अतएव जिसे 'जीव' कहते हैं, वह अन्तःकरण में व्याप्त चैतन्य है। यह 'जीव' अहं प्रत्यय का विषय होने के कारण ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता है। जीव भी परमार्थतः ब्रह्म ही माना जाता है। ब्रह्म से पृथक् जीव की कोई सत्ता नहीं है। जीव अनादि अविद्या के कारण ब्रह्म से भिन्न अपने अस्तित्व का अनुभव करता है और जब अविद्या का उच्छेद हो जाता तो उसे ब्रह्मज्ञान या आत्म ज्ञान हो जाता है। जीव ब्रह्म से अपनी अनन्यता समझने लगता है। उसे यह स्पष्ट ब्रह्मात्मैक्य की अनुभूति होने लगती है। शंकराचार्य जीव और ब्रह्म की भिन्नता को सिद्ध करने के लिए प्रतिबिम्बवाद, अवच्छेदवाद और अभासवाद का सहारा लेते हैं। प्रतिबिम्ब वाद के अनुसार ब्रह्म का अविद्या में प्रतिबिम्ब जीव है। अतएव ब्रह्म और जीव में बिम्ब-प्रतिबिम्ब सम्बन्ध है। परन्तु कुछ आलोचक प्रतिबिम्बवाद को इस आधार पर अस्वीकार करते हैं कि निराकर चैतन्य स्वरूप ब्रह्म का प्रतिबिम्ब विद्या पर कैसे पड़ सकता है? अद्वैत वेदान्त के भामती-प्रस्थान के अनुयायी अवच्छेदवाद के आधार पर ब्रह्म और जीव के एकतत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। अवच्छेदवाद के समर्थक अद्वैत वेदान्तियों का कहना है कि यद्यपि आकाश सर्वव्यापी और एक है, तथापि वह घट, मट आदि भेद से धटाकाश एवं मटाकाश आदि रूप में आभासित होता है, उसी प्रकार यद्यपि ब्रह्म सर्वव्यापी एवं एक है तथापि वह अविद्या के कारण उपाधि भेद से नानाजीवों के रूपमें प्रतीत होता है। इस प्रकार अविद्या के कारण अनन्त एवं सर्वव्यापी ब्रह्म सीमित एवं शान्त जीवों के रूप में आभासित होता है। अतएव भामती प्रस्थान के समर्थक अद्वैतवादी अवच्छेदवादी अवधारणा के आधार पर ब्रह्म एवं जीव के अभेद सम्बन्ध की स्थापना करते हैं। अद्वैत वेदान्ती सुरेश्वराचार्य ने आभासवाद के आधार पर ब्रह्म एवं जीव के भेद का समर्थन करते हैं। सुरेश्वराचार्य जीव को ब्रह्म का अभास या मिथ्या प्रतीति मानते हैं। उनके अनुसार अविद्या के कारण ही ब्रह्म जीव के रूप में आभासित होता है। अविद्या भ्रान्ति है अतएव ब्रह्म का जीव के रूप में आभास भी मिथ्या है और अविद्या के निरसन होने पर ब्रह्म एवं जीव के एकान्त का ज्ञान हो जाता है।

1.11 शंकराचार्य एवं रामानुज के ब्रह्म विचार में भेद

शंकराचार्य की ब्रह्म सम्बन्धी अवधारणा अद्वैत वेदान्त के रूप में प्रचलित है, जबकि रामानुज की ब्रह्म सम्बन्धी विचार विशिष्टाद्वैत के रूप में जाना जाता है। शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म निर्गुण एवं सगुण दोनों है। वह पारमार्थिक दृष्टि से निर्गुण किन्तु हमारे व्यावहारिक प्रयोग की दृष्टि से सगुण है। इसके विपरीत रामानुज की दृष्टि में मात्र सगुण और सविशेष है। वह कभी भी निर्गुण या निर्विशेष नहीं हो सकता। शंकराचार्य का ब्रह्म अद्वैत सत्ता होने के कारण भेद रहित सत्ता है। अतएव शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म सभी प्रकार के सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेद से रहित है। इसके विपरीत रामानुज के ब्रह्म में सजातीय एवं विजातीय भेद तो नहीं है, किन्तु उसमें स्वगत भेद है। शंकराचार्य का ब्रह्म व्यक्तित्वरहित एवं अमूर्त सत्ता है, किन्तु रामानुज का ब्रह्म व्यक्तित्वसहित एवं मूर्त सामान्य है। शंकराचार्य ब्रह्म और ईश्वर में भेद करते हैं। वे ब्रह्म को ही एकमात्र सत् मानते हैं तथा ईश्वर को ब्रह्म का अभास मात्र मानते हैं। यद्यपि शंकराचार्य रामानुज दोनों ब्रह्म को सच्चिदानन्द कहते हैं, किन्तु शंकराचार्य के अनुसार सत्,

चित् और आनन्द ब्रह्म का गुण न होकर स्वरूप है अर्थात् ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है। जबकि रामानुज सत्, चित एवं आनन्द को ब्रह्म का गुण मानते हैं। शंकराचार्य के अनुसार माया ब्रह्म की उपाधि मात्र होने के कारण नित्य स्वरूप नहीं है। किन्तु रामानुज माया को ब्रह्म का नित्य अंश मानते हैं। शंकराचार्य पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म की ही एकमात्र सत्ता को स्वीकार करते हैं। वह जगत् को मिथ्या तथा ईश्वर और जीव को ब्रह्म का आभास मात्र कहते हैं और जीवों को परमार्थतः ब्रह्म से अभिन्न मानते हैं। जहाँ तक रामानुज का सवाल है वह ब्रह्म के साथ जीव और जगत् को भी नित्य मानते हैं।

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म सत् की अवधारणा

1.12 निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि शंकर के अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म वह शुद्ध सत्ता है, जो समस्त सृष्टि का मूल कारण है। वह नाना रूपों में अभिव्यक्त होने पर भी स्वयं निर्गुण एवं निराकार है। भिन्न भिन्न अवयवों में होने पर भी निरवयव है तथा शान्त विषयों में भासमान होने पर भी वस्तुतः अनन्त है। शंकराचार्य इस आनन्द निर्विशेष सत्ता को ही सम्पूर्ण सृष्टि का मूलतत्त्व या उपादान कहते हैं और इसी सत्ता को ब्रह्म भी कहते हैं। इस प्रकार शंकराचार्य अपने ब्रह्म सम्बन्धी विचार में यह स्पष्ट रूप से वर्णन करते हैं कि संसार के सभी परिच्छिन्न और परिवर्तनशील विषयों का मूल अधिष्ठान (और उपादान) शुद्ध निर्विशेष सत्ता है। सांसारिक विषयों के परस्पर बाधित होने के कारण इन्हें पूर्णतः सत्य नहीं माना जा सकता। केवल ब्रह्म ही वह शुद्ध सत्ता है जो अनुभूत एवं संभाव्य विरोध से रहित होने के कारण एकमात्र निरपेक्ष सत् है। शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म शुद्ध अपरिच्छिन्न या अनन्त स्वरूप है। यद्यपि सृष्टि के प्रत्येक विषय में ब्रह्म अभिव्यक्त होता है और यह प्रपंचात्मक जगत् अनेक नाम-रूपात्मक रूप में अभ्यासित है, तथापि इसका एकमात्र आधारतत्त्व ब्रह्म ही है।

प्रश्नावली

लघु उत्तरीय प्रश्न—

1. ब्रह्म का तटस्थ एवं स्वरूप लक्षण क्या है?
2. शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म विचार पर चर्चा करें।
3. ब्रह्म के दोनों रूपों की व्याख्या करें।
4. शंकराचार्य के अनुसार जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध स्पष्ट करें।
5. शंकराचार्य और रामानुज के ब्रह्म विचार के भेद को स्पष्ट करें।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न—

1. अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म की अवधारणा पर एक निबन्ध लिखिए।
2. अद्वैत वेदान्त में ईश्वर की व्याख्या करें।

इकाई-2

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में जगत का मिथ्यात्व

संरचना

- 2.0 उद्देश्य
- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में मिथ्यात्व का अर्थ और जगत मिथ्यात्व का निहितार्थ
- 2.3 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में जगन्मिथ्यात्व का अर्थ
- 2.4 शंकराचार्य सामान्यतोदृष्ट के अनुमान के आधार पर भी जगत मिथ्यात्व का प्रतिपादन करते हैं।
- 2.5 शंकराचार्य के द्वारा अध्यास के आधार पर जगत के पारमार्थिक सत्ता का निषेध और जगत के मिथ्यात्व का प्रतिपादन
 - 2.5.1 अध्यास का प्रथम लक्षण
 - 2.5.2 अध्यास का द्वितीय लक्षण
 - 2.5.3 अध्यास का तृतीय लक्षण
- 2.6 अद्वैत वेदान्त के जगत् विषयक सिद्धान्त की विवर्तवादी व्याख्या
- 2.7 शंकराचार्य ने ब्रह्म विवर्तवाद की स्थापना के लिए ब्रह्म परिणामवाद का खण्डन किया है
- 2.8 जगत
- 2.9 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में अभासिक सत्ता में भी दो रूप माने गये हैं— प्रतिभास और व्यवहार
- 2.10 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में सत्ता के तीन रूप माने गये हैं— पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रतिभासिक
- 2.11 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त के जगत्-विचार का अन्य भारतीय दर्शन के जगत्-विचार से तुलनात्मक निरूपण
- 2.12 निष्कर्ष

2.0 उद्देश्य

शंकराचार्य ने 'ब्रह्मसत्यं जगत् मिथ्या, जीवो ब्रह्मेव नापरः' कहकर अपने सम्पूर्ण अद्वैतवादी चिन्तन को अभिव्यक्त कर देते हैं। उनकी यह स्पष्ट मान्यता है कि ब्रह्म ही सत्य है, जगत मिथ्या है तथा जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है। प्रस्तुत

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में तर्क की भूमिका

इकाई में शंकराचार्य के इस दृष्टि को स्पष्ट रूप से निरूपित करने का प्रयास किया जा रहा है कि पारमार्थिक दृष्टि से एकमात्र ब्रह्म ही सत् है, क्योंकि सत् वही है हो सकता है जिसका त्रिकाल में बाध न हो सके। जहाँ तक ब्रह्म का सवाल है तो उनके अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र ऐसी सत्ता है जो त्रिकालबाधित होने के कारण सत् है। ब्रह्म के अतिरिक्त ईश्वर, जीव और जगत् केवल निर्गुण एवं निराकार ब्रह्म का आभास मात्र है। यद्यपि इन सब की प्रतीति तो होती है, किन्तु यथार्थता की कसौटी के आधार पर आनुभविक जगत् का मिथ्यात्व प्रकट होता है। शंकराचार्य व्यावहारिक दृष्टि से जगत् की सत्यता को मानते हैं, किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म ही एकमात्र निरपेक्ष सत् है जिससे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की अभिव्यक्ति होती है।

2.1 प्रस्तावना

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को ही एकमात्र पारमार्थिक दृष्टि से सत् मानकर जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करते हैं। शंकराचार्य अपने अद्वैत वेदान्त में इस प्रश्न पर विचार करते हैं कि यदि ब्रह्म सत्य है और अद्वय है तो वह नाना रूपात्मक मिथ्या जगत् की रचना कैसे करता है? कारणता सिद्धांत के अनुसार सत् से सत् की ही उत्पत्ति होती है। ऐसी स्थिति में सत् ब्रह्म से मिथ्या जगत् की उत्पत्ति को मानना लोक व्यवहार के विरुद्ध जान पड़ता है। इतना ही नहीं ब्रह्म अपरिवर्तनशील सत्ता है और जगत् परिवर्तन शील सत्ता है ऐसी स्थिति में यह भी समस्या उत्पन्न होती है कि अपरिवर्तनशील सत्ता का रूपान्तरण परिवर्तनशील जगत् में कैसे होता है? शंकराचार्य उपर्युक्त समस्या के समाधान के लिए मायावाद और विवर्तवाद का सहारा लेते हैं। उनका यह स्पष्ट अभिमत है कि सृष्टि कर्तृत्व ईश्वर का गुण है और वे अपनी माया शक्ति की सहायता से जगत् की रचना करते हैं। शंकराचार्य के अनुसार 'माया' ईश्वर की शक्ति है। उनका यह मानना है कि जिस प्रकार अग्नि की दाहकता अग्नि से अभिन्न है उसी प्रकार माया भी ईश्वर से अभिन्न है। उनका यह कहना है कि इसी माया के द्वारा मायावी ईश्वर वैचित्र्यपूर्ण सृष्टि की अद्भुत लीला दिखाते हैं। इसी लीला को अज्ञानी सत्य समझ लेते हैं, किन्तु जो तत्वज्ञानी हैं अर्थात् जिनके अन्दर ब्रह्मज्ञान का उदय हो गया है, वे जगत् को मिथ्या या असत् या भ्रान्तिमात्र मानते हैं, क्योंकि उनके अनुसार जगत् अधिष्ठान रूपी ब्रह्म के सत् से असत् की प्रतीति मात्र है, जगत् की यथार्थ सत्ता नहीं है क्योंकि यदि यथार्थ सत्ता केवल ब्रह्म की है जिस पर आश्रित होकर यह जगत् नाना रूपात्मक प्रपंच के रूप में भासित होता है। यही कारण है कि ब्रह्मज्ञानी मायावी ईश्वर की सृष्टि की अद्भुत लीला को समझ जाते हैं और इस मायामय संसार में केवल ब्रह्म मात्र उन्हें सत्य ज्ञान पड़ता है, ब्रह्म से इतर अन्य सभी वस्तुएँ स्वप्न या भ्रम की भाँति मिथ्या जान पड़ती हैं। अतएव जगत् की व्यावहारिक रूप में सत्य तो है, किन्तु यह तभी तक सत्य है जब तक पारमार्थिक सत् के रूप में ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो जाता है, क्योंकि ब्रह्मज्ञान से मिथ्या रूपी जगत् का तिरोभाव हो जाता है।

2.2 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में मिथ्यात्व का अर्थ और जगत् मिथ्यात्व का निहितार्थ

अद्वैत वेदान्त में मिथ्यात्व शब्द की अनेक अर्थों में व्यंजना हुई है। अद्वैत वेदान्त की एक परिभाषा के अनुसार जो सत् और असत् दोनों से विलक्षण है वह

मिथ्या है। तार्किक दृष्टि से सदसद्विलक्षण वस्तु अनिवर्चनीय है। अद्वैत वेदान्त में सत् और असत् शब्द आत्यन्तिक अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। सत् का लक्षण करते हुए यह कहा गया है कि 'त्रिकालाबाध्यत्वं लक्षण सत्' अर्थात् केवल वही पदार्थ सत् है, जो भूत, वर्तमान और भविष्यत् इन तीनों कालों में बाधित न हो, जिसका तीनों कालों में निषेध संभव न हो। शंकर वेदान्त में इस अर्थ में ब्रह्म या आत्मा ही एकमात्र त्रिकाल अबाधित एवं पारमार्थिक दृष्टि से सत् है। इसी प्रकार असत् वह है, जिसकी तीनों कालों में सत्ता न हो और जिसमें सत् के रूप में कभी भी प्रतीति होने की सामर्थ्य न हो। इस दृष्टि से बन्ध्यापुत्र, शशश्रृंग और आकाश कुसुम असत् है क्योंकि ये तीनों कालों में अनस्तित्ववान हैं। अद्वैत वेदान्त की मान्यता है कि हमारे लोक व्यवहार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जिसे सत् या असत् कोटि में रखा जाएँ, जैसे रज्जु सर्प का अनुभव सदसद्विलक्षण एवं अनिवर्चनीय होने के कारण मिथ्या है। रज्जु-सर्प ज्ञान सत् नहीं है, क्योंकि कालान्तर में यह 'रज्जुज्ञान' से बाधित होता है। यह असत् भी नहीं है क्योंकि प्रतीति काल में इसके अनुरूप लोक व्यवहार होता है। इसे सत्-असत् दोनों मानने में आत्मविरोध है। अतएव इसे सदसद्विलक्षण या मिथ्या कहना ही युक्तिसंगत माना जाता है।

शंकराचार्य के अनुसार एक अन्य परिभाषा के द्वारा मिथ्यात्व वह है, जो अन्य ज्ञान से बाधित हो जाता है यहाँ शंकराचार्य के कहने का आशय यह है कि वह वस्तु-विषयक ज्ञान, जो परवर्ती ज्ञान से बाधित हो जाता है, वह मिथ्या है, जैसे रज्जु सर्प का ज्ञान, रज्जु ज्ञान से बाधित होने से मिथ्या है। इसी प्रकार स्वप्न ज्ञान जाग्रत ज्ञान से निवर्त्य होने के कारण मिथ्या है।

मिथ्यात्व की एक अन्य परिभाषा के अनुसार जो सत् से भिन्न है, वह मिथ्या है, जैसे रज्जु सर्प का ज्ञान सत् से भिन्न है, क्योंकि वह त्रिकालाबाधित नहीं है, अतः यह सर्प है, ऐसा अनुभव मिथ्या है।

इस प्रकार शंकराचार्य का यह स्पष्ट अभिमत है कि जो सद्विलक्षण है या परवर्ती ज्ञान से भिन्न है या सत् से भिन्न है, वह मिथ्या है। वास्तविकता यह है कि अधिष्ठान का ज्ञान होने के बाद ऐसे अनुभव अधिष्ठान के ज्ञान से बाधित या निवृत्त हो जाते हैं और अधिष्ठान ज्ञान में विलीन हो जाते हैं।

2.3 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में जगन्मिथ्यात्व का अर्थ

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त के अनुसार जगत् की स्वतंत्र एवं निरपेक्ष सत्ता नहीं है। जगत् अपनी सत्ता के लिए पूर्णतया ब्रह्म पर आश्रित है। मायोपहित ब्रह्म या ईश्वर ही इस जगत् का मूल अधिष्ठान है। इसलिए ब्रह्म जगत् का 'अभिनिमित्तोपादान' कारण है। माया ब्रह्म की वह शक्ति है, जिसके कारण ही निर्गुण एवं अद्वय ब्रह्म प्रपंचात्मक जगत् के रूप में आभासित होता है। शंकराचार्य के अनुसार जगत् माया रूप होने के कारण यथार्थ नहीं है। शंकराचार्य 'अनन्यत्व के दार्शनिक सिद्धांत' का प्रतिपादन करते हुए यह स्पष्ट रूप से घोषणा करते हैं कि जगत् ब्रह्म से अनन्य है। अतएव दोनों के मध्य सम्बन्ध की बात करना तात्त्विक दृष्टि से युक्तिसंगत नहीं है। तात्त्विक दृष्टि से ब्रह्म एवं जगत् अद्वय हैं, जिसमें ब्रह्म सत् है और जगत् ब्रह्म की प्रतीति मात्र है। इसलिए कारण-कार्य सम्बन्ध का प्रयोग ब्रह्म और जगत् के विषय में उपयुक्त नहीं है, क्योंकि जगत् ब्रह्म से अनन्य है। वस्तुतः ब्रह्म एवं जगत् के बीच तात्त्विक दृष्टि से भेद स्वीकार करने पर ही उनमें कारण-कार्य सम्बन्ध का प्रश्न सार्थक होता है। ब्रह्म को जगत् का कारण लाक्षणिक अर्थ में ही माना जा सकता है क्योंकि ब्रह्म जगत् का

अधिष्ठान है और जगत ब्रह्म का आभासमात्र है। माया अपनी आवरण शक्ति से ब्रह्म पर आवरण डालकर उसके यथार्थ स्वरूप को छिपा देती है और विक्षेप शक्ति से ब्रह्म के स्थान पर नानारूपात्मक प्रपंचात्मक जगत् को उत्थापित करती है। जीव माया या अविद्या से प्रभावित होकर इसी प्रपंचात्मक जगत् को सत्य मानने लगता है।

2.4 शंकराचार्य सामान्यतोदृष्ट के अनुमान के आधार पर भी जगत् मिथ्यात्व का प्रतिपादन करते हैं

शंकराचार्य सामान्यतोदृष्ट के अनुमान के आधार पर भी जगत् मिथ्यात्व का प्रतिपादन करते हैं। उन्होंने स्वप्न एवं भ्रम से जगत् की तुलना करते हुए इसके मिथ्यात्व को सिद्ध करते हैं। उनकी दृष्टि में ब्रह्म ही एकमात्र सत् है और ब्रह्म से भिन्न होने के कारण शुक्तिरजत के समान ब्रह्म-जगत् के बीच में सादृश्य है। इस प्रकार शुक्ति अधिष्ठान है और अधिष्ठान में भ्रम के कारण रजत की मिथ्या प्रतीति होती है, उसी प्रकार सत्- ब्रह्म पर जगत अध्यसित होने के कारण उसकी मिथ्या प्रतीति होती है। जिस प्रकार शुक्ति के ज्ञान से रजत के ज्ञान का बाध हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म ज्ञान से जगत का निरसन हो जाता है। अतएव जगत की सत्ता पारमार्थिक दृष्टि से सत् नहीं माना जाता है, वह मिथ्या है।

2.5 शंकराचार्य के द्वारा अध्यास के आधार पर जगत के पारमार्थिक सत्ता का निषेध और जगत के मिथ्यात्व का प्रतिपादन,

शंकराचार्य जगत् को मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिए अध्यास के आधार पर जगत का निषेध करते हैं। शंकराचार्य के अनुसार अध्यास के तीन लक्षण हैं, जिनमें कोई तात्त्विक भेद नहीं है। शंकराचार्य के द्वारा अध्यास के दिये गये लक्षण निम्नलिखित हैं –

2.5.1 अध्यास का प्रथम लक्षण

शंकराचार्य 'अध्यास' का प्रथम लक्षण देते हुए यह कहते हैं कि –'अध्यासो नाम स्मृति रूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः' शंकराचार्य के अनुसार अध्यास पूर्व काल में देखी हुई वस्तु का स्मृति रूप में अधिकरण में अवभास है, जो उत्तरसन से बाधित हो जाता है। इस लक्षण के अनुसार अध्यास के तीन घटक हैं –

- (1) वह वस्तु जो यहाँ इस समय प्रत्यक्ष उपस्थित है और सत् है, यह वस्तु भ्रम का अधिष्ठान या अधिकरण है, जिस पर किसी अन्य वस्तु का आरोप या अध्यास किया जाता है जैसे –रज्जु तथा शुक्ति।
- (2) वह वस्तु जिसका पूर्वकाल में प्रत्यक्ष हुआ था और जो अपने स्वरूप में भले ही सत हो, किन्तु यहाँ इस समय उपस्थित न होने से असत् है, यह वस्तु अध्यस्त है अर्थात् इसका अध्यास अधिष्ठान पर किया जाता है, जैसे सर्प या रजत। यह स्मृति नहीं है, किन्तु इसका रूप स्मृति के समान इसके संस्कारों में उद्बुद्ध हो जाता है, जिसे अन्तःकरण गलती से उपस्थित अधिष्ठान पर (जिसका प्रत्यक्ष हो रहा है), आरोपित कर देता है (स्मृति रूप में)।

- (3) आरोप या तादात्म्य की क्रिया अर्थात् अध्यस्त वस्तु (सर्प या रजत) का उपस्थित अधिष्ठान (रज्जु या शुक्ति) का आरोप किया जाना।

इस प्रकार शंकराचार्य का यह मानना है कि जब उपर्युक्त तीनों घटक होंगे, तभी अध्यास या भ्रम होगा।

2.5.2 अध्यास का द्वितीय लक्षण

शंकराचार्य ने अध्यास का दूसरा लक्षण इस प्रकार दिया है— 'अन्यस्य अन्यधर्मावभासः अध्यासः' अर्थात् अध्यास किसी अन्य वस्तु (अधिष्ठान) का किसी अन्य वस्तु (अध्यस्त) के धर्म के रूप में अवभासित होता है। प्रत्येक वस्तु में द्रव्यांश (इदमंश) और धर्मांश दोनों होते हैं। एक वस्तु के द्रव्य पर किसी अन्य वस्तु के धर्म को आरोपित करना अध्यास है, जैसे रज्जु या शुक्ति के द्रव्यांश (इदम्) पर सर्पत्व या रजत्व धर्म का आरोप।

2.5.3 अध्यास का तृतीय लक्षण

शंकराचार्य अध्यास के तीसरे लक्षण को बताते हुए यह कहते हैं— 'अध्यासः अतस्मिन् तद् बुद्धिः' अर्थात् अध्यास असत् में तद्बुद्धि है। कहने का तात्पर्य यह है कि अध्यास किसी वस्तु का (रज्जु या शुक्ति जो वस्तुतः शुक्ति या रजत् नहीं है) किसी अन्य वस्तु (सर्प या रजत) के रूप में ज्ञान है।

इस प्रकार शंकराचार्य यह दिखाते हैं कि अध्यास मिथ्या ज्ञान या अन्यथा ज्ञान है यह असत् का सत् पर आरोप है। यह सत्य और अनृत का मिथुनीकरण है। अध्यास में असत् 'सत्' के रूप में प्रतीत होता है और बाद में अधिष्ठान के ज्ञान से बाधित हो जाता है। अध्यास में असत् अध्यस्त का सत् अधिष्ठान से तादात्म्य है। अध्यस्त पदार्थ स्वरूप से ही मिथ्या है। यह सत् अधिष्ठान पर आरोपित होकर सत् के रूप में प्रतीत होता है, किन्तु वस्तुतः यह प्रतीति के समय भी असत् है, क्योंकि अधिष्ठान के ज्ञान से यह बाधित हो जाता है। अधिष्ठान सत् है असत् अध्यस्त से उसका सम्बन्ध मिथ्या है, अतः संसर्ग से वह मिथ्या है। वास्तविकता यह है कि असत् और सत् दो भिन्न स्तरों के पदार्थ हैं अतः उनमें कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं हो सकता। तादात्म्य वस्तुतः सम्बन्ध नहीं है, अपितु भेद अभेद और भेदाभेद रूपी सम्बन्ध का अभाव है। तादात्म्य का केवल यही अर्थ है कि असत् की प्रतीति भी सत् पर आरोपित होकर ही हो सकती है। इस प्रकार शंकराचार्य अध्यास के निरूपण के द्वारा यह घोषित करते हैं कि एक मात्र पारमार्थिक सत्ता ब्रह्म की है, किन्तु माया के कारण हमें ब्रह्म के स्थान पर जगत् का मिथ्या ज्ञान होता है। शंकराचार्य का कहने का तात्पर्य यह है कि जगत् स्वरूप से ही ब्रह्म में अध्यस्त है, जीव को अविद्या के कारण ब्रह्म के स्थान पर जगत् की प्रतीति होती है, किन्तु इससे ब्रह्म के पारमार्थिक स्वरूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

2.6 अद्वैत वेदान्त के जगत् विषयक सिद्धान्त की विवर्तवादी व्याख्या

अद्वैत वेदान्ती शंकराचार्य विवर्तवाद के आधार पर जगत् की व्याख्या करते हैं। शंकराचार्य के जगत् मिथ्यात्व की इस विवर्तवादी व्याख्या को 'ब्रह्मविवर्तवाद' कहते हैं। विवर्त शब्द का शाब्दिक अर्थ है —विपर्यास या उलट जाना। ब्रह्म—विवर्तवाद का अर्थ है कि 'जगत् ब्रह्म का विपर्यास है। अर्थात् यह

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में तर्क की भूमिका

देश-काल बुद्ध जगत् निरपेक्ष ब्रह्म का ही विवर्त या आभासमात्र (Appearance Only) है। शंकराचार्य कारणता के विषय में न्याय-वैशेषिक के असत्कार्यवाद के विपरीत सत्कार्यवाद का समर्थन करते हैं। परन्तु वे सत्कार्यवाद की परिणामवादी व्याख्या का खण्डन करते हैं। उसकी विवर्तवादी व्याख्या करते हैं। परिणामवाद एवं विवर्तवाद में तत्त्वतः भेद यह है कि परिणामवाद तात्त्विक परिवर्तन अथवा किसी वस्तु के तत्त्वतः रूपान्तरण को कहते हैं। किसी भी वस्तु के अतात्त्विक परिवर्तन या अतत्त्वतः अन्यथा प्रथा को विवर्त कहते हैं। अर्थात् कारण या यथार्थ रूप में कार्य में रूपान्तरण परिणाम है और यथार्थ रूप में रूपान्तरित हुए बिना कारण का कार्य के रूप में आभास होना विवर्त है। शंकराचार्य का कथन है कि असत्कार्यवाद के विरुद्ध सत्कार्यवादी युक्तियाँ ठीक हैं, क्योंकि असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती, किन्तु सत्कार्यवाद (परिणामवाद) द्वारा उत्पत्ति या अभिव्यक्ति को वास्तविक मानना भी अनुचित है। शंकराचार्य के अनुसार यदि किसी भी वस्तु की उत्पत्ति उसका वास्तविक रूपान्तरण है और कार्य कारण का यथार्थ आकार परिवर्तन है, तो कार्य के आकार को उत्पत्ति के पूर्व असत् मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में सत्कार्यवाद में असत्कार्यवाद का प्रवेश होगा।

इस प्रकार शंकराचार्य का यह मानना है कि परिणामवाद कारण-कार्य सम्बन्ध की समस्या का सन्तोषजनक समाधान नहीं कर पाता। अद्वैत वेदान्त इस कारण स्वीकार करता है कि उत्पत्ति वास्तविक नहीं होती, केवल उत्पत्ति का आभास होता है। शंकराचार्य का यह स्पष्ट अभिमत है कि सत् अपरिवर्तनशील और असत् अनुत्पाद्य है। अतः जो कुछ कारण-कार्यभाव दिखायी पड़ता है, अभासमात्र है, अविद्याजन्य है। शंकराचार्य ने विवर्तवाद के आधार पर यह प्रतिपादित किया है कि जगत् पूर्णतया ब्रह्म पर आश्रित है। उसके द्वारा दिये गये दृष्टान्त रज्जु, शुक्ति, रजत, मृगमरीचिका आदि कारण (ब्रह्म) पर कार्य जगत् की पूर्णनिर्भरता दिखाते हैं और ब्रह्म को अपरिवर्तनशील सत् सिद्ध करते हैं। इस प्रकार परिणामवाद में कारण और कार्य दोनों ही सत् होते हैं, जबकि विवर्तवाद में कारण ही सत् होता है और कार्य व्यवहारतः अभासरूप तथा तत्त्वतः सत् नहीं होता है।

2.7 शंकराचार्य ने ब्रह्म विवर्तवाद की स्थापना के लिए ब्रह्म परिणामवाद का खण्डन किया है

शंकराचार्य द्वारा ब्रह्मविवर्तवाद की स्थापना के लिए ब्रह्म परिणामवाद का खण्डन किया है। उनका कहना है कि ब्रह्म परिणामवाद में जगत् को ब्रह्म का वास्तविक आकार परिवर्तन माना जाता है। शंकराचार्य ब्रह्म परिणामवाद को अस्वीकार करते हैं और ब्रह्म परिणामवाद के विषय में यह प्रश्न उठाते हैं कि क्या जगत् सम्पूर्ण ब्रह्म का यथार्थ रूपान्तरण है या उसके किसी अंश विशेष का रूपान्तरण है? यदि सम्पूर्ण ब्रह्म में यथार्थ परिवर्तन को स्वीकार करें तो उसकी अतीन्द्रिय एवं निरपेक्ष सत्ता बाधित होती है, और यदि उसके किसी अंश विशेष में परिवर्तन स्वीकार करें तो उसकी अखण्डता को क्षति पहुँचती है। ऐसी स्थिति में ब्रह्म को सावयव होकर अनित्य होना पड़ेगा। इस प्रकार जगत् की व्याख्या के लिए ब्रह्म परिणामवाद को युक्तिसंगत नहीं माना जा सकता। उनका यह स्पष्ट अभिमत है कि केवल विवर्तवाद द्वारा ही जगत् की युक्तिसंगत व्याख्या संभव है। शंकराचार्य के परवर्ती अद्वैत वेदान्ती दार्शनिक सर्वज्ञात्ममुनि ने संक्षेपशरीरक में विवर्तवाद को परिणामवाद का ही तार्किक विकास माना है। वास्तविकता यह है कि शंकराचार्य ने अपने पूर्ववर्ती अद्वैत वेदान्ती गौडपादाचार्य के अजातिवाद सिद्धांत को

ही तर्कतः विकसित करके उसे विवर्तवाद से परिणत कर दिया और इस तथ्य को स्थापित किया कि जगत् न उत्पन्न होता है और न विकसित होता है, अपितु केवल प्रतीत होता है। जिस प्रकार रस्सी सर्प के रूप में प्रतीत होती है, उसी प्रकार ब्रह्म जगत् के रूप में प्रतीत होता है।

2.8 जगत्

शंकराचार्य के द्वारा सत् एवं असत् की कसौटी पर परीक्षण के पश्चात् जगत् को मिथ्या सिद्ध किया गया है। अद्वैत वेदान्ती शंकराचार्य की दृष्टि में जो कुछ ज्ञान का विषय है, वह अनित्य होने के कारण नाशवान् है और उसे सत् नहीं कहा जा सकता है। पुनः सत् उसे कहा जा सकता है जो सभी प्रकार के विरोधों से रहित हो। शंकराचार्य ने सत् को त्रिकालबाधित माना है, अर्थात् सत् तीनों कालों में (भूत, वर्तमान एवं भविष्य) में अबाधित सत्ता होती है। सत् वह है जो अतीत में था और वर्तमान में भी है और भविष्य में भी रहेगा। असत् वह है जिसका तीनों कालों में अभाव है अर्थात् जो न तो कभी था, न है और न कभी होगा, जैसे बन्ध्यापुत्र, शशश्रृंग, आकाशकुसुम आदि। शंकराचार्य ने सत् और असत् के इस कसौटी के आधार पर यह सिद्ध किया है कि जगत् मिथ्या है। जगत् सत् नहीं है, क्योंकि वह ज्ञान का विषय होने के कारण अन्य लौकिक वस्तुओं की भाँति अनित्य होने के कारण नाशवान् है। यह जगत् अन्तर्विरोधों से परिपूर्ण होने के कारण भी सत् नहीं है। जगत् की सर्वकालिक सत्ता न होने के कारण भी उसे सत् नहीं माना जा सकता है। अतएव जगत् की सत्ता प्रतीति पर्यन्त ही रहती है, कालान्तर में यह ब्रह्म ज्ञान से बाधित हो जाती है। अतएव इस कारण से भी जगत् को मिथ्या कहा जाता है। पुनः जगत् शशश्रृंग, आकाश कुसुम बन्ध्यापुत्र के समान असत् भी नहीं है, क्योंकि जगत् को लोक व्यवहार में अनुभव होता है। इसलिए प्रपंचात्मक जगत् सदसद्विलक्षण होने के कारण भी मिथ्या है।

2.9 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में अभासिक सत्ता में भी दो रूप माने गये हैं— प्रतिभास और व्यवहार

शंकराचार्य के अनुसार प्रतिभास व्यक्तिगत स्तर का भ्रम है। इसके अन्तर्गत स्वप्न, रज्जु-सर्प, शुक्ति-रजत इत्यादि भ्रम की स्थितियों की गणना की जा सकती है, जिसका अनुभव व्यक्ति विशेष को होता है; जैसे स्वप्न जाग्रत अवस्था में बाधित हो जाता है और अधिष्ठान के ज्ञान से अन्य भ्रम बाधित हो जाते हैं, वैसे ही प्रतीति पर्यन्त ही प्रतिभास सत् होता है और बाद में वह बाधित हो जाता है। पुनः शंकराचार्य का यह मानना है कि सम्पूर्ण लोक व्यवहार भी सत्य और असत्य का मिश्रित रूप होने के कारण असाधारण प्रकार का है। यह समष्टिगत भ्रम है, जिसका अनुभव सबको होता है। इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण प्रपंचात्मक जगत् एवं लोक व्यवहार आता है। शंकराचार्य के अनुसार प्रतिभास व्यवहार से बाधित होता है और व्यवहार पारमार्थिक ज्ञान से बाधित होता है। अतएव शंकराचार्य यह प्रतिपादित करते हैं कि यह प्रपंचात्मक जगत् व्यावहारिक रूप में तब तक सत्य है, जब तक ब्रह्मानुभूति नहीं होती है। जब ब्रह्मज्ञान हो जाता है, तब जगत् पारमार्थिक दृष्टि सत्य नहीं रह जाता है और इस प्रकार जगन्मिथ्या लगने लगता है।

2.10 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में सत्ता के तीन रूप माने गये हैं— पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक

शंकराचार्य पारमार्थिक रूप में ब्रह्म के सत् होने का प्रतिपादन करते हैं, क्योंकि उनकी यह स्पष्ट मान्यता है कि सत् वही हो सकता है जो अपरिवर्तनशील हो और जिसकी सत्ता त्रिकालाबाधित हो। इस दृष्टि से ब्रह्म ही एक मात्र ऐसी सत्ता है जो सभी प्रतीतियों में विद्यमान होते हुए भी अपरिवर्तनशील और त्रिकालाबाधित है। अतएव शंकराचार्य ने पारमार्थिक रूप में ब्रह्म को ही एक मात्र पारमार्थिक रूप में सत् माना है। शंकराचार्य ने उन वस्तुओं की सत्ता को प्रातिभासिक माना है जो कुछ समय के लिए सत् के रूप में दिखायी पड़ती है, किन्तु वह जैसी दिखायी पड़ती है, उसका निरास या बाध अन्य ज्ञान से हो जाता है, स्वप्न पदार्थ और भ्रम की वस्तुएं जैसे रज्जु-सर्प, शुक्ति रजत् आदि इसी कोटि में आते हैं। स्वप्न-पदार्थ, जाग्रतावस्था से बाधित हो जाते हैं और भ्रम की वस्तुओं का निरास भी अधिष्ठान के वस्तु के ज्ञान से हो जाता है। शंकराचार्य के अनुसार उन वस्तुओं की सत्ता व्यावहारिक है जो स्वाभाविक जाग्रतावस्था में दिखाई पड़ते हैं और लोक में सभी के अनुभव के विषय बनते हैं। परन्तु भविष्य में तर्कतः उनके भी बाधित होने की संभावना रहती है, जिसके कारण उन्हें भी पूर्णतया सत् नहीं कहा जा सकता। शंकराचार्य ने सम्पूर्ण लोक व्यवहार को इसी कोटि में रखा है और यह माना है कि सम्पूर्ण प्रपंचात्मक जगत् लोकव्यवहार के अन्तर्गत आने के कारण ब्रह्म ज्ञान से बाधित हो जाता है। अतएव शंकराचार्य यह दिखाते हैं कि प्रपंचात्मक रूप में व्यावहारिक जगत् की सत्ता प्रातिभासिक जगत् से अधिक यथार्थ है, किन्तु पारमार्थिक सत्ता (ब्रह्म) की अपेक्षा कम यथार्थ है। इस प्रकार शंकराचार्य पारमार्थिक रूप में जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करते हैं, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से जगत् को सत् मानते हैं।

अद्वैत वेदान्त के भाष्यकार स्वामी विद्यारण्य ने 'पंचदशी' में यह प्रतिपादित किया है कि जगत्-व्यावहारिक दृष्टि से भले ही सत् हो, किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से असत् और तुच्छ है। वास्तविकता यह है कि जगत् तार्किक दृष्टि से अनिर्वचनीय है, क्योंकि यह सत् और असत् दोनों से विलक्षण है।

2.11 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त के जगत्-विचार का अन्य भारतीय दर्शन के जगत्-विचार से तुलनात्मक निरूपण

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त के जगत् मिथ्यात्व की स्थापना के विपरीत अनेक भारतीय दर्शनों में जगत् की सत्यता को स्वीकार किया गया है। सर्वास्तित्वादी बौद्ध मत, अनेकान्तवादी जैनमत, द्वैतवादी सांख्य-योग मत, परमाणुवादी न्याय-वैशेषिक मत और कर्मकाण्ड मूलक मीमांसा में जगत् की नित्य सत्ता को मान्यता प्रदान की गयी है। शंकराचार्य जगत् की नित्यता को अस्वीकार करते हैं, क्योंकि उनका यह मानना है कि यदि जगत् की नित्य सत्ता को मान लिया जाए तो ब्रह्म ज्ञान से वह निरासित नहीं होगा। पुनः यदि यह मान लिया जाए कि जगत् नित्य है, तो मोक्ष असंभव हो जाएगा और मानव जीवन का मुख्या प्रयोग ही असफल हो जाएगा। जहाँ तक बौद्ध विज्ञानवाद और शून्यवाद के जगत् विषयक दृष्टिकोण की बात है तो ये दोनों ही जगत् की सत्ता का निषेध करते हैं। विज्ञानवाद विज्ञप्तिमात्रता को ही एकमात्र निरपेक्ष सत् मानकर बाह्य जगत् को असत् सिद्ध किया गया है। शून्यवाद भी अजातिवादी दृष्टि का ही प्रतिपादन करते

हुए पारमार्थिक दृष्टि से जगत् की असत्यता का प्रतिपादन करता है, क्योंकि शून्यवाद पारमार्थिक दृष्टि से तत्त्वतः शून्य को सत् मानता है और इसे बुद्धि की चार कोटियों से विनिर्मुक्त मानता है। शून्यवाद यह मानता है कि जो बुद्धि की कोटियों के अन्तर्गत आता है वह लोक व्यवहार का विषय है, इसलिए इसे पारमार्थिक दृष्टि से सही नहीं कहा जा सकता है। शंकराचार्य बौद्ध दर्शन के विज्ञानवाद और शून्यवाद दोनों ही विचारधाराओं के दृष्टिकोणों का खण्डन करते हैं। उनका कहना है कि विज्ञानवाद और शून्यवाद दोनों ही विचारधारयें लौकिक अनुभव के साथ न्याय नहीं करती। वे कहते हैं कि 'नाभावोऽपलब्धेः' अर्थात् जो असत् है अभाव रूप है, वह कभी भी अनुभव में नहीं आ सकता। हम घट-पट आदि जिन वस्तुओं का अनुभव करते हैं, उनके अभाव को कैसे अस्वीकार कर सकते हैं? इसीलिए शंकराचार्य यह कहते हैं कि तात्विक दृष्टि से जगत् ही असत् है किन्तु उसके व्यावहारिक सत्यता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

शंकराचार्य अपने अद्वैतवाद की स्थापना के लिए पारमार्थिक रूप से एकमात्र ब्रह्म के सत्यता का प्रतिपादन करते हैं और जगत् को मिथ्या सिद्ध करते हैं। परन्तु आलोचकों ने शंकराचार्य के जगत् मिथ्यात्व विचार के विरुद्ध गम्भीर आपत्तियाँ उठायी है। आलोचकों ने निम्नलिखित आक्षेपों के आधार पर शंकराचार्य के जगत् विषयक दृष्टिकोण को अस्वीकार किया है -

(1) अद्वैत वेदान्त से इतर वेदान्तियों का यह मानना है कि शंकर का जगत् विचार श्रुति सम्मत नहीं है। विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज ने कहा है कि मायावाद शंकर के मस्तिष्क की कल्पना है और उसे उपनिषदों के द्वारा समर्थनीय नहीं माना जा सकता है। वास्तविकता यह है कि शंकर अपने मायावाद के विचार के लिए बौद्धों के ऋणी हैं, इसलिए शंकर प्रच्छन्न बौद्ध हैं।

परन्तु शंकराचार्य पर लगाए गए उपर्युक्त आरोप निराधार हैं वास्तविकता यह है कि शंकराचार्य का मायावाद न तो उपनिषद् बाह्य है और न ही शंकराचार्य प्रच्छन्न बौद्ध हैं। प्रो० रानाडे जैसे अद्वैत वेदान्तियों ने शंकराचार्य के मायावाद का मूल उपनिषदों में सिद्ध किया है। 'माया' या 'अविद्या' सम्बन्धी स्थल श्रुतियों में भरे पड़े हैं, शंकराचार्य ने उनका तार्किक विकास करके एक सुव्यवस्थित विचारधारा का रूप प्रदान किया है।

(2) शंकराचार्य के जगत् मिथ्यात्व के सम्बन्ध में यह भी आपत्ति उठायी जाती है कि शंकराचार्य जगत् का उत्पादन नहीं करते, बल्कि उसकी समस्या को ही उड़ा देते हैं। दर्शन का कार्य जगत् को कारण बताना है। यदि वह जगत् की सत्ता को ही मानते तो वह किस आधार पर स्थित होगा? परन्तु इस तरह की आलोचना बहुत ही सतही है, क्योंकि यह सत्य है कि दर्शन का काम जगत् का कारण बताना है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि दर्शनशास्त्र शुरु से ही इस बात को स्वीकार कर ले कि सामान्यतः जो जगत् देखने में आता है, वह पूर्णतः सत्य है। शंकराचार्य ने सत्ता के तीन स्तरों के विवेचन द्वारा व्यावहारिक जगत् को प्रतिभासिक की अपेक्षा सत् तथा पारमार्थिक दृष्टि से ही असत् माना है।

(3) कुछ आलोचकों का यह कहना है कि यदि यह मान लिया जाए कि जगत् असत् है तो शंकर का जगत् विषयक दृष्टिकोण नैतिक जीवन के लिए कोई प्रेरणा नहीं देता। इसमें नैतिक जीवन के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता है। परन्तु शंकराचार्य के जगत् विषयक विचार के सम्बन्ध में यह आरोप भी निराधार है क्योंकि शंकर स्वयं पूर्व पक्ष के रूप में इस आरोप का उत्तर दिया है। शंकर के जगत् विषयक विचार से यह स्पष्ट है कि शंकर जगत् को असत् न कहकर मिथ्या

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में तर्क की भूमिका

कहते हैं और मिथ्या असत् से भिन्न है। उन्होंने जगत् को असत्—दिखाने के कारण ही बौद्ध विज्ञानवाद का खण्डन किया है और शून्यवाद को महत्वहीन घोषित किया है। शंकराचार्य व्यावहारिक रूप में प्रपंचात्मक जगत् के सत्यता की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। वे प्रतिभास तक को उसके स्तर पर सत्य मानते हैं, जिसे यथार्थवादी असत् मानता है। उनका यह स्पष्ट रूप से कहना है कि ब्रह्म ज्ञान के पूर्व जगत् उतना ही सत्य है जितना कि जाग्रत अवस्था के पूर्व स्वप्न सत्य होता है इस प्रकार शंकराचार्य ने जगत् मिथ्यात्व का प्रतिपादन करके जगत् की व्यावहारिक सत्यता को भी मान्यता प्रदान की है। वास्तविकता यह है कि नैतिक जीवन और नैतिकता व्यावहारिक जीवन से सम्बन्धित है, इसलिए उनके दर्शन में नैतिकता के लिए पर्याप्त स्थान है।

2.12 निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि शंकराचार्य ने सम्पूर्ण प्रपंचात्मक जगत् को सदद्विलक्षण होने के कारण मिथ्या माना है। उनका यह मानना है कि समस्त प्रपंचात्मक जगत् ज्ञेय, दृश्य और परिच्छिन्न होने के कारण मिथ्या है। शंकराचार्य ने सम्पूर्ण लोक व्यवहार को समष्टिगत स्तर का भ्रम माना है, जिसका बाध आत्मज्ञान से होता है। उन्होंने 'प्रतिभास' और व्यवहार में भेद कर जगत् के व्यावहारिक सत्यता और उसके सापेक्ष सत्यता का प्रतिपादन किया है। उनका यह स्पष्ट अभिमत है कि जब तक ब्रह्म ज्ञान नहीं होता है, तब तक जगत् व्यावहारिक दृष्टि से सत्य है और वे इस व्यावहारिक जगत् की सत्यता की अक्षुण्णता का बार—बार तथा साग्रह प्रतिपादन करते हैं।

प्रश्नावली

लघु उत्तरीय प्रश्न—

1. शंकराचार्य के अनुसार अध्यास का प्रथम लक्षण क्या है?
2. जगत् सिद्धांत की व्याख्या करें।
3. वेदान्त में जगन्मिथ्यात्व का अर्थ स्पष्ट करें।
4. अद्वैत वेदान्त ने सत्ता के कितने रूप माने हैं स्पष्ट करें।
5. ब्रह्म के परिणामवाद का खण्डन करें।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न—

1. अद्वैत वेदान्त के जगत् मिथ्यात्व पर एक निबन्ध लिखिए।
2. शंकराचार्य के जगत् विचार का अन्य भारतीय दर्शन के जगत् विचार से तुलना कीजिए।

इकाई—3

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में अनुभव, तर्क एवं श्रुति का स्थान

संरचना

- 3.1. उद्देश्य
- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 शंकराचार्य के अनुसार लौकिक ज्ञान और तत्त्व ज्ञान में भेद
- 3.3 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में अनुभव, तर्क एवं श्रुति का स्थान
 - 3.3.1 अनुभव
 - 3.3.2 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में 'अनुभव' का तात्पर्य
- 3.5 शंकराचार्य के अनुसार तर्क की भूमिका
- 3.6 तार्किक ज्ञान की अपूर्णता
- 3.7 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में श्रुति का स्थान
- 3.8 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में श्रुति प्रमाण के प्रमुख विशेषताएँ
- 3.9 निष्कर्ष

3.1. उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में शंकराचार्य के प्रमाणों से सम्बन्धित उस विचार का निरूपण किया गया है, जिसमें शंकराचार्य अनुभव तर्क एवं श्रुति प्रमाणों के गति के विषय में अपने मत को व्यक्त किए हैं। उनका यह मानना है कि प्रमाणों और शास्त्रों के विषय अविद्याजन्य है। प्रमाणों की गति वहीं तक होती है, जहाँ तक प्रमाता और प्रमेयों की सत्ता होती है। यद्यपि शंकराचार्य अपने अद्वैत वेदान्त में अनुभव, तर्क और श्रुति तीनों को स्थान देते हैं, किन्तु उनका यह मानना है कि केवल श्रुति द्वारा ही ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति की जा सकती है।

3.1 प्रस्तावना

शंकराचार्य ने अपने अद्वैत वेदान्त में प्रमाता-प्रमेय भेद को अविद्याजन्य माना है, क्योंकि उनका यह मानना है कि गति वहीं तक होती है जहाँ प्रमाता एवं प्रमेयों की सत्ता होती है। यद्यपि शंकराचार्य अपने अद्वैत वेदान्त में अनुभव, तर्क एवं श्रुति तीनों को देते हैं, किन्तु उनकी दृष्टि से श्रुति का विशेष महत्व है। वास्तविकता यह है कि शंकराचार्य ने 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में किया है, जो 'ज्ञान' के सामान्य अर्थ से सर्वथा भिन्न है। साधारण ज्ञान के अन्तर्गत

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में तर्क की भूमिका

सभी प्रमाणजन्य ज्ञान आ जाते हैं और यह ज्ञान ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान के भेद पर आधारित ज्ञान होने के कारण अविद्याजन्य है, किन्तु ब्रह्म ज्ञान सभी प्रकार के भेदों से रहित है। यद्यपि यह सही है कि साधारण ज्ञान हमें ब्रह्म ज्ञान की ओर अग्रसर करता है, किन्तु इसके द्वारा ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति संभव नहीं है, क्योंकि जो अविद्याजन्य होगा, वह सत् ब्रह्म की अनुभूति नहीं करा सकता है। इसीलिए शंकराचार्य ने प्रमाणों पर आधारित ज्ञान को लौकिक जगत् तक ही सीमित मानकर उसे ब्रह्म ज्ञान के लिए अपर्याप्त माना है। इसीलिए उन्होंने श्रुति प्रमाण को ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति में सहायक मानते हुए उसे विशेष स्थान दिया है। उन्होंने 'शारीरकभाष्य' में यह कहा है कि –

“प्रत्यक्षं श्रुतिः प्रामाण्यं प्रत्यनपेक्षत्वात् अनुमानं स्मृतिः प्रतिसापेक्षत्वात्” अर्थात् “नैयायिकों के लिए जो प्रत्यक्ष है, वही उनके लिए श्रुति है तथा नैयायिकों के लिए जो अनुमान का महत्व है, वही उनके स्मृति का महत्व है।” इस प्रकार शंकराचार्य को स्पष्ट अभिमत है कि यदि प्रमाणों का सदुपयोग किया जाए तो उनसे ब्रह्म साक्षात्कार की प्रेरणा अवश्य मिल सकती है। किन्तु यह केवल साधन मूल्य के रूप में महत्व रखता है, साध्य-मूल्य के रूप में इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

3.2 शंकराचार्य के अनुसार लौकिक ज्ञान और तत्त्व ज्ञान में भेद

शंकराचार्य के अनुसार साधारण लौकिक ज्ञान तात्त्विक ज्ञान न होकर एक प्रकार का कर्म ही है, क्योंकि वहाँ 'विदि-क्रिया' होती है। शंकराचार्य के अनुसार 'ज्ञान' और 'कर्म' में आत्यन्तिक विरोध होता है। ज्ञान और कर्म में प्रकाश और अन्धकार का विरोध है। वस्तुतः शंकराचार्य के अनुसार ज्ञान से तात्पर्य तात्त्विक ज्ञान या अपरोक्षानुभूति है तथा कर्म का अर्थ काम्य और निषिद्ध कर्मों से है। उनके अनुसार साधारण ज्ञान और कर्म, दोनों ही कर्म हैं। साधारण ज्ञान और कर्म के बीच कोई विरोध नहीं है। वास्तविक विरोध तो अपरोक्षानुभूति रूप ज्ञान और काम्य या निषिद्ध कर्मों के बीच है। शंकराचार्य इस प्रश्न पर प्रमुख रूप से विचार करते हैं कि ज्ञान और कर्म में क्यों इतना विरोध है? इस प्रश्न के सम्बन्ध में वे कहते हैं कि ब्रह्म साक्षात्कार कर्म द्वारा न होकर केवल ज्ञान द्वारा ही हो सकता है। शंकराचार्य यह भी कहते हैं कि धर्म जिज्ञासा और ब्रह्म जिज्ञासा के फल में महान अन्तर है। धर्म ज्ञान का फल अभ्युदय होता है तथा उसके लिए अनुष्ठान की अपेक्षा होती है, किन्तु ब्रह्म ज्ञान का फल निःश्रेयस की प्राप्ति होती है तथा उसके लिए किसी अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं होती। इसी प्रकार धर्म जिज्ञासा और ब्रह्म जिज्ञासा के विषयों में भी महान अन्तर होता है। धर्म जिज्ञासा का विषय भव्य होता है तथा ज्ञान के समय उसका अस्तित्व नहीं होता, क्योंकि वह पुरुषतंत्र होता है। परन्तु ब्रह्म जिज्ञासा का विषय नित्य होता है, क्योंकि उसे पुरुष व्यापार की तनिक भी आवश्यकता नहीं होती। शंकराचार्य का यह मानना है कि ब्रह्म एक परिनिष्ठित वस्तु है, उसके लिए किसी कर्म की आवश्यकता नहीं है। इसके अतिरिक्त वैदिक या लौकिक कर्म किये जा सकते हैं, नहीं भी किए जा सकते या पुरुष तंत्र होते हैं, किन्तु वस्तु का यथार्थज्ञान पुरुषतंत्र न होकर वस्तुतंत्र ही होता है और इसमें बुद्धि-विकल्प का कोई हाथ नहीं है। उनका यह स्पष्ट अभिमत है कि यथार्थ ज्ञान प्रमाणों द्वारा उत्पन्न होता है और वह वस्तुओं के स्वभाव के अनुसार होता है। सैकड़ों विधियों के द्वारा न तो इसे उत्पन्न किया जा सकता है और न ही सैकड़ों

निषेध के द्वारा इसका निवारण ही किया जा सकता है। ज्ञान कोई मानसिक क्रिया नहीं है। यह मन पर आधारित न होकर वस्तु जगत पर निर्भर है।

शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म कर्म से इतना असंबद्ध है कि वह 'विदि-क्रिया' का भी कर्म नहीं है, क्योंकि यह ज्ञात और अज्ञात दोनों से भिन्न है। ब्रह्म 'विदि-क्रिया' का कर्म इसलिए भी नहीं है क्योंकि ब्रह्म सभी प्रकार के ज्ञानों का अधिष्ठान है। उसे सामान्य ज्ञान द्वारा नहीं जाना जा सकता। इसीलिए शंकराचार्य कहते हैं कि –“विदिक्रियाकर्मत्व प्रतिषेधात् येनेदं सर्वविजानाति तं केन विजानीयात्।” अर्थात् ब्रह्म 'विदि-क्रिया' का कर्म नहीं है, क्योंकि जिसके द्वारा सब जाने जाते हैं उसे कैसे जाना जा सकता है। शंकराचार्य के अनुसार वस्तुतः ब्रह्म 'उपस्ति-क्रिया' का भी कर्म नहीं है, क्योंकि यह मन और वाणी का विषय नहीं है, क्योंकि 'यद्वाचानभ्युदितं येन् वागभ्युद्यते' अर्थात् वाणी स्वयं ब्रह्म द्वारा प्रेरित होती है इसी प्रकार ब्रह्म न उत्पाद्य है, न विकार्य है, न प्राप्य है और न संस्कार ही है। ब्रह्म भाव या मोक्ष 'घट' के समान उत्पाद्य नहीं है, क्योंकि वह नित्य है। इसी प्रकार 'ओदन' के समान ब्रह्मभाव विकार्य नहीं है, क्योंकि विकार मानने से वह अनित्य जो जाएगा। 'ग्रामं गच्छति' के समान ब्रह्मभाव प्राप्य भी नहीं है, क्योंकि वह नित्य प्राप्त आत्मा का स्वरूप ही है। मोक्ष संस्कार्य कर्म भी नहीं है, क्योंकि संस्कार्य पदार्थ में संस्कार दो प्रकार का होता है, एक गुणाधान रूप संस्कार और दूसरा दोषापनयन संस्कार। ब्रह्म में गुणाधान रूप संस्कार इसलिए संभव नहीं है, क्योंकि ब्रह्म अनाधेयातिशय ब्रह्म स्वरूप है तथा ब्रह्म में दोषापनयन संस्कार भी नहीं हो सकता, क्योंकि मोक्ष नित्य शुद्ध रूप है।

शंकराचार्य के अद्वैत
वेदान्त में अनुभव,
तर्क एवं श्रुति
का स्थान

3.3 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में अनुभव, तर्क एवं श्रुति का स्थान

3.3.1 अनुभव

शंकराचार्य अपने अद्वैत वेदान्त में अनुभव, तर्क एवं श्रुति अनुभव को समुचित स्थान दिया है। शंकराचार्य का दर्शन अनुभव के विपरीत नहीं है। उनका सम्पूर्ण दर्शन जीवन के अनुभवों पर आधारित है। शंकराचार्य 'शारीरकभाष्य' में 'अध्यास' को परिभाषित करते हुए 'लोकानुभव' की ओर संकेत करते हैं। शंकराचार्य लौकिक अनुभव के विषय में वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि साधारण जीवन का यह अनुभव है कि शुकित चाँदी के समान दिखायी पड़ती है तथा एक चन्द्रमा दूसरे चन्द्रमा के साथ दिखायी पड़ता है। इसलिए शंकर का यह स्पष्ट मत है कि 'दृष्टाच्चादृष्टसिद्धि' अर्थात् दृष्ट के आधार पर ही अदृष्ट की व्याख्या की जा सकती है। शंकराचार्य का यह कहना है कि किसी दृष्ट वस्तु में अविश्वास प्रकट करना मूर्खता है। उनका यह कहना है कि 'नहिदृष्टाऽनुपन्नं नाम' अर्थात् दृष्ट वस्तु कभी भी अनुपपन्न नहीं होती है। यदि कोई कल्पना ऐसी है जो दृष्ट वस्तु के विपरीत है तो उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि शंकराचार्य ने लौकिक अनुभवों की कभी भी उपेक्षा नहीं की है, क्योंकि उनका सम्पूर्ण दर्शन जीवन के सामान्य अनुभवों पर आधारित है।

3.3.2 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में 'अनुभव' का तात्पर्य

शंकराचार्य द्वारा जगन्मिथ्या की उद्घोषण के कारण उनके अद्वैत वेदान्त में 'अनुभव' से क्या तात्पर्य है? यह एक प्रमुख रूप से विचारणीय प्रश्न है। शंकराचार्य द्वार व्यहृत 'अनुभव' शब्द के विषय में शंकराचार्य का तात्पर्य लौकिक प्रत्यक्ष से है

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में तर्क की भूमिका

अथवा उसके अन्तर्गत अलौकिक प्रत्यक्ष को भी शामिल किया जा सकता है? उपर्युक्त प्रश्नों के सम्बन्ध में शंकराचार्य का यह कहना है कि लौकिक प्रत्यक्ष और अलौकिक प्रत्यक्ष के बीच किसी प्रकार का विरोध नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों के क्षेत्र पृथक्-पृथक् हैं। प्रत्येक अपने-अपने क्षेत्र में उच्चतम् स्थान है। सैकड़ों श्रुतियों भी अपने पदार्थों को भिन्न-भिन्न स्थानों और कालों में अपने स्वभाव को त्याग करने के लिए विवश नहीं कर सकती है उन्हें प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है। आगे यह कहते हैं कि 'तर्कस्तु अनवस्थितो भ्रान्तोपिभवति' अर्थात् विशुद्ध तर्क अनवस्थित होता है तथा वह भ्रान्ति को भी उत्पन्न करता है। तर्क क्यों अनवस्थित होता है विशुद्ध तर्क अनवस्थित होता है तथा वह भ्रान्ति को भी उत्पन्न करता है। तर्क क्यों अनवस्थित होता है इस विषय में शंकर अपने विचार को व्यक्त करते हुए यह कहते हैं कि यथार्थ ज्ञान के सम्बन्ध में मत वैभिन्न्य के लिए कोई अवकाश नहीं है, किन्तु यह सर्वविदित है कि तर्क पर आधारित ज्ञान परस्पर विरोधी होते हैं। यदि एक तर्कनिष्ठ किसी ज्ञान को सम्यक ज्ञान कहता है तो दूसरा तर्कनिष्ठ उसी ज्ञान को असिद्ध घोषित कर देता है। संसार भूत, वर्तमान एवं भविष्य के सभी तर्कवादियों को एक काल में और एक स्थान पर एकत्रित कर किसी वस्तु के विषय में एक निश्चित मत प्राप्त कर सम्यक् ज्ञान को स्थापित करना असम्भव कार्य है। अतः तर्क द्वारा प्राप्त ज्ञान कभी भी यथार्थ नहीं हो सकता। इन सब कारणों से शंकराचार्य इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ब्रह्म को हम केवल श्रुतियों द्वारा ही जान सकते हैं।

3.5 शंकराचार्य के अनुसार तर्क की भूमिका

शंकराचार्य ने अनेक स्थानों में तर्क भूमिका के विषय में अपने स्पष्ट मत को व्यक्त किया है। एक स्थल पर वे कहते हैं कि तर्क कल्पना पर आधारित होता है। अतः वह अप्रतिषिद्ध और निरंकुश होता है। अन्य स्थल पर वे कहते हैं कि तर्क अप्रतिष्ठित होता है यह कथन स्वयं तर्क पर आधारित है। ऐसी स्थिति में यदि सभी तर्क को अप्रतिष्ठित मान लिया जाएँ, तो लोक व्यवहार असंभव हो जाएगा। कठोपनिषद् भाष्य में शंकराचार्य कहते हैं कि सत् और असत् के वास्तविक स्वभाव के विषय में बुद्धि ही एकमात्र प्रमाण है।

अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि शंकर के इन परस्पर विरोधी कथनों के बीच किस प्रकार समन्वय स्थापित किया जा सकता है? इसका कारण यह है कि एक स्थल पर वे तर्क की निन्दा करते हैं, तो दूसरे स्थल पर तर्क की भूमिका व महत्ता का प्रतिपादन करते हैं? शारीरिक भाष्य में एक स्थान पर वे कहते हैं कि तर्क दृष्टसाम्य के आधार पर अदृष्ट के विषय में विधान करते हैं, जिसके कारण वे श्रुति की अपेक्षा तर्क के अधिक निकट हैं क्योंकि श्रुति की प्रामाणिकता परम्परागत मात्र होती है। एक अन्य स्थान पर वे कहते हैं कि 'दृष्टाच्चादृष्टसिद्धिः' अर्थात् दृष्ट के आधार पर ही अदृष्ट का निर्धारण किया जा सकता है। इन सभी उद्धरणों से स्पष्ट है कि शंकराचार्य न केवल प्रागनुभविक तर्क की ही निन्दा की है तथा वह तर्क जो अनुभव और तर्क पर आधारित है, उसकी प्रशंसा की है। यह उनके इस कथन से स्पष्ट होता है, जब वे कहते हैं कि—'केवल वही तर्क स्वीकार्य हो सकता है, जो श्रुति सम्भव हो तथा अनुभव के द्वारा जिसकी पुष्टि संभव हो। पंचदशी में वे यहां तक कह देते हैं कि—'स्वानुभूति के अनुसार ही तर्क करना चाहिए व्यर्थ कुतर्क नहीं करना चाहिए।'

3.6 तार्किक ज्ञान की अपूर्णता

शंकराचार्य तार्किक ज्ञान की अपूर्णता को दर्शाते हुए यह कहते हैं कि तार्किक ज्ञान ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञात विषय के परस्पर भेद को प्रकट करता है, किन्तु यथार्थसत्ता इन सभी भेदों से मुक्त है। उनका यह मानना है कि तार्किक ज्ञान अविद्याजन्य है, क्योंकि यह वस्तुओं के सत्य स्वरूप का ज्ञान नहीं कराता। यथार्थ स्वरूप आत्मा जो विशुद्ध चैतन्य है, ज्ञान का विषय नहीं है। सत्य चैतन्य में विषयी को विषय से सर्वथा अन्य होना चाहिए और इस प्रकार विषयी ज्ञाता में और कुछ शेष नहीं रह जाता। मन की किसी अवस्था में भी विषयी अपने सन्मुख एक विषय के रूप में उपस्थित नहीं होती।

शंकराचार्य का यह मानना है कि चूँकि ज्ञान की प्रक्रिया केवल परम यथार्थसत्ता की अभिव्यक्ति मात्र है और कुछ नहीं, इसलिए यथार्थसत्ता को आत्मचैतन्य की प्रक्रिया के अन्दर ग्रहण करना असंभव है। उनका यह मानना है कि आत्मा काल एवं समस्त विषय समूह की आधारभूमि है, इसलिए इसे इसके द्वारा आविर्भूत जगत की सीमाओं में आबद्ध करना असंभव है। आत्मा के संबंध में आत्मचेतना केवल अन्तःकरण के उपाधि द्वारा ही संभव है। अन्तःकरण हमें अपनी चेतना को एक संकुचित परिधि के अन्दर ही एकाग्र करने में सहायता प्रदान करता है। इसलिए शंकराचार्य का यह स्पष्ट अभिमत है कि तर्कपूर्ण विचार कितना ही व्यापक क्यों न हो क्योंकि वह हमें यथार्थ सत्ता के बोधग्रहण की ओर ले नहीं जा सकता। शंकराचार्य का यह मानना है कि यह ठीक-ठीक जानना कठिन है कि ब्रह्म विषयक हमारा ज्ञान, जिसका अन्वेषण विज्ञान करता है, कहाँ तक वस्तुनिष्ठ है? इसलिए शंकराचार्य इस प्रश्न पर विचार करते हैं कि तार्किक ज्ञान की अवस्थाओं के अन्तर्गत जिस जगत का हमें ज्ञान है, वह अपने आप में कितना यथार्थ है? इस प्रश्न के सम्बन्ध में शंकराचार्य कहते हैं कि तार्किक ज्ञान के समस्त निर्णय मिथ्या हैं, इस अर्थ में कि कोई भी विधेय जिसका हम विषय के गुण के रूप में उपयोग कर सकते हैं, उसके लिए पर्याप्त नहीं है। यह यथार्थ के अन्दर किसी ऐसे गुणों का आधान करता है, जो इससे भिन्न है, जिसे शंकराचार्य 'अध्यास' के नाम से अभिहित करते हैं अर्थात् किस वस्तु को ऐसा मान लेना, जिससे वह भिन्न है।

शंकराचार्य का यह मानना है कि शान्त वस्तुओं का समस्त ज्ञान एक अर्थ में विशुद्ध सत् का अभाव है, क्योंकि एकमात्र नित्य चेतना के ऊपर पदार्थ रूप विषयों का अध्यास किया जाता है। यह अध्यास विषयी-विषय को एक साथ मिला देने के कारण उत्पन्न होता है, जिसके कारण हम क्रियाशीलता, कर्तृत्व तथा सुखोपभोग को उसी आत्मा का गुण समझ लेते हैं। यथार्थ में विषयी ज्ञाता से भिन्न कुछ नहीं है, क्योंकि यथार्थ सत्ता के विषयी (ज्ञाता) में वह सब कुछ समाविष्ट है, जो कुछ संभवतः उसके विषय में कह सकते हैं। विषयी ज्ञाता के विषय में हम उसके विषय में कह सकते हैं। विषयी ज्ञाता के विषय में हम जो कुछ भी कहते हैं, उस यथार्थसत्ता से बहुत न्यून है तथा उसका केवल आभासमात्र है। इसीलिए शंकराचार्य का कहना है कि विषयी तथा इसके गुणों का विषय के प्रति संकमण करना तार्किक दृष्टि से असत्य है, क्योंकि वह एक के सत् तथा गुणों का दूसरे में संकमण कर देते हैं। इसीलिए उनका यह मानना है कि ज्ञान के समस्त साधन तभी तक प्रामाणिक हैं, जब तक कि निरपेक्ष सत्य की प्राप्ति नहीं हो जाती है और इस प्रकार परिमित ज्ञान का सापेक्ष महत्व स्पष्ट रूप से अभिव्यंजित नहीं होता। वस्तुतः हमारा समस्त लोक व्यवहार का ज्ञान अज्ञान है और उस सबका निराकरण कर देने पर जिसे उसके ऊपर बलात् आरोपित किया जाता है, निरपेक्ष चैतन्य का

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में तर्क की भूमिका

ही ज्ञान बचता है। अतएव निरपेक्ष चैतन्य को निश्चयपूर्वक जान लेने का नाम ज्ञान है।

शंकराचार्य का यह मानना है कि आत्मा का सत्य ज्ञान किसी भी आकृति तथा वृत्ति से विहीन है। शंकराचार्य का यह मानना है कि अध्यास हमें एकमात्र निरपेक्ष यथार्थ सत्ता को विषय-विषयी सम्बन्ध के रूप में विभक्त करने के लिए प्रेरणा देता है, जो मानवीय मस्तिष्क की अपनी ही रचना का परिणाम है। शंकराचार्य इस प्रकार के मानवीय मस्तिष्क की रचना को अध्यास मानते हैं और कहते हैं कि अध्यास को जिसके कारण विषयी तथा विषय जगत की उत्पत्ति संभव है, अनादि, अनन्त, नैसर्गिक, मिथ्या प्रयत्नरूप तथा जीवात्माओं के कर्तृत्व, सुखोपभोग और क्रियाशीलता का कारण बताया गया है और यह सबके ऊपर आधिपत्य जमाए हुए है। इसीलिए शंकराचार्य का कहना है कि सार्वभौम यथार्थ सत्ता अपनी पूर्णता तथा जटिलता के कारण एक सार्वभौम तथा निर्दोष मस्तिष्क को स्वतः सिद्ध मान लेती है और वह ईश्वर है, जो विश्व के उन अंशों को भी धारण करता है जो हमारी दृष्टि से बाहर है और आप्राप्य है। हमारा सांसारिक अनुभव यह संकेत करता है कि एक ऐसा प्रकृत तत्व है जिसके लिए विचार की आवश्यकता है, किन्तु यह ऐसी वस्तु नहीं है जिसे आनुभविक प्रमाणों द्वारा जाना जा सके। मनुष्य होने के कारण हम मानवीय विधि से ही विचार करते हैं। सार्वभौम यथार्थ सत्ता को एक केन्द्रीय व्यक्तित्व अथवा विषयी के रूप में माना गया है तथा समस्त जगत् विषय रूप है। यह ऐसा संश्लेषण है जो तर्क के द्वारा प्राप्त होता है, किन्तु इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। यह विचार का तात्कालिक विषय नहीं है इसे हमारे अनुभव का सबसे उच्च श्रेणी का संश्लेषण मान लिया गया है और जब तक इसी प्रकार की रचना का अन्य अनुभव भी है, तब तक यह मान्यता बनी रहेगी।

शंकराचार्य का यह मानना है कि यथार्थसत्ता वह पूर्णरूप से निर्मित विचार है जिसके अन्दर प्रत्येक तत्व विषयी और विषय, मस्तिष्क और शरीर, वर्तमान, भूत और भविष्यत् इसके उचित स्थान पर आकर समाविष्ट हो गये हैं, मानवीय सत्ता अनुभव का विषय नहीं है, यद्यपि समस्त विचार मात्र का आदर्श लक्ष्य है परन्तु उनका यह मानना है कि समस्त ज्ञान चाहे ईश्वर का हो या मनुष्य का हो, अपने अन्दर विषयी-विषय का सम्बन्ध रखते हैं और इसलिए उसे सर्वोच्च नहीं माना जा सकता। समस्त सविकल्पक ज्ञान आत्मोत्सर्ग रूप है, क्योंकि इसमें परम यथार्थ सत्ता का एक विषयी के रूप में तथा वृत्ति और विषय के रूप में आदर्श रूप बन जाता है। इसलिए शंकराचार्य का मानना है कि तर्क का सम्बन्ध सान्त जीवन के स्तर तक ही है, क्योंकि परम यथार्थ सत्ता विचार से अतीत है। यथार्थ सत्ता अपने लिए सदा ही विद्यमान है और इसलिए उसे अपने में विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

शंकराचार्य का यह मानना है कि केवल तर्क एक औपचारिक प्रक्रिया है। तर्क जिन निर्णयों पर पहुँचता है वे उसके साध्य पक्ष पर निर्भर करते हैं जिनको लेकर यह आगे बढ़ता है और शंकर इस पर बल देते हैं कि धर्मशास्त्रों में वर्णित धर्मिक अनुभव को धर्म सम्बन्धी अनुभव के अन्तर्गत तर्क का आधार बनना चाहिए। तर्क से शंकर का तात्पर्य उस तर्क से है जिस पर इतिहास के उपदेशों ने कोई प्रतिबन्ध न लगाया हो। उनका यह स्पष्ट अभिमत है कि किसी भी प्रकार का व्यक्तिगत तर्क सत्य की स्थापना की ओर नहीं ले जा सकता, क्योंकि ज्ञान ग्रहण की शक्ति में अनेक प्रकार की विविधता रहती है। (कस्यचित् क्वचित् पक्षपाते सति पुरुषभति वैरुप्येण तत्त्वाव्यवस्था न प्रसंगात्)।

शंकराचार्य धर्मशास्त्र के विचारों की तर्क द्वारा परीक्षा की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं। जहाँ कहीं उन्हें अवसर मिला, उन्होंने धर्मशास्त्र के कथनों की तर्कबुद्धि की युक्तियों द्वारा समर्थन करने का प्रयत्न किया है। शंकराचार्य का यह स्पष्ट रूप से कहना है कि ऐसा तर्क जो अनुभव का सहायक होकर कार्य करता है वह युक्तिसंगत मत है। वास्तविकता यह है कि शंकराचार्य के लिए तर्क एक समीक्षात्मक शास्त्र है, जिसका प्रयोग अपरीक्षित धारणाओं के विरुद्ध किया जाता है और तर्क एक रचनात्मक तत्व भी है जो सत्य सम्बन्धी तथ्यों का चुनाव करता है तथा उनके ऊपर बल देता है। ऐसे व्यक्ति भी जिनमें निर्णय करने की शक्ति है, बिना किसी तर्क के किसी विशेष परम्परा का आश्रय नहीं लेते।

शंकराचार्य के अद्वैत
वेदान्त में अनुभव,
तर्क एवं श्रुति
का स्थान

3.7 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में श्रुति का स्थान

शंकराचार्य अनुभव एवं तर्क के महत्व को बताने के लिए तथा उसमें निहित कमियों को उद्घाटित करने के पश्चात् अपने दृष्टिकोण को और स्पष्ट करते हुए यह कहते हैं कि ब्रह्म का ज्ञान न तो प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा हो सकता है, न अनुमान द्वारा और न तर्क द्वारा ही उसे जाना जा सकता है। शंकराचार्य के अनुसार साधारण जनों के लिए ब्रह्म को जानने का एकमात्र साधन श्रुति प्रमाण है। शंकराचार्य इसके लिए कुछ प्रमाण देते हुए कहते हैं कि 'रूपाद्यभावाद्धि नायमर्थः प्रत्यक्षगोचरः' अर्थात् रूपादि के भाव के अभाव के कारण ब्रह्म प्रत्यक्ष का विषय नहीं है तथा 'लिंगाद्यभावाच्च नानुमादीनाम्' अर्थात् लिंगादि के अभाव के कारण ब्रह्म अनुमान का भी विषय नहीं है। इन सब कारणों से शंकराचार्य इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ब्रह्म को हम केवल श्रुतियों के द्वारा ही जान सकते हैं।

3.8 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में श्रुति प्रमाण के प्रमुख विशेषताएँ

शंकराचार्य अपने अद्वैत वेदान्त में 'श्रुति' प्रमाण को स्वतंत्र रूप में ज्ञान का साधन मानते हैं। उनका यह कहना है कि 'यस्य वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूत संसर्गो मनान्तरेण न बाध्यते तद् वाक्यं प्रमाणम्' अर्थात् कोई भी कथन उनके द्वारा उपलक्षित अर्थों में निर्दोष प्रमाण है, यदि किसी अन्य प्रमाण द्वारा निर्दोष न सिद्ध कर दिया जाए। शंकराचार्य के अनुसार वेद नित्य है और सृष्टि के समस्त जीवों के लिए त्रिकालाबाधित नियमों के भण्डार हैं। वेद अपौरुषेय है और वे ईश्वर के विचारों को प्रकट करते हैं अद्वैतवादी यह स्वीकार करता है कि वेद अक्षरों, शब्दों तथा वाक्यों के संग्रह हैं और उनके अस्तित्व का प्रारम्भ सृष्टि के प्रारम्भ से होता है और उनका विलोप प्रलय के साथ ही हो जाता है, उसी प्रकार जिस प्रकार आकाश व अन्य तत्व उदय होते हैं और नष्ट हो जाते हैं। शंकराचार्य ब्रह्म सूत्र भाष्य में यह कहते हैं कि "वह महान सत्ता जिसने श्रुति के अनुसार एक लीला के रूप में बिना किसी परिश्रम के मनुष्य के निःश्वास भाँति ऋग्वेद तथा अन्य वेदों का आविर्भाव किया जो समस्त ज्ञान की निधि है और वही सत्ता देवता, मनुष्य, पशु जगत् वर्ण तथा जीवन सम्बन्धी आश्रमों इत्यादि के विभाग का कारण है, ऐसी सत्ता को अवश्य ही सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान होना चाहिए।"

इस प्रकार शंकराचार्य का मानना है कि वेदों में विश्व के आदर्श रूप का विधान है और चूँकि संसार प्रवाहरूप से नित्य है, इसलिए वेद भी नित्य है। इसके अतिरिक्त कमगत संसारों की एक नित्य आकृति होने के कारण वेदों की प्रमाणिकता में किसी भी सृष्टि युग में कोई अन्तर नहीं आता। शंकराचार्य का

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में तर्क की भूमिका

कहना है कि जिन अर्थों में परम यथार्थसत्ता नित्य है, मूल आदर्श आकृतियों के उन अर्थों में नित्य नहीं है, क्योंकि वे सब अविद्या से उत्पन्न है। वस्तुतः शंकराचार्य ने वेदों की प्रामाणिकता को न्याय एवं मीमांसा के विचारकों द्वारा दी गयी युक्तियों से भिन्न युक्तियों के आधार पर सिद्ध किया है। उनके अनुसार वेद नित्य हैं और स्वयं प्रकाश हैं, क्योंकि वे ईश्वर के स्वरूप को ही प्रकाशित करते हैं, जिसके विचार उनके अन्दर दिये गये हैं। वेद की प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध तथा साक्षात् है इसीलिए शंकराचार्य यह कहते हैं कि श्रुति ही हमें ऐसा ज्ञान प्रदान करती है जो इन्द्रियों या विचारशक्ति (तर्क) द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता। प्रकृति तथा उसके गुणों से सम्बद्ध रखने वाले विज्ञान का श्रुति भी उल्लंघन नहीं कर सकता। परन्तु धर्म एवं अधर्म सम्बन्धी विषयों पर श्रुति ही एकमात्र प्रमाण है। शंकराचार्य के अनुसार साधारणतः धर्म विषय जिज्ञासा चित्त को ब्रह्म के प्रति जिज्ञासा के लिए प्रेरित करती है, जिसका प्रमाण श्रुति है।

शंकराचार्य इस मत का खण्डन करते हैं कि संसार की वस्तुएँ हमारी कल्पना से उत्पन्न आभासमात्र हैं, किन्तु एक आध्यात्मिक ज्ञान विषयक आदर्शवाद (प्रत्ययवाद) का समर्थन करते हैं, इस अर्थ में ज्ञेय विषय भी आत्मा के रूप है। ज्ञेय वस्तु अपने लिए कोई अस्तित्व नहीं रखते हैं और यदि वे मेरे अथवा तुम्हारे चैतन्य के वस्तु विषय नहीं है तो वे दैवी चैतन्य के वस्तु विषय हैं। एक शाश्वत दैवीय प्रत्यक्ष द्रष्टा के कारण संसार की व्यवस्था बनी रहती है। वह सार्वभौम आत्मा है जो सृष्टि की रचयिता और विश्व की सभी वस्तुओं से अभिज्ञ है। शंकराचार्य के अनुसार वस्तुतः विश्व की सभी वस्तुएँ अपने स्वरूप में अध्यात्मिक हैं। इस प्रकार आत्मा परमसत्य है जो ज्ञान प्राप्त करने वाले विषयी तथा ज्ञात विषय से अतीत है और यही परम यथार्थ सत्ता है, जिसके अतिरिक्त और किसी का अस्तित्व नहीं है।

शंकराचार्य श्रुति के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं कि यद्यपि अन्तर्दृष्टि से प्राप्त अनुभव सबसे अधिक प्रामाणिक होता है, तो भी इसमें धारणा सम्बन्धी व्यापकता का अंश अल्प मात्रा में ही रहता है। इसीलिए इसे व्याख्या की आवश्यकता होती है और इन व्याख्याओं में भूल होने की संभावना भी रहती है एवं इस प्रकार इनकी अन्तर्हित पुनरावृत्ति की आवश्यकता होती है। श्रुति ऐसे विषयों का व्याख्या करती है जिन्हें पूर्णता के साथ कथन नहीं करना चाहिए। प्रज्ञावान विद्वान मनुष्य उस भाषा तथा तर्क का आविष्कार करते हैं जो श्रुतिवाक्यों के व्याख्यान को लिए उपयुक्त हैं। ऐसे व्यक्ति जिन्हें साक्षात् अन्तर्दृष्टि से ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता, ऐसे दैनिक विचारों पर विश्वास करके उन्हें स्वीकार करने के लिए विवश हैं, जिनमें कुछ एक ऐसे उच्चकोटि के मस्तिष्कों के अनुभव अभिलेख के रूप में सुरक्षित रखे गये हैं जिन्हें यथार्थसत्ता के बोध ग्रहण के साथ एक दीर्घकाल तक संघर्ष करना पड़ा।

शंकराचार्य का यह मानना है कि 'सत्यविजिज्ञासितव्यम्' अर्थात् सत्य की जिज्ञासा ही की जा सकती है और वे स्वयं विपक्षी दर्शन पद्धतियों की समालोचना करने में अविरोध के सिद्धांत का सत्य के अनुसन्धान के लिए उपयोग करते हैं। इसलिए शंकराचार्य का यह कहना है कि वैदिक प्रामाण्य इन्द्रियों की साक्षी अथवा तर्कसम्मत निर्णयों से कहीं अधिक श्रेष्ठ है, यद्यपि इसमें सन्देह नहीं है कि उन क्षेत्रों में जो प्रत्यक्ष तथा अनुमान के विषय हैं वे अनुपयुक्त हैं। इसीलिए शंकराचार्य का यह मानना है कि सैकड़ों श्रुतिवाक्य भी अग्नि को टंडा नहीं बना सकते। श्रुति का उद्देश्य यह है कि ऐसे ज्ञान को जो साधारण साधनों द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता, हमें प्रदान करें।

शंकराचार्य का मानना है कि वेदों का आशय आत्मा के एकत्व की शिक्षा देना है। इसलिए उनका कहना है कि वेदान्त की यह खोज हमें अविद्या से मुक्ति दिलाने का कारण नहीं है, क्योंकि सारी खोज तथा ज्ञान जिनके साथ विषयी तथा विषय सम्बन्धी द्वैत का भाव लगा हुआ है, ब्रह्म के साक्षात्कार में बाधा स्वरूप है। यह हमारे अज्ञान को प्रकट करने में साहयक तो हो सकता है, किन्तु ज्ञान की प्राप्ति नहीं करा सकता। इसीलिए शंकराचार्य यह कहते हैं कि अविद्या को दूर करना ही सत्य को ग्रहण करना है, ठीक जिस प्रकार रस्सी का ज्ञान होने का तात्पर्य है, सर्परूपी भ्रान्ति ज्ञान का दूर हो जाना (अविद्याकल्पित भेदनिवृत्ति)। उनका यह मानना है कि सत्य के ज्ञान के ग्रहण के लिए साथ में किसी अन्य साधन अथवा ज्ञान के नयी क्रिया की आवश्यकता नहीं है। द्वैतभाव के नष्ट हो जाने पर फिर ज्ञान को एक क्षण की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती है, क्योंकि द्वैतभाव के नष्ट होने के पश्चात् भी यदि समय की अपेक्षा हो, तो एक अन्तरहित पश्चाद्गति आ जाएँगी और द्वैतभाव का कभी नाश न होगा। इसलिए इन दोनों अर्थात् ज्ञान और द्वैतभाव का विनाश एक ही समय में सम्पन्न होते हैं। जब भ्रान्ति विचार प्रकाश में आ जाते हैं तो हम यथार्थ सत्ता तक पहुँच जाते हैं। यदि यह प्रश्न किया जाएँ कि हम अविद्या से विद्या की ओर कैसे पहुँचते हैं जो एक अनुचित प्रश्न है, क्योंकि जब भ्रान्ति नष्ट हो जाती है तो सत्य जो स्वतः पूर्ण है, प्रकाश में आ जाता है, तो इससे अधिक उत्तम उत्तर और नहीं हो सकता कि ईश कृपा ही साधन है। वास्तविकता यह है कि विशुद्ध आत्मा एक ऐसे अन्धे मनुष्य की भाँति है जिसकी विनष्ट हुई दृष्टिशक्ति ईश्वर की कृपा से फिर लौट आए।

शंकराचार्य के अनुसार श्रुति को मानने का तात्पर्य है, सन्तों तथा ऋषियों की साक्षी को स्वीकार करना। श्रुति की उपेक्षा करना मनुष्य जाति के अनुभव के अत्यन्त सजीव भाग की उपेक्षा करना है। शंकराचार्य के अनुसार हमारे अन्दर की शक्ति हमें बलात् विश्वास करने की ओर प्रेरित करती है। यह शक्ति हमारे अन्दर अन्तर्निहित आध्यात्मिक प्रेरणाएँ हैं, जिनकी तर्क के आधार पर उपेक्षा नहीं की जा सकती। वास्तविकता यह है कि शंकर के कमबद्ध दर्शन का उद्देश्य ज्ञान के द्वारा हमारे भ्रम का निवारण करना है और यह प्रतिपादित करना है कि तर्कशास्त्र अपने आप में हमें संशयवाद की ओर ले जाता है। हम मान लेते हैं कि किस संसार में तर्क भी है और धार्मिकता भी है। हम बिना तर्कबुद्धि के द्वारा उपलब्ध अर्थपूर्ण तथ्यों के भी इस संसार को एक पूर्ण इकाई के रूप में स्वीकार करते हैं। इसलिए ईश्वर रूपी दैवी मस्तिष्क की सुरक्षा का भाव आता है। इसके अतिरिक्त सत्य को एक समान विरोध रहित तथ सार्वभौम रूप में स्वीकार होना चाहिए, यद्यपि विचार के नियमों को इस प्रकार से मान्य नहीं ठहराया जाता, किन्तु वेद ज्ञान के नित्य स्रोत रूप हैं इनका प्रतिपाद्य विषय ठोस आधार पर आधारित है और इसके ज्ञान द्वारा पूर्ण ज्ञान भूत, वर्तमान तथा भविष्यत की समस्त कल्पनाओं द्वारा भी विपरीत नहीं ठहराया जा सकता।

शंकराचार्य का यह मानना है कि श्रुति में आत्मसम्बद्ध तथ्यों का प्रतिपादन किया गया है, जिनके द्वारा मनुष्य जाति के अधिकांश भाग के सहज बोधों की सन्तोषप्रद व्याख्या की गयी है। इसके अन्दर मनुष्य जाति के परिपक्व विचारों का समावेश है, जिनमें विचार की अपेक्षा आत्मा के जीवन्त स्वरूप का वर्णन अधिक है और हममें से उन व्यक्तियों के लिए जो आत्मा के उस जीवन्त स्वरूप में भाग नहीं लेते उनके लिए श्रुति ज्ञान की अनुभूति बहुत ही महत्वपूर्ण है।

3.9 निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि शंकराचार्य ने अपने अद्वैत वेदान्त में अनुभव, तर्क एवं श्रुति को समुचित स्थान दिया है, किन्तु उन्होंने श्रुति को विशेष महत्व देते हुए आध्यात्मिक विषय के सन्दर्भ में प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है। उनका यह दृढ़ मत है कि धर्मशास्त्र के कथनों का अन्तर्दृष्टि द्वारा जाने गये तथ्यों के अनुकूल होना आवश्यक है। सबसे उच्चकोटि का प्रमाण प्रत्यक्ष है, चाहे ये आध्यात्मिक हों या ऐन्द्रिक, किन्तु उसे इस योग्य होना चाहिए कि निश्चित अवस्थाओं के अनुसार इसका हम भी अनुभव कर सकें। श्रुति का भी प्रमाण इसी तथ्य के आधार पर माना गया है कि यह केवल अनुभव का ही आख्यान है और चूँकि अनुभव आत्म-परिचयरूप होता है, इसलिए वेदों को स्वतः प्रामाण्य कहा गया है, जिन्हें बाहर से किसी के समर्थन की आवश्यकता नहीं है। इसलिए वेदों में भी वे सत्य हैं जिनकी खोज मनुष्य अपनी शक्तियों का उपयोग करके भी कर सकता है। यद्यपि यह हमारे लिए एक उपयोगी विषय है कि वे ईश्वर प्रदत्त हैं क्योंकि हम देखते हैं कि सब मनुष्यों का इतना साहस समय तथा साधन प्राप्त नहीं है कि वे इस प्रकार के उपक्रम की कठिनाइयों का सामना कर सकें।

प्रश्नावली

लघु उत्तरीय प्रश्न—

1. शंकराचार्य के अनुसार लौकिक ज्ञान क्या है?
2. तर्क की भूमिका पर चर्चा करें।
3. अद्वैत वेदान्त में श्रुति प्रमाण की व्याख्या करें।
4. शंकराचार्य के अनुसार अनुभव क्या है?
5. अद्वैत वेदान्त में श्रुति का स्थान निर्धारित करें।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न—

1. तार्किक ज्ञान की अपूर्णता की व्याख्या करें।
2. शंकराचार्य के प्रमाणों पर निबन्ध लिखिए।

इकाई-4

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में अपरोक्षानुभूति

संरचना

- 4.0 उद्देश्य
- 4.1 प्रस्तावना
- 4.2 शंकराचार्य के अनुसार ज्ञान के भेद
 - 4.2.1 अपरोक्ष ज्ञान
 - 4.2.2 शंकराचार्य के अनुसार अपरोक्ष ज्ञान की प्रागपेक्षाएँ
 - 4.2.3 परोक्ष ज्ञान
- 4.3 चैतन्य अन्य अवस्थाओं में प्राप्त ज्ञान
- 4.4 शंकराचार्य के अनुसार आत्मतत्त्व सभी ज्ञान का आधार है
- 4.5 विशुद्ध चैतन्य सर्वोपरि तत्त्व है
- 4.6 शंकराचार्य के अनुसार परम यथार्थ सत्ता अद्वैत रूप आत्मा है
- 4.7 शंकराचार्य के अनुसार अन्तःकरण इन्द्रिय व्यापारों का संस्थान है
- 4.8 शंकराचार्य आध्यात्मिक ज्ञान विषयक आदर्शवाद का समर्थन करते हैं
- 4.9 शंकराचार्य के अनुसार अपरोक्षानुभूति का स्वरूप
- 4.10 शंकराचार्य के अनुसार अपरोक्षानुभूति सर्वोपरि आत्मा के सत्य का साक्षात्कार है
- 4.11 शंकराचार्य के अनुसार अद्वैतात्मक अस्तित्व अन्तस्तम का अनुभव है
- 4.12 निष्कर्ष

4.0 उद्देश्य

शंकराचार्य ने अपने अद्वैत वेदान्त में इस बात पर विचार किया है कि यदि ब्रह्म प्रत्यक्ष, अनुमान, तर्क एवं श्रुति द्वारा नहीं जाना जा सकता है तो ब्रह्म को जानने का साधन क्या है? इस प्रश्न के समाधान में शंकराचार्य अपने मत को व्यक्त करते हुए यह कहते हैं कि अपरोक्षानुभूति ही ब्रह्म साक्षात्कार करा सकती है। शंकराचार्य का यह मानना है कि ब्रह्म ज्ञाता है, वह ज्ञेय नहीं है कि उसका ज्ञान किसी अन्य प्रमाण से हो सकता है। शंकराचार्य का यह कहना है कि अनुभूति के अतिरिक्त जितने भी प्रमाण हैं। वे सब अनुभव प्राप्ति के साधन मात्र हैं। उनके द्वारा केवल साधन मूल्य की ही प्राप्ति संभव है, साध्य मूल्य की प्राप्ति नहीं।

4.1 प्रस्तावना

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में तात्त्विक दृष्टि से ज्ञान परम तत्व का स्वरूप है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से हम ज्ञान को एक प्रक्रिया के रूप में ले सकते हैं, जिसे जीव सम्पन्न करता है। विशुद्ध आत्मा तो ज्ञान से अभिन्न है, किन्तु जीवात्मा को बाह्य संसार को जानने के लिए प्रक्रिया करने की आवश्यकता होती है, वस्तुतः जीव एक इकाई न होकर दो घटकों का समुच्चय है। प्रथम अन्तःकरण और द्वितीय साक्षी। यही कारण है कि शंकराचार्य निष्क्रिय साक्षी और सक्रिय अन्तःकरण के योग को ही जीव कहते हैं। वे अन्तःकरण विशिष्ट चैतन्य को 'जीव' और अन्तःकरण से उपहित चैतन्य को साक्षी कहते हैं। शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में ज्ञान से तात्पर्य केवल अन्तःकरण की वृत्ति से है और न केवल साक्षी से ही है, वरन् साक्षी से प्रेरित वृत्ति से है। यहाँ वृत्ति-तत्व ज्ञान का आपातिक अंश है तथा साक्षी तत्व ज्ञान का शाश्वत तत्व है। आत्मा जब अन्तःकरण की वृत्तियों के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है तो वह परिवर्तनशील दिखाई पड़ता है, जबकि वास्तविकता यह है कि आत्मा अपरिवर्तनशील तत्व है। किन्तु वृत्तियों में परिवर्तन के कारण अज्ञान वश अपने को परिवर्तनशील समझ बैठता है। जब साक्षी को साक्षी या विषयी के रूप में अपना ज्ञान हो जाता है, तो उसे साक्षी ज्ञान कहते हैं, किन्तु जब साक्षी को वृत्ति के माध्यम से बाह्य विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है तो उसे वृत्ति कहते हैं। साक्षी का ज्ञान विषयी का ज्ञान है, परवृत्ति ज्ञान विषय का ज्ञान है। शंकराचार्य का यह मानना है कि सभी ज्ञान का लक्ष्य अनुभव ही है। प्रत्यक्ष, अनुमान, एवं श्रुति इत्यादि प्रमाणों का कार्य मात्र इतना ही है कि वे प्रदर्शित करें कि आत्मा अनात्म वस्तुओं से विल्कुल पृथक् है। अनादि, अनन्त तथा नैसर्गिक अध्यास को दूर करना श्रुति आदि प्रमाणों का कार्य होता है। अतः शंकराचार्य का यह मानना है कि आत्मज्ञान को प्राप्त करने की अपेक्षा अनात्म-बुद्धि की निवृत्ति करना ही प्रमाणों का कार्य होता है। ज्यों ही अनात्म बुद्धि का निरास होता है, हम आत्मज्ञान को प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं, जो हमारा स्वभाव है। यही शंकराचार्य के अनुसार अपरोक्षानुभूति है।

4.2 शंकराचार्य के अनुसार ज्ञान के भेद

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त के अनुसार ज्ञान दो प्रकार का होता है – प्रथम अपरोक्ष ज्ञान और द्वितीय परोक्ष ज्ञान।

4.2.1 अपरोक्ष ज्ञान

शंकराचार्य ने अपने अद्वैत वेदान्त में यह स्पष्ट किया है कि शाश्वत चैतन्य केवल एक ही है, किन्तु उपाधियों के भेद के कारण वह अनेक प्रकार का प्रतीत होता है, उदाहरण के लिए घटादि विषयों से अवच्छिन्न विषय चैतन्य अन्तःकरण की वृत्ति से अवच्छिन्न होकर चैतन्य प्रमाण चैतन्य तथा स्वयं अन्तःकरण से अवच्छिन्न प्रमातृ चैतन्य कहा जाता है, उनका यह कहना है कि बाह्य –प्रत्यक्ष में तैजस् मन, इन्द्रिय द्वारा बाहर आकर विषय पर प्रमेय के पास पहुंचकर उसका आकार ग्रहण कर लेता है। इन आकारों में होने वाला अन्तःकरण का परिणाम ही अन्तःकरण की वृत्ति कही जाती है। इस प्रकार प्रमाण –चैतन्य और विषय चैतन्य

का तादात्म्य स्थापित हो जाता है। पुनः अन्तःकरण की वृत्ति में नित्य चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है, जिसे चिदाभास कहते हैं। वास्तविकता यह है कि अन्तःकरण वह अधिष्ठान है, जहाँ प्रमेय चैतन्य, प्रमाण चैतन्य या प्रमातृ चैतन्य के बीच तादात्म्य स्थापित होता है, तभी अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति होती है। अपरोक्ष ज्ञान और ऐन्द्रिक ज्ञान दोनों समान नहीं है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान के अतिरिक्त भी अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। शंकराचार्य उदाहरण देते हुए यह कहते हैं कि हमें जीवात्मा का भी ज्ञान अपरोक्ष ज्ञान से प्राप्त होता है, पर इसे इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि अपरोक्षता का लक्षण क्या है ? इसके उत्तर में अद्वैत वेदान्ती शंकराचार्य का कहना है कि इन्द्रियजन्य ज्ञान अपरोक्षता का लक्षण नहीं है, वरन् प्रमाण चैतन्य व प्रमेय चैतन्य का तादात्म्य ही अपरोक्षता का लक्षण है।

4.2.2 शंकराचार्य के अनुसार अपरोक्ष ज्ञान की प्रागपेक्षाएँ

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त के अनुसार अपरोक्ष ज्ञान की तीन प्रागपेक्षाएँ हैं— योग्यता, वर्तमानता एवं सन्निकृष्टता।

(1) **योग्यता** — जब तक किसी वस्तु में हमारे अपरोक्ष ज्ञान होने की क्षमता नहीं है, तब तक वह वस्तु हमारे ज्ञान का विषय नहीं बन सकती। यह अपरोक्ष या अपरोक्ष प्रत्यक्ष ज्ञान को श्रुति प्रमाण से पृथक् करती है। मंज और कुर्सी में प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय होने की योग्यता है, पर धर्म और अधर्म हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं हो सकते, क्योंकि उनमें प्रत्यक्ष ज्ञान होने की योग्यता नहीं है। वे श्रुति ज्ञान के ही विषय हो सकते हैं, जो इन्द्रियातीत विषयों से सम्बन्धित होता है।

(2) **वर्तमानता** — प्रत्यक्ष विषय में वर्तमानता का होना आवश्यक है। भूतकाल या भविष्यकाल का प्रत्यक्ष या अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। यह लक्षण प्रत्यक्ष को स्मृति से पृथक् करता है।

(3) **सन्निकृष्टता** — प्रत्यक्ष ज्ञान तभी संभव हो सकता है जबकि विषयी और विषय के बीच परस्पर सन्निकर्ष हो। जिस वस्तु के माध्यम से विषयी और विषय के बीच परस्पर सम्बन्ध स्थापित होता है उसे 'वृत्ति' कहते हैं। वाह्य वस्तुओं के ज्ञान में विषयी और विषय भिन्न-भिन्न देश में अवस्थित होते हैं और वृत्ति दोनों का अधिष्ठान होती है। जब वृत्ति और वस्तु का तादात्म्य होता है तभी प्रत्यक्ष की उत्पत्ति होती है।

4.2.3 परोक्ष ज्ञान

शंकराचार्य या प्रतिपादित करते हैं कि वाह्य वस्तुओं के ज्ञान में योग्यता, वर्तमानता एवं सन्निकृष्टता की उपस्थिति अनिवार्य है। अपरोक्ष ज्ञान की इन तीन प्रागपेक्षाओं में यदि एक या एक से अधिक प्रागपेक्षाएँ विद्यमान न हों तो वह परोक्ष ज्ञान कहा जाएगा। उदाहरण के लिए दीवाल के उस पार की वस्तुओं का ज्ञान परोक्ष ही होगा, क्योंकि हमारी वृत्ति या अन्तःकरण दीवाल के उस पार जाकर उनका स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकता। उसमें योग्यता तथा वर्तमानता तो है किन्तु सन्निकृष्टता का अभाव है। इसीलिए ऐसा ज्ञान परोक्ष ज्ञान की कोटि में आता है।

4.3 चैतन्य अन्य अवस्थाओं में प्राप्त ज्ञान

शंकराचार्य का यह मानना है कि हमें केवल जागृत अवस्था में ही ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, चैतन्य की अन्य अवस्थाओं में भी हमें किसी न किसी प्रकार के

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में तर्क की भूमिका

ज्ञान की प्राप्ति होती है। आत्मा कभी भी ज्ञान से रहित नहीं होता है। इसलिए शंकराचार्य ने अद्वैत वेदान्त में चैतन्य की चार अवस्थाओं के अनुरूप भी ज्ञान रहने की बात स्वीकार्य की है। उनका यह कहना है कि जागृत अवस्था में व्यवहारिक जगत का ज्ञान प्राप्त होता है। स्वप्नावस्था में मानसिक सत्ताओं का ज्ञान प्राप्त होता है। सुषुप्तावस्था में अविद्या अपनी आवरण शक्ति तत्व के वास्तविक स्वरूप को ढक लेती है और इस अवस्था में नामरूप का अभाव तथा व्यक्तित्व का सातत्य रहता है। इस अवस्था में आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित होता है। चैतन्य की अन्तिम अवस्था तुरीयावस्था है, जिसे मोक्ष की अवस्था कह सकते हैं। इसमें सभी प्रकार के अज्ञान का अभाव रहने के कारण इसे आनन्द की अवस्था कहते हैं और यही मोक्ष है। चैतन्य की तुरीयावस्था में ही अद्वैत आत्मतत्व का बोध प्राप्त होता है, जिसे अपरोक्षानुभूति कहा जाता है।

4.4 शंकराचार्य के अनुसार आत्मतत्व सभी ज्ञान का आधार है

वेदान्त सूत्र के अपने भाष्य में वे अनुभव के ऐसे सभी दावों पर विचार करते हैं कि क्या अनुभव में कोई ऐसा तत्व है जिसे आधारभूत सत्ता माना जाएँ? शंकराचार्य इस प्रश्न का उत्तर देते हुए यह कहते हैं कि यद्यपि समस्त प्रमेय पदार्थ विश्वास के ही विषय हैं और इसलिए उनमें सन्देह भी हो सकता है किन्तु अनुभव के अन्दर ऐसा कुछ अवश्य हो सकता है, जो उससे परे इन्द्रियातीत हो। शंकराचार्य के अनुसार बोध शक्ति तथा उसके कार्यों से ही ज्ञान सम्पन्न सत्ता की पूर्व कल्पना होती है, जो आत्मा के नाम से जानी जाती है, जो उनसे भिन्न है, स्वयं सिद्ध है तथा जिसके अधीन वे सब हैं। इसीलिए शंकराचार्य यह कहते हैं कि आत्म सम्बन्धी विचार भाव का विषय है। इसका अस्तित्व साक्षात् दर्शन के कारण बताया जाता है। इसकी सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि समस्त प्रमाणों का यही आधार है तथा समस्त प्रमाणों से पूर्व इसकी स्थापना आवश्यक है। तार्किक दृष्टि से यह एक स्वतः सिद्ध आधार तत्व है, हमको इसे स्वतः सिद्ध मान लेना होता है। आध्यात्मिक दृष्टि से आत्म अस्तित्व के भाव के अन्दर नित्यता निर्विकारता और पूर्णता के भाव समाविष्ट हैं। इसीलिए शंकराचार्य आत्मा के स्वरूप के विषय में यह कहते हैं कि 'नित्योपलब्धिस्वरूपत्वात्' अर्थात् आत्मा का यथार्थ स्वरूप नित्य ज्ञान है। पुनः वे कहते हैं कि जो सचमुच में यथार्थ है, वह अपने में सत है और अपने लिए सत् है, यहाँ तक कि आत्मा की यथार्थ सत्ता को स्वीकार करना एक नित्य ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करना है। ब्रह्म की यथार्थता का मूल यह है कि वह प्रत्येक की आत्मा की आधारभूमि है।

4.5 विशुद्ध चैतन्य सर्वोपरि तत्व है

शंकराचार्य के अनुसार विशुद्ध चैतन्य केवल अभिज्ञता है जो सर्वोपरि तत्व है, जिसके अन्दर ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान विषय का कोई भेद नहीं है, जो अनन्त है, अतीन्द्रिय है तथा निरपेक्ष ज्ञान का सारतत्व है। इसका स्वरूप निर्विषयक चैतन्य का है। आत्म सर्वांगरूप में प्रज्ञा के अतिरिक्त कुछ नहीं है। प्रज्ञा ही उसका अनन्य स्वरूप है, जैसे नमक के राशि का स्वरूप उसके नमकीन स्वाद में है। इसीलिए शंकराचार्य यह कहते हैं कि जब हम ऊँचे उठकर अन्तर्ज्ञान तक पहुँचते हैं, जहाँ प्रमाता तथा प्रमेय मिलकर एक हो जाते हैं, हम परमार्थ रूप चैतन्य का साक्षात्कार कर सकते हैं यह परम रूप का दर्शन ही है जो अपना दर्शन स्वयं करता है। यही

सारतत्व प्रत्येक का है जो यह सोचकर कि— “मैं हूँ, जो मैं हूँ” इस प्रकार अपने को जानता है।

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में अपरोक्षानुभूति

4.6 शंकराचार्य के अनुसार परम यथार्थ सत्ता अद्वैत रूप आत्मा है

शंकराचार्य का यह मानना है कि मनुष्य के अन्तस्तल के गहवर में हमारी आत्मा का एक ऐसा अस्तित्व है, जिसके बारे में वह कुछ भी कथन नहीं करता। परम यथार्थ सत्ता अद्वैत रूप आत्मा है। शंकराचार्य का कहना है कि —“परम चैतन्य एक ही है, जो सर्वव्यापी है, जो सबको प्रकाशित करता है यह अन्तःकरण है, इसका परिवर्तित रूप तथा विषय है।”

4.7 शंकराचार्य के अनुसार अन्तःकरण इन्द्रिय व्यापारों का संस्थान है

शंकराचार्य के अनुसार अन्तःकरण इन्द्रिय व्यापारों का केन्द्र स्थान है, वाह्य इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ विषय सामग्री इसे प्राप्त होती है, उसे यह ग्रहण करता है तथा उनकी कमबद्ध व्यवस्था करता है। इसे अपने आप में इन्द्रिय नहीं माना गया है, क्योंकि यदि यह इन्द्रिय होता, तो इसके अपना तथा अपने परिवर्तनों का साक्षात् प्रत्यक्ष ज्ञान न हो सकता इसमें पारदर्शिता का गुण है, जिसके द्वारा इसमें प्रमेय प्रतिबिम्बित होते हैं, जिस प्रकार एक दर्पण में उसकी चमक के कारण हमारे चेहरे उसमें प्रतिबिम्बित है। अतः अन्तःकरण के ही अवधान या अनवधान से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष उत्पन्न होते हैं।

शंकराचार्य के अनुसार ‘प्रज्ञा’ उच्च श्रेणी की शक्ति है। जिसके कारण ही विचार, तर्क, निर्णय तथा आत्म चैतन्य संभव हो सकते हैं। पदार्थों के प्रतिबिम्बित करने की क्षमता अर्थात् उनके विषय में अभिज्ञ होना अन्तःकरण का स्वाभाविक अन्तर्निहित गुण नहीं है, किन्तु आत्मा के साथ सम्बद्ध होने के कारण यह गुण उसमें आ गया है। यद्यपि कहा जाता है कि अन्तःकरण प्रमेय पदार्थों पर अपना प्रकाश डालता है तथा उन्हें प्रतिबिम्बित करता है, तो भी यह आत्मा है जो उसके अन्दर प्रतिबिम्बित होती है। आत्मा ही प्रकाश देने वाली है और अन्तःकरण इसी के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करता है। अन्तःकरण के आकृति में परिवर्तन होता रहता है। उन परिवर्तन को जो विषय का प्रकाश करता है, वृत्ति की संज्ञा दी गयी है। अन्तःकरण की प्रवृत्तियाँ तथा आकृतियाँ चार प्रकार की हैं —संशय (अनिश्चय) निश्चय आत्म चेतना तथा स्मरण एक अन्तःकरण को तब ‘मन’ कहते हैं, जब वह संशय की स्थिति में होता है, उसे बुद्धि या बोधग्रहण की क्षमता कहा जाता है, जब वह निश्चयात्मक स्थिति में होता है, उसे आत्मचैतन्य के रूप में तब जाना जाता है, जब वह अहंकार भी अवस्था में होता है तथा चित्त नाम से तब पुकारा जाता है, जब वह एकाग्रता की ओर स्मरण की स्थिति में होता है। इसलिए बोध का कारण अन्तिम चैतन्य ही एकाकी नहीं है। यह अन्तःकरण की उपाधि से युक्त चैतन्य है। यह अन्तःकरण प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न है और इस प्रकार एक मनुष्य का बोध सब मनुष्यों का बोध नहीं है।

4.8 शंकराचार्य आध्यात्मिक ज्ञान विषयक आदर्शवाद का समर्थन करते हैं

शंकराचार्य इस मत का खण्डन करते हैं कि संसार की वस्तुएँ हमारी कल्पना से उत्पन्न आभासमात्र हैं। वे एक आध्यात्मिक ज्ञान विषयक आदर्शवाद (प्रत्ययवाद) का समर्थन करते हैं, इस अर्थ में ज्ञेय विषय भी आत्मा के रूप हैं। ज्ञेय वस्तु अपने लिए कोई अस्तित्व नहीं रखते हैं और यदि वे मेरे अथवा तुम्हारे चैतन्य के वस्तु-विषय नहीं हैं, तो वे दैवीय चैतन्य के विषय-वस्तु हैं। एक शाश्वत दैवीय प्रत्यक्ष द्रष्टा के कारण संसार की व्यवस्था बनी रहती है। वह सार्वभौम आत्मा, जो सृष्टि का रचयिता है और विश्व की सभी वस्तुओं से अभिज्ञ है। शंकराचार्य के अनुसार वस्तुतः विश्व की सभी विषय-वस्तुएँ अपने स्वरूप में आध्यात्मिक हैं। इस प्रकार आत्मा परम तथ्य है, जो ज्ञान प्राप्त करने वाले विषयी तथा ज्ञात विषय से अतीत है, और यही परम यथार्थ सत्ता है जिसके अतिरिक्त और किसी का अस्तित्व नहीं है।

4.9 शंकराचार्य के अनुसार अपरोक्षानुभूति का स्वरूप

शंकराचार्य के अनुसार अपरोक्षानुभूति के ज्ञान नाम की कोई वस्तु नहीं है, क्योंकि समस्त प्रकार के ज्ञान के बीच यह स्वतः प्रकाशित है। अपरोक्षानुभूति के ग्रहण की प्रक्रिया तथा उसके ज्ञान के मध्यवर्ती कोई अन्य मानसिक वृत्ति नहीं होती है। अपरोक्षानुभूति की चेतना बिना किसी व्यवधान के साक्षात् तथा तात्कालिक होती है। एम मानसिक वृत्ति के बोध ग्रहण में अव्यवहित बौद्धिक अन्तर्ज्ञान होता है इसलिए अपरोक्षानुभूति को स्वयं प्रकाश कहा जाता है, जिसका तात्पर्य है कि वे अपने बोध के विषय स्वयं हैं। अपरोक्षानुभूति अव्यवहित प्रत्यक्ष के रूप में सत्य है और यह उसी साधन के द्वारा प्राप्त होता है, जिससे यह प्राप्त होता है। इसलिए अपरोक्षानुभूति का ज्ञान सत्य का ज्ञान है।

शंकराचार्य के अनुसार अविरोध (अबाध) का भाव ही सत्य की कसौटी है ऐसा ज्ञान जिसके विरोध में कुछ भी न हो वही सत्य है। इसलिए शंकराचार्य के अनुसार सर्वोच्च ज्ञान यथार्थता की अपने प्रति साक्षी है और यह इस तथ्य के द्वारा संभव हो सका है कि ज्ञाता एवं ज्ञान दोनों ही परमार्थ रूप में एक हैं और सत्य है। तार्किक प्रमाण की उत्पत्ति केवल आनुभविक संसार में ही है, जहाँ पर द्रष्टा और दृश्य का परम ऐक्य भाव मनोवैज्ञानिक बाधाओं के रुकावटों के कारण अस्पष्ट रहता है, जिन्हें अविद्याजन्य माना जाता है। तार्किक प्रमाण बाधक आवरणों को नष्ट करने में सहायक होता है और सत्य के स्वयं प्रकाश स्वरूप को प्रकाश में लाता है। शंकराचार्य के अनुसार यथार्थ में विषयी ज्ञाता से भिन्न कुछ भी नहीं है, क्योंकि यथार्थ सत्ता के विषयी (ज्ञाता) में वह सब कुछ समाविष्ट है, जो कुछ संभवतः उसके विषय में हम कह सकते हैं विषयी ज्ञाता के विषय में हम जो कुछ कहते हैं, उस यथार्थ सत्ता से बहुत न्यून है तथा उसका केवल आभासमात्र है। शंकराचार्य का यह मानना है कि विषयी तथा इसके गुणों का विषय के प्रति संक्रमण करना तार्किक दृष्टि से असत्य है, क्योंकि वे एक के सत् तथा गुणों का दूसरे में संक्रमण कर देते हैं। इसीलिए उनका मानना है कि ज्ञान के समस्त साधन तभी तक प्रामाणिक हैं, जब तक निरपेक्ष सत् की प्राप्ति नहीं हो जाती और इस प्रकार परिमित ज्ञान का सापेक्ष महत्व स्पष्ट रूप से अभिव्यंजित नहीं होता। वस्तुतः हमारा समस्त ज्ञान अज्ञान है और उस सबका निराकरण कर देने पर जिसे उसके

ऊपर बलात् आरोपित किया जाता है, निरपेक्ष चैतन्य को निश्चय पूर्वक जान लेने का नाम ज्ञान है।

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में अपरोक्षानुभूति

शंकराचार्य के अनुसार आत्मा का सत्य ज्ञान किसी भी आकृति तथा वृत्ति से रहित है। इसीलिए शंकराचार्य का यह मानना है कि अध्यास हमें एकमात्र निरपेक्ष सत् को विषय-विषयी सम्बन्ध के रूप में विभक्त करने के लिए प्रेरणा देता है, जो मानवीय मास्तिष्क की ही अपनी रचना का परिणाम है। इस अध्यास को, जिसके कारण विषयी तथा विषय जगत् की उत्पत्ति होती है, अनादि, अनन्त, नैसर्गिक मिथ्या प्रयत्नरूप तथा जीवात्माओं के कर्तृत्व सुखोपभोग और क्रियाशीलता का कारण बताया गया है और यह सबके ऊपर आधिपत्य जमाये हुए है। इसीलिए शंकराचार्य का यह कहना है कि सार्वभौम यथार्थसत्ता अपनी पूर्णता तथा जटिलता के कारण एक तथा निर्दोष मास्तिष्क को स्वतः सिद्ध मान लेती है और वह ईश्वर है जो विश्व के उन भागों को भी धारण करता है, जो हमारी दृष्टि से बाहर और अप्रत्यक्ष है। हमारा सांसारिक अनुभव यह संकेत करता है कि एक ऐसा प्रकृति तत्व है, जिसकी विचार के लिए आवश्यकता है, किन्तु वह ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे आनुभविक प्रमाणों द्वारा जाना जा सके। मनुष्य होने के नाते हम मानवीय विधि से ही विचार करते हैं। सार्वभौम यथार्थसत्ता को एक केन्द्रीय व्यक्तित्व अथवा विषयी के रूप में माना गया है तथा समस्त जगत् विषय रूप है। यह ऐसा संश्लेषण है, जो तर्क के द्वारा प्राप्त होता है, किन्तु इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। यह विचार का तात्कालिक विषय नहीं है। इसे हमारे अनुभव का सबसे उच्च श्रेणी का संश्लेषण मान लिया गया है और जब तक इसी प्रकार की रचना का अन्य अनुभव भी है, यह मान्यता बनी रहेगी। यही कारण है कि शंकराचार्य का यह कहना है कि यथार्थ सत्ता अपने लिए सदा ही विद्यमान है और इसलिए उसे अपने विषय में विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

4.10 शंकराचार्य के अनुसार अपरोक्षानुभूति सर्वोपरि आत्मा के सत्य का साक्षात्कार है

शंकराचार्य का यह कहना है कि आन्तरिक दृष्टि रूप चेतनता की यथार्थता को मानते हैं, जिसे अनुभव कहते हैं और जहां विषयी और विषय के भेद पाये जाते हैं और सर्वोपरि आत्मा के सत्य का साक्षात्कार होता है। यह एक वर्णनातीत अनुभव है, जो विचार तथा वाणी से परे है और जो हमारे समस्त जीवन में परिवर्तन ला देता है एवं दैवी उपस्थिति का निश्चय करता है। यह ऐसे चैतन्य की अवस्था है जो तब आती है, जब मनुष्य अपने सब प्रकार से सीमित अवस्थाओं से मुक्त कर लेता है, जिसमें बुद्धि भी सम्मिलित है। यह साक्षात्कार या व्यवधान रहित प्रत्यक्ष है, जिसकी अभिव्यक्ति उस अवस्था में होती है जबकि अविद्या का उच्छेद हो जाता है और मनुष्य यह जान लेता है कि आत्मा और जीव एक है। इसे सम्यक् ज्ञान (निर्दोष ज्ञान) सम्यक दर्शन (निर्दोष अन्तर्दृष्टि) भी कहा जाता है। सम्यकज्ञान तो अपने लिए आवश्यक चिन्तन सामग्री के ऊपर बल देता है, किन्तु सम्यगदर्शन अन्तः साक्षात्कार की अव्यवहिता की ओर निर्देश करता है, जिसमें परम यथार्थ सत्ता साक्षात् ईक्षण या ध्यान का विषय है। शंकराचार्य का यह मानना है कि हम यथार्थ विषयों का भी ध्यान कर सकते हैं, किन्तु उनका अनुभव नहीं कर सकते। इस प्रकार शंकराचार्य का अनुभव आदर्शीकृत कल्पना से भिन्न है। कहा जाता है कि योगी समाधिस्थ अवस्था में ईश्वर को देखता है, जिसकी व्याख्या करते हुए शंकराचार्य कहते हैं 40क 140 अपने को पवित्र ध्यान में निमग्न कर देता है। शंकराचार्य आर्षज्ञान को स्वीकार करते हैं, जिसके द्वारा इन्द्र तथा बामदेव ने

4.11 शंकराचार्य के अनुसार अद्वैतात्मक अस्तित्व अन्तस्तम का अनुभव है

शंकराचार्य के अनुसार अद्वैतात्मक अस्तित्व अन्तस्तम अनुभव है, जिसके ऊपर हम जो कुछ भी अतीन्द्रिय जगत के विषय में जानते हैं, तथा विश्वास रखते हैं, वह निर्भर करता है। उनके अनुसार अन्तर्ज्ञान का विषय कोई व्यक्तिगत कल्पना नहीं है और न ज्ञाता के मन में विषयनिष्ठ अमूर्तभाव ही है। यह एक यथार्थ विषय है जिस पर हमारे ज्ञान अथवा अज्ञान का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यद्यपि इसकी यथार्थता देश-काल से बद्ध विशिष्ट विषयों की यथार्थता से कहीं उच्च कोटि की है, जो सदा रहने वाले प्रवाह से सम्बद्ध है और इसलिए जिसे सही अर्थों में यथार्थ नहीं माना जा सकता है। इसीलिए शंकराचार्य का यह कहना है कि आत्म-विषयक साक्षात्कार केवल ऐसे ही चित्त को होता है, जो इसके लिए तैयार हों। शंकराचार्य का यह कहना है कि सत्य का एक अन्तर्निहित तथा सार्वभौम स्वरूप है, जो किसी व्यक्ति के और यहाँ तक कि ईश्वर के भी ऊपर निर्भर नहीं है। उनका यह मानना है कि चूँकि अन्तर्दृष्टि के द्वारा प्राप्त ज्ञान किसी अन्य वस्तु के विपरीत सिद्ध नहीं होता, इसलिए यह सर्वोच्च ज्ञान है। शंकराचार्य यह कहते हैं कि— “अन्तर्दृष्टि तथा बुद्धि अनन्त यथार्थ सत्ता तथा शान्त मन के बीच जो दरार पड़ी हुई है, उसकी ओर अनुभव और अध्यास का संकेत करते हैं।”

शंकराचार्य का कहना है कि यथार्थ सत्ता उपस्थित है, वस्तुनिष्ठ है और सदा विद्यमान रहने वाली है। वह इस बात की प्रतीक्षा करती है कि कोई उसका साक्षात्कार करे, ऐसे मन से जो उसको ग्रहण कर सके। इसीलिए वे कहते हैं कि वस्तुतः अन्तर्दृष्टि या आध्यात्मिक अनुभव कुछ व्यक्तियों तक ही सीमित है, यद्यपि यह सार्वभौम सम्पत्ति है, फिर भी इसके साक्षात्कार के लिए ‘अविद्याकल्पित भेदनिवृत्ति’ आवश्यक है। शंकराचार्य का यह स्पष्ट रूप से कहना है कि जब भ्रान्त विचार प्रकाश में आ जाता है तो हम यथार्थ सत्ता तक पहुँच जाते हैं। यदि यह प्रश्न किया जाए कि हम अविद्या से विद्या की ओर कैसे पहुँचते हैं जो एक अनुचित प्रश्न है, क्योंकि जब भ्रान्ति नष्ट हो जाती है, तो सत्य जो स्वतः पूर्ण है प्रकाश में आ जाता है, तो इससे अधिक उत्तम उत्तर और नहीं हो सकता कि ईशकृपा ही साधन है। वास्तविकता यह है कि विशुद्ध दृष्ट शक्ति ईश्वर की कृपा से फिर लौट आए।

शंकराचार्य शांकरभाष्य में कहते हैं कि—‘सर्वोध्यात्मास्तित्वं प्रत्येति न नाहमस्मीति’ अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति अपनी आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में अभिज्ञता रखता है और यह कोई नहीं सोचता कि मैं नहीं हूँ। इसीलिए ड्यूसन्स ने ‘सिस्टम आफ वेदान्त’ में यह विचार व्यक्त करते हैं कि चूँकि जीवात्मा, जो अज्ञान की दशा में आत्मा को कर्मेन्द्रियों (जो शरीर के रूप में प्रकट होती है) से पृथक् करने में असमर्थ है और अविद्या रूपी अन्धकार के द्वारा उस सर्वोच्च आत्मा को नहीं देख पाती, जो कार्य का अधीक्षक है, प्राणिमात्र में निवास करता है तथा सबके ऊपर दृष्टि रखता है। ईश्वर है जो आत्मा का भी कारण है, जिससे और जिसकी आज्ञा से संसार की सृष्टि होती है अर्थात् सब कर्मों का सम्पादन और फलोपभोग होता है तथा उसकी कृपा से ही ज्ञान उत्पन्न होता है और इस ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है। आगे वे कहते हैं कि यद्यपि ईश्वर तथा आत्मा का तादात्म्य छिपा हुआ है, तो

भी एक प्राणी जब निरन्तर चिन्तन करता है तथा सर्वोच्च ईश्वर की ओर पहुंचने का प्रयत्न करता है, जिस प्रकार से एक ऐसा व्यक्ति है, जिसकी दृष्टि नष्ट हो गयी है, किन्तु औषधियों के प्रयोग से उसकी दृष्टि वापस आ चुकी है, उसी प्रकार जिस जीवात्मा के अन्दर ईश्वर कृपा से पूर्णता प्राप्त करा देती है, यह अभिव्यक्ति होती किन्तु स्वभावतः हर प्राणी में नहीं। ड्यूसन्स प्रश्न उठाते हैं कि ऐसा क्यों? पुनः प्रश्न का उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि उसके द्वारा यानी ईश्वर के द्वारा जो कारण रूप है, आत्मा का बन्धन और मोक्ष सम्पन्न होता है। बन्धन उस अवस्था में जबकि वह ईश्वर तत्व को ही नहीं समझ पाता और मोक्ष तब जबकि यह उसे समझ लेता है। यही ड्यूसन्स के अनुसार शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में अपरोक्षानुभूति है।

शंकराचार्य भी आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक डेकार्ट की ही भाँति आत्मा की साक्षात् निश्चितता के अन्दर सत्य का आधार पाते हैं, जिसे अन्य पदार्थों के विषय में उत्पन्न होने वाले संशय स्पर्श नहीं कर सकते। यदि आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान न होता, तब प्रत्येक व्यक्ति यह सोचता है कि 'मैं नहीं हूँ' किन्तु यह सत्य नहीं है। शंकराचार्य यह कहते हैं की आत्मा की सत्ता चेतना के प्रवाह की पूर्ववर्ती है, सत्य तथा असत्य से भी पूर्ववर्ती है, यथार्थता और भ्रान्ति तथा पुण्य और पाप से भी पूर्ववर्ती है। वास्तविकता यह है कि ज्ञान के समस्त साधन अपने प्रमाण आत्मा के अस्तित्व पर ही निर्भर करते हैं और चूँकि इस प्रकार अनुभव अपना प्रमाण स्वयं है, इसलिए आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है।

शंकराचार्य का तर्क है कि हमारे लिए विचार के द्वारा यद्यपि सत्ता (ब्रह्म या आत्मा) को जानना संभव नहीं है, क्योंकि विचार स्वयं अनात्म के क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाले प्रवाह का एक भाग है। परन्तु उनका यह भी मानना है कि हम आत्मा को विचार के क्षेत्र से बाहर भी नहीं कर सकते क्योंकि इसके बिना कोई भी अनुभव संभव नहीं है। शंकराचार्य के अनुसार यह आत्मा सम्बन्धी प्रत्यय साक्षात् अनुभूति का विषय है। इसीलिए वे कहते हैं कि —'अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्माप्रसिद्धः'। उनका यह भी कहना है कि —'आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात् प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात् सिद्धयति' अर्थात् आत्मा के प्रमाणों द्वारा सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि समस्त प्रमाणों का यही आधार है तथा समस्त प्रमाणों के पूर्व इसकी स्थापना आवश्यक है। तार्किक दृष्टि से यह स्वतः सिद्ध आधार तत्व है और हमें इसे स्वतः सिद्ध मान लेना होता है इसीलिए वे कहते हैं कि नित्य आत्मा जो कर्त्ता से भिन्न है, क्योंकि कर्त्ता अहं प्रत्यय का विषय है, सब प्राणियों में साक्षी रूप से उपस्थित है, एक समान, एकाकी सत्ता है, जिसका बोध ग्रहण कोई वेद (विधि—काण्ड) से नहीं कर सकता अथवा अन्य भी किसी पुस्तक से नहीं कर सकता, जो तर्क पर आश्रित हो। वह 'सर्वस्यात्मा' अर्थात् समस्त जगत् की आत्मा है और इसलिए उसका कोई निराकरण नहीं कर सकता, क्योंकि जो निषेध करता है, उसकी भी वह आत्मा है।

शंकराचार्य के अनुसार अनुभूति पुंज और चेतनता की धाराएं उठती और गिरती हैं, प्रकट होती हैं और विलुप्त होती है, किन्तु ज्ञान के विषय में जब परिवर्तन हो जाता है, तब भी ज्ञान परिवर्तित नहीं होता, क्योंकि उसका अस्तित्व भूत, वर्तमान और भविष्य में भी है एवं उसका सारतत्व सदा से उपस्थित है—'सर्वदावर्तमानस्यभावत्वात्'। शंकराचार्य का कहना है कि हमें आत्मा के प्रत्यय का ज्ञान तभी हो सकता है, जब हम इसे अनुभव के समस्त तत्वों से पृथक् करके देखते हैं। वास्तविकता यह है कि आत्मा निर्विशेष चिन्मात्र है, जिसके ऊपर शरीर की भस्मीभूत हो जाने का कोई प्रभाव नहीं होता।

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में तर्क की भूमिका

शंकराचार्य का यह स्पष्ट रूप से कहना है कि आत्मा के अन्दर चैतन्य सदा विद्यमान रहता है, उस अवस्था में जब कि कोई ज्ञातव्य विषय उपस्थित न हो। यह विशुद्ध प्रकाश है, व्यापक रूप में ज्योतिष्मान है एवं न केवल हमारे समस्त ज्ञान का आधार है, अपितु हमारी दृष्टि का भी प्रकाश है। तैत्तिरीय उपनिषद् का उद्धरण देते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि—आत्मा है, प्रकाशमान है और प्रसन्नता प्रदायक है। अतएव आत्मा की अपरोक्षानुभूति भी आनन्द की प्रकृति का ही है। सब प्रकार के दुःखों से भुक्ति का नाम आनन्द है। वास्तविकता यह है कि आत्मा अपने अपरोक्षानुभूति में न कुछ त्यागती है और न ही कुछ नवीन प्राप्त करती है, अपितु यथार्थसत्ता की अवगति प्राप्त करती है। शंकराचार्य आत्मा के अन्दर क्रियाशीलता का अभाव मानते हैं, क्योंकि क्रियाशीलता स्वभाव से अनित्य है। आत्मा किसी क्रिया का स्थान नहीं हो सकती, क्योंकि क्रिया जिस वस्तु में रहती है, उसमें कुछ परिवर्तन अवश्य उत्पन्न करती है। सब प्रकार की क्रिया आत्मभाव की पूर्वकल्पना करती है और जहाँ तक हमें ज्ञान है, यह दुःखस्वरूप और इसकी प्रेरक इच्छा है। क्रिया और सुखोपभोग द्वैत भाव पर आधारित है और द्वैतात्मक दृष्टिकोण सर्वोच्च सत्य नहीं है। आत्मा में शरीर आदि प्रतिबन्ध के बिना क्रिया नहीं हो सकती, किन्तु प्रत्येक प्रतिबन्ध अयथार्थ है। इसीलिए शंकराचार्य कहते हैं कि—‘स्वयंअनधिकारिणः’ अर्थात् आत्मा में कोई कर्तृत्व नहीं है।

4.12 निष्कर्ष

शंकराचार्य शांकरभाष्य में कहते हैं कि—‘सत्यत्वम् स्वमहिमाप्रतिष्ठितत्वम् सर्वगतत्वम्’ अर्थात् आत्मा सत्य है, अपने ही विशिष्टता से प्रतिष्ठित है, सर्वव्यापक तथा सभी लोगों की आत्मा है। वास्तविकता यह है कि शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित आत्मा जीवात्मा नहीं है जो ज्ञाता और कर्त्ता है। शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित आत्मा न तो शरीरधारी जीवात्मा है और न ही ऐसी आत्माओं का एकीकृत पुंज है, जिसे ज्ञाता और कर्त्ता के रूप में माना जाएँ, क्योंकि ऐसी आत्माओं को वे सार्वभौम आत्मा के ऊपर निर्भर मानते हैं। इसीलिए शंकराचार्य का कहना है कि आनुभविक अर्थ में यह ऐसी वस्तु नहीं है, जिसका निर्देश हम शब्दों द्वारा कर सकें और न ही यह गाय के समान कोई प्रमंय पदार्थ है, जिसका ज्ञान ज्ञान के साधारण साधन के द्वारा हो सके। आत्मा को सदा निष्क्रिय कहा गया है, जिसके कारण उसके स्वरूप का ठीक-ठीक वर्णन नहीं हो सकता। शंकराचार्य का यह मानना है कि तार्किक दृष्टि से आनुभविक आत्मा ही एकमात्र यथार्थ सत्ता है और यह विशुद्ध आत्मा का केवल आभास मात्र है। वस्तुतः जब हम लौकिक ज्ञान से ऊपर उठकर अपरोक्षानुभूति तक पहुँचते हैं जहाँ प्रमाता और प्रमंय मिलकर एक हो जाते हैं, हम परमार्थ रूप चैतन्य का साक्षात्कार कर सकते हैं। यह परम ब्रह्म का दर्शन ही है, जो अपना दर्शन स्वयं कराता है। यही सारतत्व प्रत्येक मनुष्य का है जो यह सोचकर ‘में हूँ’, जो मैं हूँ इस प्रकार अपने को जानता है। यह नितान्त रूप से यथार्थ है, जिसे कोई भी अनुभव कभी भी परिवर्तित नहीं करेगा। इसका कोई परिणाम नहीं है। हम इसके विषय में यह नहीं सोच सकते कि यह विस्तृत हो सकती है या विभक्त हो सकती है। यह सदा तथा सब कालों में एक समान है। इसमें अनेकत्व नहीं है, क्योंकि यह जितना एक में है उतना ही अन्य में भी है। अतएव हमारे अन्दर सार्वभौम आत्मा की उपस्थिति के कारण से ही अनुभव संभव है और सार्वभौम आत्मा के इस स्वरूप से अभिज्ञ होना अपरोक्षानुभूति है।

प्रश्नावली

शंकराचार्य के अद्वैत
वेदान्त में अपरोक्षानुभूति

लघु उत्तरीय प्रश्न—

1. शंकराचार्य के अनुसार अपरोक्ष ज्ञान क्या है?
2. विशुद्ध चैतन्य सर्वोपरितत्व कैसे है?
3. अपरोक्षानुभूतिका का स्वरूप क्या है?
4. अंतःकरण को स्पष्ट करें।
5. आत्मतत्व सभी ज्ञान का आधार कैसे है?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न—

1. अपरोक्षानुभूतिपर एक निबन्ध लिखिए।
2. "शंकराचार्य के अनुसार अद्वैतात्मक अस्तित्व अन्तस्तम का अनुभव है।" व्याख्या करें।



MAPH-03

शंकराचार्य का दर्शन

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

खण्ड – 5

अन्य सम्प्रदायों की समीक्षा

इकाई – 1 159–166

सांख्य की आलोचना

इकाई – 2 167–176

शंकराचार्य द्वारा वैशेषिक की आलोचना

इकाई – 3 177–184

बौद्ध दर्शन के सर्वास्तिवाद का खण्डन

इकाई – 4 185–190

शंकराचार्य के द्वारा बौद्ध दर्शन के योगाचार की आलोचना

इकाई – 5 191–198

शंकराचार्य द्वारा माधमिक (शून्यवाद) की आलोचना

इकाई – 6 199–204

शंकराचार्य द्वारा जैन मत की आलोचना

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

एम.ए.पी.एच.—03 (MAPH-03)

सरंक्षक मार्गदर्शक

प्रो.के.एन. सिंह — कुलपति, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

विशेषज्ञ समिति

- डॉ.आर.पी.एस. यादव — निदेशक, मानविकी विद्याशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
- प्रो. रामलाल सिंह (से.नि.) — दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
- प्रो.दीप नारायण यादव — दर्शनशास्त्र विभाग, पं० दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
- प्रो. द्वारिका — विभागाध्यक्ष, पं० दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
- प्रो. सभाजीत यादव — दर्शनशास्त्र विभाग, महात्मागांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी।
-

लेखक

- डॉ. श्यामकान्त — असिस्टेंट प्रोफेसर, आर्यकन्या डिग्री कालेज, इला० वि.वि. प्रयागराज।
- डॉ. अतुल कुमार मिश्र — शैक्षिक परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
-

सम्पादक

- प्रो. जटाशंकर — पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
-

परिभाषक

- प्रो. आर.पी.एस. यादव — निदेशक मानविकी विद्याशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
-

समन्वयक

- डॉ. अतुल कुमार मिश्र — शैक्षिक परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
-

2020 (मुद्रित)

© ३०२० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज—211021

ISBN-

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को राजर्षि अण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिनियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठ्य सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन — उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज— 211021

प्रकाशक — कुलसचिव, डॉ. अरुण कुमार गुप्ता ३०२० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज —2020

मुद्रक — चंद्रकला यूनिवर्सल प्राइवेट लिमिटेड, 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, प्रयागराज (इलाहाबाद)

इकाई-1

सांख्य की आलोचना

संरचना

- 1.0 उद्देश्य
- 1.1. प्रस्तावना
- 1.2. रचनानुपत्तेश्चनानुमानम्
- 1.3. 'प्रवृत्तेश्चानुपत्तेर्नानुमानम्'
- 1.4. 'पयोम्बुवच्चेत्त्रापि'
- 1.5. 'व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात्'
- 1.6. 'अन्यच्चभावाच्च न तृणादिवत्'
- 1.7. 'अभ्युपगमेष्यार्थाभावात्'
- 1.8. 'पुरुषाश्वभवदिति चेत्तथापि'
- 1.9. 'अंगित्वानुपपत्तेश्च'
- 1.10. 'अन्यथानुमित्तौ च ज्ञ शाक्तवियोगात्'
- 1.11. 'विप्रतिषेधाच्चासामंजसम्'
- 1.12. निष्कर्ष

1.0 उद्देश्य

शंकराचार्य ने सांख्य को वेदान्त का 'प्रधानमल्ल' बताया है। उनकी मान्यता यह है कि यद्यपि सांख्य महर्षि कपिल द्वारा उपदिष्ट और शिष्ट-परिगृहीत है, तथापि द्वैतवादी होने के कारण सांख्य को श्रुतिमूलक नहीं माना जा सकता। श्रुति एवं स्मृति में सांख्य एवं योग शब्द कमशः ज्ञान और कर्म के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। सांख्य मत में अचेतन प्रकृति अनुमानिक है एवं श्रुति में चेतन ब्रह्म को ही जगत् का कारण बताया गया है। शंकराचार्य ने यह स्पष्ट किया है कि तर्क एवं युक्तियों के आधार पर भी सांख्य मत खण्डित हो जाता है। सांख्य का प्रमुख दोष उसका द्वैतवाद है। अचेतन प्रकृति जगत् की रचना नहीं कर सकती। सृष्टि के लिए आवश्यक मूल प्रवृत्ति अर्थात् गुण साम्यावस्था की गुण वैषम्यावस्था परिणति बिना चेतन तत्व के सहयोग के नहीं हो सकती। सांख्य प्रकृति को प्रयोजन मूलक मानता है। प्रकृति पुरुष के भोग और अपवर्ग के प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए सृष्टि करती है। किन्तु जड़ और अचेतन प्रकृति यह प्रयोजन कैसे सिद्ध कर सकती है? जब प्रकृति अचेतन है, तो उसका कोई प्रयोजन हो नहीं सकता तथा पुरुष भी निष्क्रिय और असंग है। इसलिए उसका भी कोई प्रयोजन नहीं हो सकता। प्रकृति एवं पुरुष का संयोग कराने वाला कोई तीसरा तत्व सांख्य को

स्वीकार नहीं है, ऐसी स्थिति में इसका संयोग कैसे हो सकता है? शंकराचार्य ने अपने सांख्य मत की आलोचना में सांख्य के विरुद्ध विभिन्न प्रश्नों का कोई सम्यक् उत्तर न मिलने के आधार पर सांख्य मत को एक अनुचित एवं अतार्किक सिद्धांत माना है।

1.1 प्रस्तावना

शंकराचार्य ने सर्वप्रथम सांख्यमत, विशेषकर प्रधानकारणवाद का खण्डन कर सांख्य को वेदान्त का 'प्रधानमल्ल' बताया है। शंकराचार्य ने यह स्पष्ट किया है कि यद्यपि वेदान्तशास्त्र वेदान्तवाक्यों का ब्रह्म तत्त्वपरक व्याख्या करने के लिए प्रवृत्त हुआ है और तर्कशास्त्र के समान केवल युक्तियों से किसी सिद्धांत को सिद्ध करने या दूषित करने के लिए प्रवृत्त नहीं हुआ है, तो भी वेदान्त वाक्यों को व्याख्यान करने वाले सम्यक दर्शन के प्रतिपक्षी सांख्य आदि दर्शनों का निराकरण करना चाहिए। वेदान्तार्थ का निर्णय तत्व ज्ञान के लिए है, किन्तु सांख्यादि अपने पक्ष की स्थापना करने के लिए वेदान्त-वाक्यों का उदाहरण देकर स्वपक्ष के अनुसार उनकी योजना करते हुए व्याख्यान करते हैं। परन्तु सांख्य का जो व्याख्यान है, वह व्याख्यानाभास है, सम्यक व्याख्यान नहीं है। शंकराचार्य का यह कहना है कि द्वैतवादी होने के कारण सांख्य को श्रुतिमूलक नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त अचेतन प्रकृति अनुमानित है एवं सांख्य दर्शन प्रयोजनवादी है। ऐसी स्थिति में अचेतन प्रकृति एवं निष्क्रिय एवं असंग पुरुष में किसी प्रकार का संयोग संभव ही नहीं होगा और सृष्टि के विकास की व्याख्या ही असंभव हो जाएगी। अतएव सांख्य की अचेतन प्रकृति को जगत्कारण नहीं माना जा सकता।

सर्वप्रथम शंकराचार्य सांख्य मत, विशेषकर उसके प्रधान कारणवाद को स्पष्ट करते हैं। सांख्य मत के अनुसार प्रकृति या प्रधान से ही जगत् की उत्पत्ति हुई है। नियम यह है कि जो कार्य जिससे अन्वित होते हैं, वे उस उपादान कारण से उत्पन्न होते हैं। जगत् रूप कार्य त्रिगुणात्मक है। अतः कारण भी त्रिगुणात्मक होना चाहिए। विकारों के परिणाम समन्वय से शक्ति की प्रवृत्ति से और कारण से विचित्र कार्य के विभाग और अविभाग से प्रधान सिद्ध होता है। जगत् या सृष्टि के कारण प्रधान की सिद्धि के लिए वे एक दूसरा ही तर्क प्रस्तुत करते हैं, पृथ्वी आदि विकारों का कारण अव्यक्त है, क्योंकि वे घटादि के समान परिमिति है। जिस प्रकार घटादि कार्यों की मृत्तिका रूप कारण शक्ति से प्रवृत्ति होती है। उसी प्रकार महद अहंकार इत्यादि विकारों की भी कारण शक्ति से प्रवृत्त होनी चाहिए, वह शक्तियुक्त कारण प्रधान है। कारण से विचित्र कार्य की उत्पत्ति होती है। मृत्तिका से घटादि की उत्पत्ति होना विभाग है, पर घटादि की मृत्तिका रूप कारण में लीन हो जाना अविभाग है। विश्व की एकता प्रधान कारण की ओर संकेत करती है। अतः सांख्य के अनुसार अव्यक्त प्रधान जगत् का कारण है।

शंकराचार्य सांख्य मत के पूर्व पक्ष का वर्णन करने के पश्चात् अपने उत्तर पक्ष को प्रस्तुत करते हुए सांख्य के प्रधान कारणवाद का खण्डन करते हैं। शंकराचार्य ने सांख्य मत के खण्डन के लिए वादरायण के 'ब्रह्मसूत्र' के सूत्रों का ही उपयोग करते हैं, जो इस प्रकार है—

1.2 रचनानुपत्तेश्चनानुमानम्

शंकराचार्य के अनुसार प्रधान से जगत् की उत्पत्ति सिद्ध नहीं की जा सकती। यदि जगत् का उपादान कारण प्रधान मान लिया जाएँ, तो घट आदि दृष्टान्तों में साध्य अप्रसिद्ध हो जाएगा क्योंकि मृत्तिका आदि चेतनों से अधिष्ठित होकर ही घट आदि कार्यों के उपादान होते हैं। शंकराचार्य यह कहते हैं कि—‘विचित्ररचनात्मकं कार्य चेतनाधिष्ठिताचेतनाप्रकृतिकं कार्यत्वात्’ अर्थात् गृह, घट इत्यादि कार्यों में विचित्रता चेतन बुद्धिमान शिल्पियों द्वारा ही संभव होती है, अचेतन कारण द्वारा नहीं। सृष्टि में हमें जो व्यवस्था, क्रम, समन्वय, नियम तथा विधान दिखायी देता है, वह अचेतन प्रधान द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता इसके लिए चेतन कारण की ही आवश्यकता होती है। ईश्वर से अधिष्ठित अनादि त्रिगुणात्मक माया जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकती।

1.3 ‘प्रवृत्तेश्चानुपत्तेर्नानुमानम्’

सूत्रार्थ को स्पष्ट करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि अचेतन प्रधान की साम्यावस्था की प्रच्युतिरूप प्रवृत्ति चेतन के बिना उत्पन्न नहीं हो सकती अतः प्रधान जगत् का कारण नहीं हो सकता अर्थात् प्रवृत्ति की अनुपत्ति होने से प्रधान जगत् का कारण नहीं है। गुणों की प्रवृत्ति चेतनाधिष्ठान पूर्वक होती है, क्योंकि रथादि प्रवृत्ति के समान यह भी प्रवृत्ति है। दृष्ट के आधार पर अदृष्ट की सिद्धि की जाती है। यदि यह कहा जाएँ कि जो प्रवर्तक है, वह स्वरूप से प्रवृत्तिमान है, जैसे अश्वादि। इस प्रकार आत्मा में व्यापक प्रवृत्ति भाव के न होने से व्याप्त प्रवर्तकत्व भी नहीं है अर्थात् आत्मा प्रवृत्तिरहित होने से प्रवर्तक नहीं है। अतः यह कहा जा सकता है कि अचेतन की प्रवृत्ति चेतन से न होकर स्वयं अपनी है। इसके समाधान के लिए वेदान्ती कहते हैं जो प्रवर्तक होता है उसके लिए कोई आवश्यक नहीं है कि वह भी प्रवृत्ति युक्त हो। इस व्याप्ति का अयस्कान्तिमणि एवं रूप में व्यभिचार है। अयस्कान्तिमणि (लौह चुम्बक) प्रवृत्तियुक्त न होते हुए भी प्रवर्तक होता है। रूप प्रवृत्ति युक्त न होते हुए भी चक्षुओं को प्रेरित करता है। अतः ईश्वर प्रवृत्ति युक्त न होते हुए भी माया को प्रेरित करता है।

1.4 ‘पयोम्बुवच्चेत्त्रापि’

सूत्र द्वारा शंकराचार्य यह दिखाते हैं कि जिस प्रकार अचेतन दूध स्वभाव से ही बछड़े के लिए प्रवृत्त होता है और जिस प्रकार अचेतन जल स्वभाव से ही लोगों के लिए बहता रहता है, उसी प्रकार प्रधान जड़ होते हुए भी प्रवृत्तिमान होकर सृष्टि का कार्य करता है। शंकराचार्य एवं उनके अनुयायी वेदान्तियों का यह कहना है कि सांख्यमत का कथन ठीक नहीं क्योंकि चेतन अधिष्ठित दूध और जल में ही प्रवृत्ति होती है ऐसा हम अनुमान करते हैं। दूध और जल में स्वतः प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है। चेतन धेनु की स्नेहेच्छा से दूध प्रवृत्त हो सकता है तथा बछड़े के चूसने से दूध खिंच जाता है। जल के बहने में भी किसी की अपेक्षा नहीं है क्योंकि उसे बहने के लिए नीची भूमि आदि की अपेक्षा है। इस प्रकार चेतन की अपेक्षा सर्वत्र दिखायी देती है। ‘उपसंहारदर्शन्नेति चेन्नक्षीरवद्धि’ इस सूत्र में वाह्य निमित्त की अपेक्षा के बिना भी स्वाश्रय कार्य होता है, ऐसा लोकदृष्टि से दिखाया गया है। शास्त्र दृष्टि से सर्वत्र ईश्वर की अपेक्षा होती है। इसका अपलाप नहीं

1.5 'व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात्'

सूत्र द्वारा शंकराचार्य ने यह बताया है कि प्रधान से भिन्न कर्म आदि सहकारी न होने से और पुरुष के असंग होने के कारण अचेतन प्रधान जगत का कारण नहीं हो सकता। शंकराचार्य सांख्य के मत का उल्लेख करते हुए यह कहते हैं कि सत्व, रज और तम इन तीनों की साम्यवास्था को ही प्रकृति कहा जाता है, उससे भिन्न प्रधान का प्रवर्तक अथवा निवर्तक अन्य वाह्य तत्व नहीं है। यदि यह कहा जाए कि बहुत से पुरुषों का अस्तित्व है जो प्रकृति को प्रवर्तित करते हैं तो यह ठीक नहीं है। पुरुष तो असंग एवं उदासीन है। वह प्रकृति का न तो प्रवर्तक है और न निवर्तक है। वास्तविकता यह है कि ईश्वर जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और महामायामय है वह प्रकृति की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का कारण हो सकता है।

1.6 'अन्यच्चभावाच्च न तृणादिवत्'

सूत्र के द्वारा शंकराचार्य सांख्य मत के पूर्व पक्ष को रखते हुए कहते हैं कि सांख्य मानता है कि जिस प्रकार तृण, पल्लव, जल आदि अन्य निमित्त की अपेक्षा के बिना स्वभाव से ही दूध आदि के रूप में परिणत हो जाते हैं उसी प्रकार प्रधान भी महत आदि के रूप में परिणत हो जाएगा और तृण आदि निमित्त की अपेक्षा नहीं रखते, यह कैसे जानते हो? इससे कि अन्य निमित्त का दर्शन नहीं होता। यदि हम अन्य निमित्त प्राप्त कर सकते हैं तो उसके द्वारा इच्छानुसार तृण आदि लेकर दूध आदि का सम्पादन कर सकते हैं किन्तु हम ऐसा सम्पादन नहीं कर सकते। इसलिए तृण आदि का परिणाम स्वाभाविक है, उसी प्रकार प्रधान का भी परिणाम है।

अद्वैत वेदान्ती इस पर कहते हैं कि तृण आदि का परिणाम स्वाभाविक माना जाता तो तृण आदि के समान प्रधान का भी परिणाम स्वाभाविक माना जाता। परन्तु तृण आदि का स्वाभाविक परिणाम नहीं माना जाता, क्योंकि अन्य निमित्त उपलब्ध है। अन्य निमित्त किस प्रकार उपलब्ध है, क्योंकि अन्यत्र अभाव है, कारण कि धेनु से ही उपयुक्त तृण आदि दूध के रूप में परिणत नहीं होते। यदि इनमें कोई निमित्त न हो तो धेनु के शरीर सम्बन्ध से अन्यत्र भी तृण आदि दूध बन जाएँ और मनुष्य उसे अपनी इच्छानुसार उसको बना ही नहीं सकते, इतने से ही दूध निमित्त रहित नहीं होता, क्योंकि कि कितने ही कार्य मनुष्य से सम्पादन किए जा सकते हैं और कितने दैव से। मनुष्य भी उचित उपाय से तृण आदि का ग्रहण करके दूध का सम्पादन कर ही सकते हैं, क्योंकि पुष्कल दूध की कामना करने वाले पुरुष धेनु को पुष्कल घास चराते हैं और उससे पुष्कल दूध प्राप्त करते हैं। इसलिए तृण आदि के समान प्रधान का परिणाम स्वाभाविक है। इस प्रकार स्पष्ट है कि जिस प्रकार दूध तृण का परिणाम नहीं है उसी प्रकार जगत प्रधान का स्वाभाविक परिणाम नहीं हो सकता।

1.7 'अभ्युपगमैप्यर्थाभावात्'

सूत्र द्वारा शंकराचार्य यह दिखाते हैं कि यदि प्राक्कल्पना रूप में प्रधान की स्वतः प्रवृत्ति मान भी ली जाएँ तो इससे दोष का निराकरण नहीं होगा क्योंकि प्रकृति या प्रधान का कोई प्रयोजन नहीं हो सकता। प्रधान की प्रवृत्ति स्वाभाविक नहीं हो सकती, क्योंकि इससे सांख्य का यह कथन कि प्रधान प्रकृति पुरुष के भोग और मोक्ष के लिए प्रवृत्त होता है अयथार्थ हो जाएगा। इससे सिद्ध हुआ कि प्रधान का कोई प्रयोजन अवश्य है। यह प्रयोजन या तो भोग होगा या मोक्ष होगा अथवा भोग और मोक्ष दोनों होगा। यदि भोग को प्रयोजन मान लिया जाय, तो प्रवृत्ति के पूर्व भी मोक्ष के सिद्ध होने से प्रवृत्ति निष्फल होगी तथा शब्दाब्धि की अनुपलब्धि का प्रसंग उलब्ध हो जाएगा। दोनों को प्रयोजन मानने पर भोग के योग्य प्रधान तन्मात्राओं के अनन्त होने से मोक्ष के अभाव का प्रसंग आ जाएगा। उत्सुकता की निवृत्ति के लिए भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अचेतन प्रधान में उत्सुकता संभव नहीं है और निर्मल, निष्कल पुरुष में ही उत्सुकता नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाएँ कि पुरुष में द्रष्टा शक्ति की स्वाभाविक योग्यता है तथा प्रधान में समर्थन शक्ति की स्वाभाविक योग्यता है। अतः उसके भीतर इन क्रियाओं के लिए स्वाभाविक प्रवृत्ति है, तो दृक् शक्ति के अनुच्छेद (नित्य) के समान सर्ग शक्ति के नित्य होने के कारण मोक्ष के अभाव का प्रसंग उपस्थित न होगा। अतः प्रत्येक दृष्टि से यही सिद्ध होता है कि प्रधान के भीतर उद्देश्यमूलक प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

1.8 'पुरुषाश्वभवदिति चेत्तथापि'

सूत्र द्वारा शंकराचार्य ने यह स्पष्ट दिखाया है कि जैसे दृक् शक्ति सम्पन्न किन्तु प्रवृत्ति गमन शक्ति रहित कोई पंगु पुरुष तथा प्रवृत्ति गमन शक्ति सम्पन्न किन्तु दृक्शक्तिरहित अन्य अन्ध पुरुष के कन्धे पर बैठकर उसे प्रवृत्त करता है अथवा जैसे अयस्कान्तमणि स्वयं अप्रवृत्त होते हुए भी लोहे को प्रवृत्त करता है उसी प्रकार पुरुष भी प्रधान को सृष्टि के लिए प्रवृत्त करता है, ऐसा सांख्य कहता है। परन्तु सांख्य द्वारा इस प्रकार का कथन दोषपूर्ण है। इस प्रकार के कथन में प्रथम दोष यह है कि इसमें प्रधान की स्वतंत्र प्रवृत्ति होती है, इसे अस्वीकार किया गया है। द्वितीय दोष यह है कि यदि पुरुष उदासीन है तो वह प्रधान को किस प्रकार प्रवृत्त कर सकता है? पंगु पुरुष भी अन्ध पुरुष को वाणी से प्रवृत्त करता है, पर यहां निष्क्रिय और निर्गुण पुरुष में कोई प्रवृत्ति जनक व्यापार नहीं है। प्रकृति भी चेतन नहीं है, जो पुरुष के निर्देश को समझ कर व्यापार करे। तृतीय हम यह भी नहीं कह सकते कि जिस प्रकार अयस्कान्तमणि सन्निधि मात्र से लोहे को प्रवृत्त करता है उसी प्रकार पुरुष भी केवल सन्निधि मात्र से ही प्रधान को प्रवृत्त करता है, क्योंकि यदि सन्निधि नित्य है तो सृष्टि भी नित्य हो जाएँगी और मोक्ष असंभव हो जाएगा। इसमें एक अन्य दोष यह भी है उत्पन्न हो जाता है कि अयस्कान्तमणि एवं पंगु पुरुष की उपमा ठीक नहीं है। चतुर्थ दोष यह है कि प्रधान को अचेतन और पुरुष को उदासीन मानने के कारण दोनों के बीच सम्बन्ध कराने वाले तीसरे तत्व के अभाव के कारण सम्बन्ध की अनुपपत्ति होगी। पंचम दोष यह है कि यदि उनकी योग्यता निमित्तक सम्बन्ध स्वीकार करें तो योग्यता के नित्य होने से मोक्षाभाव प्रसंग उपस्थित हो जाएगा। अतः सांख्य दर्शन के पुरुष की अपेक्षा मायाशक्ति सम्पन्न ईश्वर कहीं श्रेयस्कर है क्योंकि ईश्वर स्वरूप से उदासीन, किन्तु माया के आश्रय से प्रवर्तक है।

1.9 'अंगित्वानुपपत्तेश्च'

सूत्र के द्वारा शंकराचार्य यह दिखाते हैं कि गुणों के अंगांगिभाव की अनुपपत्ति से भी प्रधान की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। 'गुणानां साम्यावस्था प्रकृतिः' अर्थात् गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है। गुणों के भीतर दो प्रकार के परिणाम होते हैं—प्रथम स्वरूप परिणाम और दूसरा विरूप परिणाम। सरूप परिणाम में सभी गुण स्वतंत्र रूप से कार्य करते हैं और उनके बीच आंगांगिभाव संबंध नहीं होता। अतः ऐसी स्थिति में सृष्टि की प्रक्रिया प्रारम्भ ही नहीं हो सकती। प्रधान के अतिरिक्त ऐसा कोई वाह्य तत्व भी नहीं है, जो गुणों के भीतर क्षोभ उत्पन्न कर विरूप परिणाम को संभव बना सके।

1.10 'अन्यथानुमित्तौ च ज्ञ शक्तिवियोगात्'

सूत्र द्वारा शंकराचार्य यह दिखाते हैं कि गुणों के गतिशील एवं सक्रिय होने के कारण यदि मान भी लिया जाए कि साम्यावस्था में भी उनमें गुण वैषम्य की प्राप्ति हो सकती है तथा अंगांगि सम्बन्ध की भी स्थापना की जा सकती है, किन्तु ऐसा अनुभाव करने पर भी प्रधान में ज्ञान शक्ति का अभाव होने से रचनानुपपत्ति दोष पूर्ववत् रह जाता है। यदि सांख्य यह कहे कि नहीं, प्रधान में ज्ञानशक्ति पायी जाती है, तो इसका अर्थ यह होगा कि 'चेतनमेंकनेक प्रपंचस्य जगत् उपादानमिति ब्रह्मवाद प्रसंगात्' अर्थात् एक ब्रह्म से प्रपंच या जगत उत्पन्न हो सकता है। यदि बिना पर्याप्त कारण के बिना ही वैषम्य की प्राप्ति मानी जाय तो सृष्टि नित्य हो जाएँगी और मोक्ष का प्रसंग नहीं होगा।

1.11 'विप्रतिषेधाच्चासामंजसम्'

सूत्र द्वारा शंकराचार्य यह स्पष्ट करते हैं कि सांख्य मत के समर्थक कभी सात इन्द्रियों का वर्णन करते हैं कभी ग्यारह इन्द्रियों का वर्णन करते हैं। इस प्रकार सांख्य लोग कहीं महद् से तन्मात्राओं की उत्पत्ति मानते हैं तो कहीं अहंकार से। कभी तो वे तीन प्रकार के इन्द्रियों की चर्चा करते हैं और कभी केवल एक की। वे श्रुतियों की भी अवहेलना करते हैं जो बताती है कि ईश्वर ही जगत का कारण है, प्रधान जगत का कारण नहीं है।

1.12. निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि सांख्य मत में परस्पर विरोधी सिद्धान्तों की स्थापना के कारण एक सुसंगत दर्शन के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। शंकराचार्य ने सांख्य मत के खण्डन में बहुत प्रयत्न किया। वे कहते हैं कि 'तत्प्रतिषेधेयत्नोऽतीवकृतः'। अब प्रश्न यह उठता है कि सांख्य के खण्डन में उन्होंने इतना यत्न क्यों किया? इसके उत्तर में वे तीन तर्क देते हैं — (1) मन्द मतियों को वेदान्त में सांख्य के कुछ पोषक चिन्ह के संकेत मिलते हैं। (2) सांख्य कारण एवं कार्य का अभेद स्वीकार करता है, अतः वह वेदान्त के अधिक निकट है एवं (3) देवल आदि कुछ धर्मसूत्रकारों ने सांख्य को अपने ग्रन्थों में स्वीकार किया है। इन कारणों से शंकराचार्य ने सांख्य का जितना खण्डन किया है उतना वैशेषिक का नहीं किया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि शंकराचार्य ने ईश्वरकृष्ण

की सांख्यकारिका से ही उद्धरण देकर सांख्य का खण्डन किया है। कुछ भी हो यह स्पष्ट है कि शंकराचार्य ने सांख्य का उसी प्रकार खण्डन किया है जिस प्रकार निरीश्वरवादी या अज्ञेयवादी का किये है।

सांख्य की आलोचना

प्रश्नावली

लघु उत्तरीय प्रश्न—

1. सांख्य के कारणवाद का शंकराचार्य ने खण्डन कैसे किया?
2. शंकराचार्य द्वारा सांख्य की आलोचना कैसे की गयी है?
3. 'पुरुषाश्वभवदिति चेत्तथापि' को स्पष्ट करें।
4. 'अंगित्वानुपदत्तेश्च' सूत्र को समझाइए।
5. 'अन्याच्चभावाच्च न तृणादिवत्' को स्पष्ट करें।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न—

1. शंकराचार्य द्वारा सांख्यमत की आलोचना पर एक निबन्ध लिखिए।
2. सांख्य की आलोचना में प्रयुक्त प्रमुख सिद्धांतों की व्याख्या करें।

इकाई-2

शंकराचार्य द्वारा वैशेषिक की आलोचना

संरचना

- 2.0 उद्देश्य
- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 'महददीर्घवद्वाह्रस्वपरिण्डलाभ्याम्'
- 2.3 'उभयाथापि न कर्मातस्तद्भावः'
- 2.4 'समवायाभ्युपगमाच्चसाम्यादनवस्थितेः'
- 2.5 'नित्यमेव च भावात्'
- 2.6 'रूपादिमत्वाच्च विपर्ययो दर्शनात्'
- 2.7 'उभय था च दोषात्'
- 2.8 'अपरिग्रहाच्चचात्यन्तमनपेक्षा'
- 2.9 वैशेषिक दर्शन का पदार्थों का खण्डन
- 2.10 निष्कर्ष

2.0 उद्देश्य

शंकराचार्य ने वैशेषिक मत के परमाणुकारणवाद का और पदार्थों का सशक्त रूप में खण्डन किया है। परमाणु जगत्कारण नहीं हो सकते। परमाणुओं से जगत् सृष्टि नहीं हो सकती। शंकराचार्य वैशेषिक के पदार्थों का खण्डन करते हुए कहते हैं कि षट् पदार्थों का वर्गीकरण दोषपूर्ण है। शंकराचार्य का कहना है कि एक ओर वैशेषिक मत में पदार्थों को पृथक् एवं स्वतंत्रत माना गया है तथा दूसरी ओर गुण, कर्म आदि को द्रव्याश्रित माना गया है। शंकराचार्य का यह भी कहना है कि वैशेषिक के नौ द्रव्यों में भी वस्तुतः स्वतंत्र सत् आत्मा ही हो सकती है। किन्तु आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप ज्ञाता या द्रष्टा है, जो द्रव्य पदार्थ या विषय नहीं हो सकता। वस्तुतः वैशेषिक आत्मा को जड़ द्रव्य के रूप में स्वीकार करता है और ज्ञान और आनन्द को उसके आगन्तुक गुण मानता है। इस प्रकार वैशेषिक के 'पदार्थ' केवल कल्पना होने के कारण हेय है।

2.1 प्रस्तावना

शंकराचार्य का अद्वैत वेदान्त अद्वयवादी होने के कारण वैशेषिक दर्शन के परमाणुवाद तथा अनेक पदार्थवाद का खण्डन करता है। शंकराचार्य यह दिखाने की कोशिश की है कि वैशेषिकों के परमाणुओं की धारणा सदोष है एवं परमाणुओं के संयोग भी सामान्य बुद्धि के समझ के परे है। सामान्यतः प्रदेशवान् वस्तुओं का वैसी

ही वस्तुओं से संयोग देखा गया है। परन्तु यदि परमाणुओं में प्रदेश माने जाएँ तो वह सावयव और विभाज्य बन जाएँगे और यदि परमाणुओं को निरवयव और अविभाज्य मान लिया जाएँ जो सृष्टि की व्याख्या संभव नहीं होगी। वैशेषिक दर्शन में सृष्टि की उत्पत्ति अचेतन परमाणुओं से मानी गयी है। संसार के सभी कार्य द्रव्य चार प्रकार के परमाणुओं (पृथ्वी, जल, तेज (अग्नि) और वायु से बनते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर जीव के कर्मों (अदृष्ट) के अनुसार कर्मफल का भोग कराने के लिए परमाणुओं की क्रियाओं को प्रवर्तित करता है उसी की इच्छा से सृष्टि और प्रलय होते हैं। परमाणुओं में गति उत्पन्न होने पर उनके बीच संयोग स्थापित होता है। परमाणु सूक्ष्म और परिमण्डल होते हैं। दो ऐसे परमाणुओं के संयोग से द्वयणुक का निर्माण होता है, जो सूक्ष्म और परिमण्डल न होकर अणु और ह्रस्व परिमाण वाले होते हैं। इसी प्रकार ऐसे तीन द्वयणुकों से मिलकर त्रयणुक का निर्माण होता है, जो अणु और ह्रस्व परिमाण वाले न होकर महत् और दीर्घ परिमाण वाले होते हैं। त्रयणुक ही हमारे प्रत्यक्ष विषय होते हैं क्योंकि अद्भुत रूप और महत् परिणाम दोनों पाया जाता है। जो प्रत्यक्ष के लिए अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त वैशेषिक दर्शन का एक महत्वपूर्ण सिद्धांत यह है कि कारण द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान गुण कार्य द्रव्य में समानजातीय अन्य गुणों को उत्पन्न करते हैं 'कारणद्रव्यसमवायिनो गुणाः कार्य द्रव्ये समानजातीय गुणानतरमारम्भते'। अतएव शुक्ल तन्तुओं से शुक्ल वस्त्र की ही उत्पत्ति देखने में मिलती है विरुद्ध रंग वाला वस्त्र उत्पन्न होता नहीं दिखायी देता। वैशेषिक दर्शन इन्हीं सभी नियमों के आधार पर कार्य जगत् की उत्पत्ति को संभव मानता है। शंकराचार्य वैशेषिक दर्शन के परमाणुओं से सृष्टि की उत्पत्ति को अयुक्तिसंगत मानते हुए कहते हैं कि अचेतन परमाणुओं से चेतन जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि यदि कार्यरूप चैतन्य युक्त है तो उसका कारण भी कोई चेतन सत्ता होनी चाहिए। शंकराचार्य ने निम्न तर्कों के आधार पर वैशेषिक दर्शन के परमाणुवाद का खण्डन करते हैं –

2.2 'महददीर्घवद्वाह्रस्वपरिण्डलाभ्याम्'

इस सूत्र के द्वारा वेदान्ती यह स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं कि वैशेषिक दर्शन का यह मानना है कि कारण-द्रव्य के गुण कार्य द्रव्य में संचारित हो जाते हैं और अदृष्ट आदि कारण में युक्त होकर द्विअणुक आदि के क्रम से समस्त कार्य समूह का आरम्भ करते हैं। किन्तु परमाणु सूक्ष्म और परिमण्डल है पर द्वयणुक आणविक एवं ह्रस्व है तथा त्रयणुक महत् और दीर्घ है। अतएव किस प्रकार यह कहा जा सकता है कि कारण के गुण कार्य में संचरित हो जाते हैं? जिस प्रकार परिमण्डल परमाणु से अणु और ह्रस्व द्वयणुक उत्पन्न होता है तथा उनसे महत् और दीर्घ त्रयणुक उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार यदि चेतन द्रव्य से अचेतन द्रव्य की उत्पत्ति होती है तो इसमें क्या हानि है? यदि वैशेषिक लोग यह कहें कि द्वयणुक आदि कार्य-द्रव्य विरोधी परिणामों (अणुत्व व ह्रस्वत्व) से आक्रान्त है, इस कारण परिमण्डल परमाणुओं को इनका आरम्भक नहीं माना जा सकता। परन्तु जगत् चेतना विरोधी गुणों से आक्रान्त नहीं है, क्योंकि अचैतन्य चैतन्य का विरोधी गुण न होकर चैतन्य का ही अभाव है। अतः ऐसी स्थिति में चेतन ब्रह्म से चेतन जगत् की उत्पत्ति को क्यों न माना जाए? चेतन ब्रह्म को चेतन जगत् की उत्पत्ति से कौन रोकता है? इस प्रश्न के उत्तर में वेदान्ती कहते हैं कि "जिस प्रकार कारण में विद्यमान परिमण्डल्य अणु एवं ह्रस्व परिमाण होते हुए भी जगत् का कारण नहीं है।" वास्तविकता यह है कि परिमण्डल्यादि के अनारम्भकत्व में अन्य परिणाम से

आकान्त होना कारण नहीं है, क्योंकि अन्य परिमाण (अणुत्व एवं ह्रस्वत्व) के आरम्भ के पूर्व परिमण्डल्यादि आरम्भक हो सकते हैं। इसका कारण यह है कि वैशेषिक दर्शन के अनुसार आरम्भ भी कार्यद्रव्य गुणों को आरम्भ के पूर्व क्षणमात्र गुण रहित होता है— 'उत्पन्नं द्रव्यं क्षणं निर्गुणं निष्क्रियं च तिष्ठति'। वैशेषिक सूत्र में कहा गया है कि— 'कारणबहुत्वात्कारण महत्वात्प्रचयविशेषाच्च महत्' अर्थात् कारण के अनेक होने से कारण के महत्त्व से तथा अवयवों के संयोग विशेष से महत् परिणाम उत्पन्न होता है। वेदान्तियों का कहना है कि परिमण्डल्यादि अन्य परिमाण का आरम्भ नहीं करते, यह कथन ठीक नहीं है। वस्तुतः किसी सन्निधान विशेष से कारण बहुत्व आदि आरम्भ होते हैं। परिमण्डल्यादि आरम्भक नहीं होते हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'अन्य द्रव्य या अन्य गुणों के आरम्भ करने में सब कारण गुणों का स्वाश्रय समवाय समान है।' इसलिए स्वभाव से परिमण्डल्यादि अनारम्भक हैं, वैसे चेतना भी अनारम्भक है, ऐसा समझना चाहिए।

2.3 'उभयाथापि न कर्मातस्तद्भावः'

सूत्र के द्वारा वेदान्ती यह दिखाते हैं कि व्यवहार में यह देखा जाता है कि पट आदि सावयव द्रव्य अपने अनुकूल संयोग सहित तन्तु आदि द्रव्यों से उत्पन्न होते हैं। इस उद्घरण से प्रतीत होता है कि कोई सावयव अवयवी द्रव्य है, वे सब अपने अनुकूल संयोगयुक्त तत्-तत् द्रव्यों से ही उत्पन्न होते हैं। यह अवयवावयवविभाग, अवयव और अवयवी का विश्लेषण जहां से निवृत्त होता है उस न्यून परिणाम की सीमा को परमाणु कहते हैं। वैशेषिक दर्शन में परमाणु को जगत् का कारण माना गया है और पृथ्वी तेज, जल तथा वायु इन चार भूतों को सावयव देखकर चार प्रकार का परमाणुओं की कल्पना की जाती है। वे न्यूनता की परम सीमा है। उनसे आगे विभाग न संभव होने के कारण नाशशील पृथ्वी आदि का परमाणु पर्यन्त विभाग होता है। परमाणु पर्यन्त विभाग होना ही प्रलय है। फिर सृष्टि के समय वायवीय परमाणुओं में अदृष्ट वश कर्म उत्पन्न होता है। वह कर्म जिस परमाणु में होता है उसका दूसरे परमाणु से संयोग होता है। तत्पश्चात् द्विअणुक आदि के क्रम से वायु की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार अग्नि, जल और पृथ्वी की उत्पत्ति होती है, और इसी प्रकार इन्द्रिय सहित शरीर उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् अणुओं से उत्पन्न होता है, जैसे तन्तुओं के रूप से वस्त्र में रूप उत्पन्न होता है, वैसे ही अणु में रहने वाले रूप आदि से द्वि अणुकगत रूप आदि होते हैं। ऐसा वैशेषिकों का सिद्धांत है।

वैशेषिकों के सिद्धांत के विरुद्ध वेदान्ती यह कहते हैं कि विभाग की अवस्था में स्थित परमाणुओं का संयोग किसी कर्म की अपेक्षा करता है, यह मानना पड़ेगा क्योंकि कर्मयुक्त तन्तु आदि में संयोग दिखायी देता है। कर्म कार्य है, इसलिए उसका कोई निमित्त मानना पड़ेगा। यदि निमित्त को स्वीकार न किया जाए, तो निमित्त के अभाव में अणुओं में आद्यकर्म नहीं होगा। यदि निमित्त को स्वीकार करें भी तो जैसे व्यवहार में कर्म का निमित्त प्रयत्न या अभिघात दिखायी देता है, वैसे ही अणु के कर्म का कोई निमित्त मानना पड़ेगा। उसका निमित्त कारण न संभव होने से अणुओं में आद्य कर्म नहीं होगा। सृष्टि से पूर्व आत्मगुण प्रयत्न नहीं हो सकता, क्योंकि उस समय शरीर ही नहीं रहता। शरीर में रहने वाले मन में आत्मा का संयोग होने पर आत्मा का गुण प्रयत्न होता है। इस कथन से अभिज्ञात आदि इष्ट निमित्त का भी प्रत्याख्यान हो गया, क्योंकि वे सब सृष्टि के अनन्तर ही संभव है। अतः वे आदि कर्म के निमित्त नहीं हो सकते। यदि आद्य कर्म का निमित्त अदृष्ट है तो प्रश्न होता है कि वह कर्म आत्मा में समवाय सम्बन्ध से

रहने वाला है या अणुओं में से रहने वाला है। दोनों ही रूप में अणुओं में अदृष्ट निमित्त कर्म की कल्पना नहीं हो, क्योंकि अदृष्ट अचेतन है। चेतन से अधिष्ठित हुए बिना अचेतन न तो स्वतंत्र रूप से प्रवृत्त हो सकता है और न किसी को प्रवृत्त कर सकता है— ऐसा सांख्य प्रक्रिया में कहा गया है। चैतन्य के न उत्पन्न होने से आत्मा भी उसी अवस्था में चैतन्य ही है।

अद्वैत वेदान्तियों का यह कहना है कि 'अदृष्ट' आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहता है, ऐसा स्वीकृत होने से वह अणुओं में कर्म का निमित्त नहीं होगा, क्योंकि अदृष्ट से उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। अदृष्ट वाले पुरुष के साथ अणुओं का सम्बन्ध है, ऐसा यदि कहो तो सम्बन्ध के सदा होने से निरन्तर प्रवृत्ति होने लगेगी, क्योंकि कोई अन्य नियामक नहीं हैं इस प्रकार कोई भी कर्म का नियत निमित्त नहीं हैं। अतः अणुओं में आद्य कर्म नहीं होगा।

अद्वैत वेदान्तियों का यह भी कहना है कि कर्म के अभाव में कर्म से होने वाला संयोग नहीं होगा और संयोग के अभाव से उसके आधार पर होने वाले द्वि-अणुक कार्य नहीं होंगे और एक अणु का अन्य अणु से संयोग सर्वात्मना होगा या एक देश से होगा? सर्वात्मना होगा, तो उपचय की अनुपपत्ति से अणुमात्रत्व का प्रसंग उपस्थित होगा और जैसा कि देखने में आता है, उससे विपरीत का प्रसंग उपस्थित होगा, क्योंकि प्रदेश वाले द्रव्य का प्रदेश वाले अन्य द्रव्य के साथ संयोग देखा जाता है, और एक देश तो होगा तो सावयव का प्रसंग उपस्थित हो जाएगा। परमाणुओं के कल्पित प्रदेश होंगे— ऐसा कहोगे तो कल्पित अवस्तु होने से संयोग अवस्तु रूप होगा। इससे वस्तु रूप कार्य का असमवायी कारण नहीं होगा और असमवायी कारण न होने से द्वि अणुक कार्य द्रव्य उत्पन्न न होंगे और जैसे आदि सृष्टि में निमित्त के अभाव से संयोग की उत्पत्ति के लिए अणुओं में कर्म नहीं हो सकता वैसे ही महाप्रलय में भी विभाग की उत्पत्ति के लिए अणुओं में कर्म न होगा, क्योंकि उसमें भी उसका कुछ नियत निमित्त देखने में नहीं आता। अदृष्ट भी भोग की प्रसिद्धि के लिए है, प्रलय की प्रसिद्धि के लिए नहीं है इसलिए निमित्त के अभाव से अणुओं में संयोग की उत्पत्ति के अर्थ और विभाग की उत्पत्ति के अर्थ में कर्म नहीं होगा। अतएव संयोग एवं विभाग के अभाव से उनके आधार पर होने वाले सर्ग और प्रलय का अभाव हो जाएगा। इस प्रकार वैशेषिक का परमाणुवाद अनुपपन्न है।

2.4 'समवायाभ्युपगमाच्चसाम्यादनवस्थितेः'

सूत्र के द्वारा शंकराचार्य तथा उनके समर्थकों ने यह दिखाया है कि वैशेषिक का परमाणु कारणवाद अनुपपन्न है। इस सूत्र में शंकराचार्य ने यह दिखाया है कि वैशेषिकों द्वारा समवाय को स्वीकार करने से भी सृष्टि और प्रलय का अभाव सिद्ध होता है। शंकराचार्य का यह मानना है कि इसका प्रकृत अणुवाद के निराकरण के साथ सम्बन्ध है। दो अणुओं से उत्पन्न होने वाला द्वि-अणुक अणुओं से अत्यन्त भिन्न है और अणुओं में समवेत है, ऐसा तुम स्वीकार करते हो। परन्तु ऐसा स्वीकार करते हुए तुम अणुकारणता को समर्थन नहीं करते। किससे? साम्य से और अनवस्थिति से। जिस प्रकार दो अणुओं से अत्यन्त भिन्न होकर द्वि-अणुक समवाय लक्षण सम्बन्ध से उनके साथ सम्बन्ध होता है उसी प्रकार समवाय भी समवायियों से अत्यन्त भिन्न होकर समवाय लक्षण अन्य सम्बन्ध से ही समवायियों के साथ सम्बद्ध होगा, क्योंकि (दोनों में) अत्यन्त भेद रूपी साम्य है और तदनन्तर उस समवाय के अन्य-अन्य सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार

अनवस्था की प्राप्ति होगी। परन्तु यहां पर इस प्रतीति से ग्रहण करने योग्य समवाय समवायियों के साथ-साथ नित्य सम्बन्ध ही गृहीत होता है, असम्बद्ध या अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा वाला नहीं है। इसलिए उसके लिए अन्य सम्बन्ध की कल्पना युक्त नहीं है, जिससे अनवस्था प्रसंग उपस्थित हो, ऐसी शंका करोगे तो हम कहते हैं कि नहीं, क्योंकि ऐसी परिस्थिति में संयोग भी संयोगियों के साथ नित्य सम्बद्ध ही है। इसलिए समवाय के समान उसको अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा रखे तो समवाय भी अन्य अर्थ होने से अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा रखेगा। गुण होने से संयोग अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा रखता है। परन्तु अणुक होने से समवाय अपेक्षा नहीं रखता, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि दोनों में अपेक्षा का कारण समान है और गुण परिभाषया अतन्त्र है। इसलिए समवाय को अन्य अर्थ रूप स्वीकार करने वाले वैशेषिक को अनवस्था प्राप्त होगी ही और अनवस्था के प्राप्त होने पर एक ही असिद्धि से सब असिद्ध होने से दो अणुओं से द्वयणुक उत्पन्न होगा ही नहीं। इसलिए भी परमाणु कारणवाद अनुपपन्न है।

2.5 'नित्यमेव च भावात्'

सूत्र द्वारा अद्वैत वेदान्ती शंकराचार्य वैशेषिक दर्शन के परमाणुवाद के सम्बन्ध में यह दिखाते हैं कि परमाणु अणु प्रवृत्ति स्वभाव वाले माने जाते हैं या निवृत्ति स्वभाव वाले माने जाते हैं या उभय स्वभाव वाले माने जाते हैं या अनुभय स्वभाव वाले माने जाते हैं क्योंकि इनमें अन्य गति का अभाव है। चारों प्रकार से भी प्रवृत्ति उपपत्ति नहीं होती। यदि उन्हें प्रवृत्ति स्वभाव वाले मानें तो नित्य ही प्रवृत्ति होने से प्रलय के अभाव का प्रसंग आएगा। यदि निवृत्ति स्वभाव वाले मानें तो नित्य ही निवृत्ति होने से सृष्टि के अभाव का प्रसंग आएगा। उभय स्वरूप होना तो विरोध से ही अनुपपन्न है। यदि अनुभव स्वभाव में मानें तो उनकी प्रवृत्ति और निवृत्ति निमित्तवश मानी जाती है। इसलिए अदृष्ट आदि निमित्त के नित्य सन्निहित होने से नित्य प्रवृत्ति का प्रसंग आएगा। अदृष्ट आदि अतन्त्र हों, तो भी नित्य अप्रवृत्ति का प्रसंग उपस्थित रहेगा। इससे भी परमाणु कारणवाद अनुपपन्न है।

2.6 'रूपादिमत्वाच्च विपर्ययो दर्शनात्'

सूत्र द्वारा यह दिखाते हैं कि अवयवशः विभक्त होने वाले सावयव द्रव्यों का जहां से आगे विभाग नहीं हो सकता है वे चार प्रकार के रूप आदि युक्त परमाणु भूत-भौतिक के आरम्भक हैं और नित्य हैं, ऐसा वैशेषिक स्वीकार करते हैं। परन्तु वैशेषिकों द्वारा ऐसा मानना निराधार ही है, क्योंकि रूप आदि से युक्त होने से परमाणुओं के अणुत्व एवं नित्यत्व के विपर्यय की प्राप्ति होगी। परम कारण की अपेक्षा से वे स्थूल और नित्य हैं। इस प्रकार उनके अभिप्राय से विपरीत की प्राप्ति होगी, ऐसा अर्थ है। पुनश्च शंकराचार्य यह स्पष्ट करते हैं कि लोक में इस प्रकार देखने में आता है कि लोक में जो रूपादि युक्त वस्तु है वह अपने कारण की अपेक्षा से स्थूल और अनित्य दिखायी देती है, जैसे पट तन्तुओं की अपेक्षा से स्थूल और अनित्य है इसी प्रकार ये परमाणु रूपादि युक्त हैं, ऐसा वे स्वीकार करते हैं। इसलिए कारण वाले होने से वे कारण की अपेक्षा स्थूल और अनित्य हैं, ऐसा प्राप्त होता है और परमाणुओं में नित्यत्व सिद्ध करने के लिए उन्होंने जो प्रमाण दिये हैं, वह इस प्रकार है —

अन्य सम्प्रदायों की समीक्षा

(1) सत् अकारण वाला नित्य है, वह भी ऐसा होने से अर्थात् परमाणुओं के कारण होने से अणुओं में संभव नहीं है क्योंकि उक्त प्रकार से वह अणुओं का भी कारण है, ऐसा प्रयत्न हो सकता है और नित्यत्व सिद्ध करने के लिए जो दूसरा प्रमाण दिया गया है वह इस प्रकार है।

(2) 'अनित्य है' इस प्रकार विशेष रीति से प्रतिषेध का अभाव है, वह भी अवश्य परमाणुओं का नित्यत्व सिद्ध नहीं करता क्योंकि यदि कोई नित्य वस्तु न हो तो नित्य शब्द के साथ नञ् समास (नकार प्रयोग) उपपन्न न होगा और परमाणु के नित्यत्व की ही अपेक्षा नहीं है, तो वह नित्य परम ब्रह्म है ही और शब्दार्थ व्यवहार मात्र से कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता, क्योंकि अन्य प्रमाण से सिद्ध हुए शब्दार्थ व्यवहार में आते हैं। इसी प्रकार नित्यत्व सिद्ध करने के लिए जो तीसरा प्रमाण कहा गया है – 'अविद्या च' (और अविद्या), उसका यदि ऐसा विवरण करें जिसका अर्थ परिदृश्यमान (सर्वतः दीखता हुआ) है, ऐसे विद्यमान कारणों के प्रत्यक्ष से अग्रहण अविद्या है, तो द्वि-अणुक की भी नित्यता का प्रसंग आएगा। यदि 'अद्रव्य होकर' इतना विशेषण दें, तो भी अकारणत्व ही नित्यता का निमित्त होगा और सके पूर्व कथित होने से 'अविद्या च' यह पुनरुक्त हो जाएगा। उसी प्रकार यदि कारण विभाग से या कारण विनाश से अन्य तृतीय विनाश हेतु का असंभव अविद्या है और वह परमाणुओं का नित्यत्व स्थापना करती है, ऐसी व्याख्या करो तो विनष्ट होने वाली वस्तु अवश्य ही दो हेतुओं से विनष्ट होने योग्य है, ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि संयोग सहित अनेक द्रव्यों को अन्य द्रव्य का आरम्भक स्वीकार करें तो यह सिद्ध हो। परन्तु जिसमें से विशेष दूर हो गया है ऐसा सामान्यात्मक कारण विशेष युक्त अवस्थान्तर प्राप्त करने वाले आरम्भक रूप से स्वीकार किया जाए, तो घी के काठिन्य के नाश के समान मूर्त अवस्था के विलय से भी विनाश उत्पन्न हो सकता है इसलिए रूपादि युक्त होने से परमाणु जैसे माने गये हैं। उससे विपरीत होगा, इससे भी परमाणुकारणवाद अनुपपन्न है।

2.7 'उभय था च दोषात्'

सूत्र द्वारा शंकराचार्य यह दिखाते हैं कि गंध, रस, रूप स्पर्श और गुण वाली पृथ्वी स्थूल है, रूप, रस और स्पर्श गुण वाला जल सूक्ष्म है रूप और स्पर्श गुण वाला तेज सूक्ष्मतर है और स्पर्श गुण वाला वायु सूक्ष्मतर है। इस प्रकार ये चार भूत अधिक और न्यून गुण वाले एवं स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतर तारतम्य से युक्त लोक में देखे जाते हैं। इसी प्रकार स्थूल सूक्ष्म, पृथ्वी, जल आदि के समान उनके परमाणु भी अधिक और न्यून गुणों से युक्त है, ऐसी कल्पना की जाती है या नहीं? कल्पना करें या न करें, दोनों प्रकार में दोष की प्राप्ति का परिहार नहीं किया जा सकता। उपचित और अपचित गुण वाले परमाणुओं की यदि कल्पना की जाय तो उपचित गुण वाले परमाणुओं को मूर्ति के उपचय से परमाणुत्व के हानि का प्रसंग आएगा। मूर्ति के उपचय के बिना भी गुण का उपचय होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कार्यभूतों में गुण का उपचय होने से मूर्ति का उपचय देखा जाता है। यदि उपचित और अपचित गुणों वाले परमाणुओं की कल्पना न की जाए, और परमाणुत्व की समता को सिद्धि के लिए सब परमाणु एक-एक गुण युक्त माने जाएँ तो तेज में स्पर्श और पृथ्वी में रस, रूप और स्पर्श की उपलब्धि नहीं होगी, क्योंकि कार्य के गुण कारण-गुण पूर्वक होते हैं अर्थात् कारण के ही गुण कार्य में आते हैं यदि सब भूत चार गुण वाले हैं, ऐसी कल्पना करें, तो जल में भी गन्ध की उपलब्धि होनी चाहिए, तेज में गन्ध और रस की और

वायु में रूप रस और गन्ध की उपलब्धि होनी चाहिए, किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता इसलिए परमाणु कारणवाद अनुपपन्न है।

शंकराचार्य द्वारा
वैशेषिक की आलोचना

2.8 'अपरिग्रहाच्चचात्यन्तमनपेक्षा'

सूत्र द्वारा शंकराचार्य प्रधानकारणवाद सत्कार्यवाद, आत्मा का असंगत्व, चिद्रूपत्व आदि अंशों में अपने सिद्धांत के अनुसार का प्रतिपादन करते हैं। शंकराचार्य का कहना है कि परमाणुवाद किन्हीं शिष्टों द्वारा किसी भी अंश में स्वीकृत नहीं है इसलिए वेदवादियों से अत्यन्त ही आदरणीय है और वैशेषिक अपने शास्त्र के अर्थभूत प्रतिपाद्य रूप द्रव्य गुण, कर्म, सामान्य विशेषों, समवाय नाम के मनुष्य अश्व और शस्त्र के समान अत्यन्त भिन्न और भिन्न लक्षण वाले छः पदार्थों को स्वीकार करते हैं और इस प्रकार मानकर उसके विरुद्ध शेष सभी पदार्थ द्रव्य के अधीन हैं, ऐसा स्वीकार करते हैं। परन्तु उनका यह पक्ष उपपन्न नहीं है। शंकराचार्य यह प्रश्न उठाते हैं कि किस प्रकार यह उपपन्न नहीं है? प्रश्न का उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि जैसे कुश, पलाश, आदि अत्यन्त भिन्न होने से अन्योन्य के अधीन नहीं होते हैं, उसी प्रकार द्रव्य आदि के भी परस्पर अत्यन्त भिन्न होने से गुण आदि द्रव्य के अधीन नहीं होते। परन्तु गुण आदि द्रव्याधीन होते हैं क्योंकि द्रव्य के अस्तित्व में उनका अस्तित्व और द्रव्य के अभाव में उनका अभाव होता है। इसलिए संस्थानादि भेद से द्रव्य ही अनेक शब्द और प्रतीति वाला होता है जैसे कि देवदत्त एक ही होता हुआ भी अन्य अवस्था के योग से अनेक शब्द और प्रतीति वाला होता है। ऐसी परिस्थिति में सांख्य सिद्धांत का प्रसंग और स्व सिद्धांत का विरोध प्राप्त होगा।

शंकराचार्य का कहना है कि यदि वैशेषिक दर्शन के द्रव्य और गुण के सम्बन्ध में यह कहा जाय कि द्रव्य और गुणों के बीच अयुत्सिद्ध सम्बन्ध है तो यह अयुत्सिद्धत्व या तो अपृथक् देशत्व होगा अथवा अपृथक् कालत्व होगा अथवा अपृथक् स्वभावत्व होगा। परन्तु इनमें से किसी भी विकल्प का वैशेषिक मत से मेल नहीं हो पाता। संयोग और समवाय का भेद भी ठीक नहीं है। संयोग ऐसी वस्तुओं के बीच माना जाता है, जिनका पृथक् अस्तित्व संभव है।

समवाय ऐसी वस्तुओं के बीच सम्बन्ध है, जिनका पृथक् अस्तित्व असंभव है। कारण कार्य के बीच ही समवाय सम्बन्ध होता है। कारण कार्य के पहले अस्तित्व में आता है। ऐसी स्थिति में यह कैसे कहा जा सकता है कि कारण-कार्य के बीच अयुत्सिद्ध सम्बन्ध है? जिस कार्य की अभी उत्पत्ति ही नहीं हुई है, उसका कारण के साथ सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है? अतएव वस्तुओं से पृथक् संयोग या समवाय का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। इसलिए प्रत्येक दृष्टि से वैशेषिक परमाणुवाद का मत युक्तिसंगत नहीं है।

2.9 वैशेषिक दर्शन का पदार्थों का खण्डन

वैशेषिक दर्शन छः पदार्थों में विश्वास करता है। अरस्तू के विधेयों के समान ये केवल तार्किक विधेय नहीं हैं, वरन् तात्त्विक विधेय हैं। ये सभी पदार्थ कहने के लिए तो एक दूसरे से पृथक् हैं एवं स्वतंत्र घोषित किये गये हैं, पर व्यवहार में कर्म, गुण इत्यादि पदार्थ द्रव्य पर आश्रित हैं। यदि ऐसी बात है तो द्रव्य ही एक मात्र पदार्थ होगा। यदि इससे बचने के लिए वैशेषिक वाले यह कहें कि द्रव्य एवं गुणों के बीच अयुत्सिद्ध सम्बन्ध पाया जाता है तो यह अयुत्सिद्ध सम्बन्ध

अन्य सम्प्रदायों की समीक्षा

या तो अपृथक् देशत्व का रूप होगा या अपृथक् कालत्व या अपृथक् स्वभावत्व रूप होगा। परन्तु इनमें से कोई भी विकल्प वैशेषिक दर्शन की पुष्टि नहीं करेगा। यदि अपृथक्देशत्व स्वीकार किया जाय तो वैशेषिकों का यह मत बाधित हो जाएगा कि सफेदी और कपड़े में एकदेशत्व पाया जाता है तथा सूत और कपड़े में एकदेशत्व पाया जाता है। यदि द्रव्य और गुण में अपृथक् कालत्व स्वीकार किया जाए तो दो सींगों के बीच भी अयुतसिद्ध सम्बन्ध मानना होगा। इसके अतिरिक्त यदि अपृथक् स्वभावत्व को स्वीकार किया जाए तो एक प्रकार का तादात्म्य ही होगा। शंकराचार्य समवाय को एक स्वतंत्र पदार्थ के रूप में नहीं स्वीकार करते। समवाय सम्बन्ध को वे तादात्म्य के रूप में ही स्वीकार करते हैं।

द्रव्य एवं गुण के बीच समवाय सम्बन्ध है। वैशेषिकों के अनुसार समवाय एक पृथक् पदार्थ है। ऐसी स्थिति में द्रव्य एवं समवाय के बीच एक दूसरे समवाय तथा समवाय एवं गुण के बीच एक तीसरे समवाय की कल्पना करनी होगी इससे अनवस्था दोष की उत्पत्ति होगी। अतः समवाय को तादात्म्य मानना होगा।

शंकराचार्य पूर्ण और अंश के भेद को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार पूर्ण की न तो अंशी का संघात माना जा सकता है और न ही अंशों से पृथक् की माना जा सकता है। पूर्ण सभी अंशों में एक साथ निवास नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसी स्थिति में पूर्ण का प्रत्यक्ष असंभव हो जाएगा। सभी अंशों का एक साथ प्रत्यक्ष करना असंभव है। यदि यह कहा जाए कि पूर्ण एक साथ सभी अंशों में अन्य अंशों की सहायता से निवास करता है तो यह असंभव है क्योंकि इससे अनवस्था दोष की उत्पत्ति होगी। पुनः पूर्ण सभी अंशों में पृथक्-पृथक् रूप में निवास नहीं कर सकता क्योंकि यदि वह एक अंश में पूर्णरूप से निवास करता है तो दूसरे अंशों में कभी निवास नहीं कर सकता। यदि यह मान लिया जाए कि पूर्ण पृथक्-पृथक् रूप में सभी अंशों में निवास करता है तो ऐसी स्थिति में हमें एक के स्थान पर अनेक पूर्णों का प्रत्यक्ष होने लगेगा जैसा कि व्यवहार में कभी भी नहीं होता। इन सभी कारणों से शंकराचार्य के अनुसार पूर्ण और अंश की कल्पना तात्विक न होकर मिथ्या ही है।

वैशेषिक दार्शनिकों के अनुसार आत्मा एक द्रव्य है जिसका चैतन्य एक आगन्तुक गुण है। आत्मा प्रारम्भ में अचेतन ही रहता है, पर जब आत्मा का बाह्य वस्तुओं के साथ सम्पर्क होता है तो उसके भीतर चैतन्य नाम का गुण उत्पन्न हो जाता है। यहाँ चैतन्य आत्मा का स्वभाव न होकर उसका आगन्तुक गुण ही है। शंकराचार्य के अनुसार आत्मा की यह बिल्कुल निरर्थक कल्पना है। चैतन्य आत्मा का स्वभाव है। चैतन्य के बिना आत्मा की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यदि चैतन्य को आत्मा का गुण मान लिया जाए तो दुःख और सुख के गुण आत्मा की तरह नित्य मान लिए जाएँगे अथवा दुःख एवं सुख के समान आत्मा को भी नित्य मान लिया जाएगा जो कि असंभव है। इस प्रकार शंकराचार्य यह दिखाते हैं कि किसी भी तर्क द्वारा यह सिद्ध नहीं किया जा सकता है कि आत्मा अनित्य या परिवर्तनशील है।

वैशेषिक दर्शन का 'कर्म' भी असंभव है। इसके अनुसार ईश्वर अदृष्ट की सहायता से परमाणुओं में गति या क्रिया को उत्पन्न करता है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि 'अदृष्ट' कहाँ निवास करता है, तो यह गति का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि सृष्टि के पूर्व आत्मा और अदृष्ट दोनों अचेतन हैं। पुनः आत्मा का परमाणुओं के साथ कोई सम्बन्ध भी नहीं है, जिससे कि वह उनमें गति प्रदान कर सके। यदि आत्मा का परमाणुओं से साक्षात् सम्बन्ध मान लिया जाएँ तो सृष्टि नित्य हो जाएँगी। अतः कर्म असंभव है।

शंकराचार्य वैशेषिक दर्शन के सामान्य पदार्थ के अस्तित्व को असंभव मानते हैं। वैशेषिक दर्शन के अनुसार विशेषों के अस्तित्व के साथ सामान्य का भी एक स्वतंत्र अस्तित्व होता है। तर्क संग्रह में सामान्य को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि—'नित्य मँकमनेकानुगतम् सामान्यम्' अर्थात् सामान्य नित्य, एक और अनेकानुगत है। इस सामान्य का खण्डन करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि हमें विशेष गायों के भीतर किसी सामान्य 'गाय' का कहीं प्रत्यक्ष नहीं होता। विशिष्ट गायों के भीतर 'सामान्य गाय' विद्यमान न होकर सामान्य 'गोत्व' ही विद्यमान होता है जो 'सामान्य' नामक पदार्थ न होकर केवल सामान्य विशेषताएँ ही होती हैं। यदि किसी 'सामान्य गाय' को प्रत्येक गाय के पूर्ण रूप से विद्यमान मान लिया जाएँ तो किसी विशिष्ट गाय की सींग या पूँछ से भी दूध की प्राप्ति की जा सकती है जो व्यवहार में कभी भी नहीं संभव है। अतः वैशेषिक दर्शन के सामान्य की कल्पना भी असंभव है।

2.10 निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि शंकराचार्य वैशेषिक दर्शन का खण्डन करते हुए वैशेषिक मत को अर्द्धवैनाशिक मत कहते हैं। शंकराचार्य ने वैशेषिक मत के परमाणुवाद को अयुक्ति संगत माना है, क्योंकि अचेतन परमाणु इस विलक्षण रूप से सुव्यवस्थित विश्व की उत्पत्ति की व्याख्या नहीं कर पाता है। परमाणुओं की प्रेरणा के लिए वैशेषिक अदृष्ट का सहारा लेता है किन्तु इससे भी समस्या हल नहीं होती, क्योंकि वह भी तो अचेतन है। पुनः इस बात का भी समाधान नहीं मिलता कि सृष्टि रचना के लिए पहले-पहल परमाणुओं में क्रिया कैसे उत्पन्न हुई? यदि परमाणुओं में गति का होना उसका स्वाभाविक गुण है तो फिर उसका कभी भी अन्त नहीं होना चाहिए। इस प्रकार प्रलय कभी भी नहीं होना चाहिए। वैशेषिक दर्शन में चैतन्य आत्मा की आगन्तुक गुण है, इसलिए आत्मा भी परमाणु का प्रेरक या प्रवर्तक नहीं कहा जा सकता। वास्तविकता यह है कि वैशेषिक दर्शन में परमाणु, आकाश काल, दिक्, आत्मा, मन, सामान्य, विशेष, समवाय इत्यादि पदार्थ शब्द, स्पर्श, रूप आदि गुण तथा कर्म में विश्वास करते हैं। इनमें कुछ को नित्य और कुछ को अनित्य मानते हैं, जो कि उनको अर्द्ध वैनाशिक सिद्ध करता है।

लघु उत्तरीय प्रश्न—

1. वैशेषिक दर्शन के परमाणुवाद को स्पष्ट करें?
2. परमाणुओं का स्वभाव क्या है?
3. 'रूपादिमत्वाच्च विपरमयो दर्शनात्' की व्याख्या करें।
4. 'नित्यमेवं च भावात्' सूत्र की व्याख्या करें।
5. वैशेषिक में पदार्थों का क्या महत्व है?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न—

1. शंकराचार्य द्वारा वैशेषिक दर्शन की आलोचना पर एक निबन्ध लिखिए।
2. वैशेषिक दर्शन के पदार्थों के खण्डन की व्याख्या शंकराचार्य के अनुसार कीजिए।

इकाई—3

बौद्ध दर्शन के सर्वास्तिवाद का खण्डन

संरचना

- 3.1. प्रस्तावना
- 3.0. उद्देश्य
- 3.2. 'समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः'
- 3.3. 'इतरेतरप्रव्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्र निमित्ततवात्'
- 3.4. 'उत्तरोत्पादे चपूर्वनिरोधात्'
- 3.5. 'असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा'
- 3.6. 'प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात्'
- 3.7. 'उभयथा च दोषात्'
- 3.8. 'आकाशे चाविशेषात्'
- 3.9. 'अनुस्मृतेश्च'
- 3.10. 'नासतोऽदृष्टत्वात्'
- 3.11. 'उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः'
- 3.12. निष्कर्ष

3.0. उद्देश्य

बौद्ध दर्शन के वैभाषिक एवं सौतांत्रिक सम्प्रदाय को सर्वास्तिवाद कहा जाता है, क्योंकि वैभाषिक एवं सौतांत्रिक दोनों ही प्रत्येक वस्तु के स्वतंत्र अस्तित्व में विश्वास करते हैं। वैभाषिक एवं सौतांत्रिक में अन्तर इतना ही है कि वैभाषिक बाह्य प्रत्यक्षवाद में विश्वास करता है और सौतांत्रिक बाह्यनुमंयवाद में विश्वास करता है, किन्तु दोनों ही वस्तुवादी सिद्धान्त हैं। शंकराचार्य ने यह दिखाया है कि सर्वास्तिवादी क्षणभंगवाद का समर्थन करते हैं, किन्तु न तो क्षणिक परमाणु संघात बना सकते हैं और न क्षणिक विज्ञान स्कन्ध ही संघात बना सकते हैं। इसके अतिरिक्त सर्वास्तिवादी आकाश, प्रतीत्यसमुत्वाद (अप्रतिसंख्यानिरोध) और निर्वाण (प्रतिसंख्यानिरोध) में विश्वास करता है और इसे सन्तति नित्य या प्रवाह नित्य मानता है, किन्तु ये तीनों ही उनके मुख्य सिद्धान्त क्षणभंगवाद को निरस्त करते हैं। पुनश्च ज्ञान, स्मृति और प्रत्यभिज्ञा क्षणभंगवाद पर मार्मिक प्रहार करती है। इसलिए शंकराचार्य सर्वास्तिवाद सर्ववैनाशिक मानते हैं।

3.1. प्रस्तावना

शंकराचार्य का यह मानना है कि सर्वास्तिवाद बौद्ध क्षणिक परमाणु और क्षणिक विज्ञान की सत्ता स्वीकार करता है। ये दोनों अलग-अलग भौतिक एवं चैत संघात बनाते हैं। परन्तु शंकराचार्य का कथन है कि क्षणभंगवाद के ये संघात नहीं बना सकते। न तो क्षणिक परमाणु भौतिक संघात बना सकते हैं और न ही क्षणिक विज्ञान स्कन्ध संघात ही बना सकते हैं। बौद्ध दर्शन में सर्वास्तिवाद किसी चेतन भोक्ता या नियन्ता की सत्ता को नहीं माना है जो संघात बना सके। प्रतीत्यसमुत्पाद चक्र में भी प्रत्येक पूर्व अंग केवल अपर अंग का कारण है, सम्पूर्ण चक्र नहीं। अतएव प्रतीत्यसमुत्पाद के चक्र में भी अंगों का संघात संभव नहीं है। पुनश्च प्रतीत्यसमुत्पाद में यह स्पष्ट नहीं हो पाता है कि उत्पाद और विनाश वस्तु के स्वरूप हैं। अथवा अवस्थान्तर अथवा कोई अन्य वस्तु। अतः प्रतीत्यसमुत्पाद में क्षणभंगवाद ही दूषित है। इसके अतिरिक्त सवोस्तिवाद में आकाश, प्रतीत्यसमुत्पाद, और निर्वाण इन तीनों को असंस्कृत धर्म मानकर सन्तति नित्य या प्रवाह-नित्य को ही को ही सत् मान लेता है, जो कि बौद्ध दर्शन के असंस्कृत धर्म को ही निरस्त कर देते हैं। क्षणभंगवाद से बौद्ध धर्म का कर्म सिद्धान्त भी खण्डित हो जाता है, क्योंकि कृतप्रणाश और अकृताभ्यागम का दोष आ जाता है और बन्ध और निर्वाण की व्यवस्था भी खण्डित हो जाती है। बिना नित्य ज्ञाता की सत्ता को स्वीकार किये ज्ञान, स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञा की व्याख्या भी संभव नहीं हो सकती। इस प्रकार शंकराचार्य यह दिखाते हैं कि नित्य आत्मा की सत्ता असंदिग्ध है। इसीलिए शंकराचार्य यह कहते हैं कि जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त समस्त विज्ञानों को अपनी ही आत्मा के विज्ञान अनुभव करने वाले क्षणभंगवादी बौद्ध को आत्मा के भी क्षणिक विज्ञान मानने में तनिक भी लज्जा नहीं आती है। शंकराचार्य सर्वास्तिवाद के खण्डन में निम्नलिखित तर्क देते हैं।

3.2. 'समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः'

सूत्र के द्वारा शंकराचार्य यह स्पष्ट करते हैं कि बौद्ध सवोस्तिवादियों के अनुसार बाह्य भौतिक जगत् पृथ्वी, जल तेज तथा वायु के परमाणुओं के संघात से निर्मित हैं तथा आध्यात्मिक जगत् रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान के पंचस्कन्धों के संघात से निर्मित है। सूत्र का अर्थ यह है कि परमाणु हेतुक बाह्य समुदाय तथा स्कन्ध हेतुक आध्यात्मिक समुदाय में भी समुदाय की प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि अचेतन परमाणु और स्कन्धों का अपने आप समुदाय असंभव है। इन समुदायों के अतिरिक्त बौद्ध सर्वास्तिवादी किसी कूटस्थ आत्मा में विश्वास ही नहीं करते, जिससे कि इन समुदायों की प्राप्ति हो सके। बौद्ध दर्शन में परमाणु और स्कन्ध दोनों ही अचेतन हैं। अतएव उनके द्वारा समुदायों का निर्माण असंभव है। यदि यह कहा जाय कि परमाणु और स्कन्ध स्वयं अपने स्वभाव के कारण सक्रिय होते हैं, तो इनके सक्रिय होने के कारण समुदायों की प्राप्ति नित्य हो जाएगी और निर्वाण असंभव हो जायेगा। मन भी इन समुदायों का कारण नहीं है, क्योंकि देहाकार संघ होने पर मन का विज्ञान उत्पन्न होता है तथा मन का विज्ञान होने पर समुदायों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष की उत्पत्ति होगी। इतना ही नहीं परमाणुओं और स्कन्धों के अतिरिक्त न तो कोई नित्य आत्मा है और न ही कोई नित्य ईश्वर ही है, जो समुदायों की उत्पत्ति कर सके। अतएव शंकराचार्य का यह मानना है कि बौद्ध दर्शन के सर्वास्तिवाद में समुदाय संभव नहीं

है। समुदाय के ही अनुपपन्न होने पर उसके आधार पर होने वाला लोक व्यवहार ही असंभव हो जाएगा।

बौद्ध दर्शन के
सर्वास्तिवाद का खण्डन

3.3. इतरेतरप्रव्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्र निमित्ततवात्

सूत्र के द्वारा शंकराचार्य यह दिखाते हैं कि यदि सर्वास्तिवादियों के विषय में यह कहा जाय कि भोक्ता (आत्मा अथवा प्रशासिता (ईश्वर) नामक संघातकर्त्ता को वे भले ही न मानते हों, किन्तु फिर भी प्रतीत्यसमुत्पाद चक्र के अविद्या, संस्कार के बीच परस्पर कारणता को मानने के कारण लोक यात्रा को संभव माना जा सकता है। इस प्रकार शंकराचार्य का यह कहना है कि अविद्या आदि समुदाय के परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भाव कार्य-कारण रूप से घटीयंत्र के समान सर्वदा आवर्तमान होने से संघात उत्पन्न होता है, तो ऐसी स्थिति में अविद्याआदि परस्पर कारण होने पर भी पूर्व-पूर्व उत्तरोत्तर की केवल उत्पत्ति का निमित्त होता है, संघात का निमित्त नहीं होता। अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नाम-रूप की श्रेणी स्वयं संघात पर आश्रित होती है। अतः यह संघात का कारण नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि द्वादश-निदान में उत्पत्ति और संघात एक साथ होता है, तो प्रश्न उत्पन्न होगा कि उत्तरोत्तर संघात पूर्व-पूर्व संघात के समान होंगे अथवा असमान होंगे। यदि वे समान हैं, तो इसका अर्थ है कि उनमें कोई परिवर्तन नहीं है और यदि असमान हैं, तो इसका अर्थ यह है कि पाप और पुण्य का विचार किये बिना ही उनमें परिवर्तन हो जाता है। इसके अतिरिक्त सर्वास्तिवादी बौद्ध जिसके भोग के लिए संघात को मानता है, वह स्थिर भोक्ता नहीं है। यदि इसे स्वीकार कर लिया जाए, तो भोग भोग के लिए होगा, उसी प्रकार निर्वाण निर्वाण के लिए ही होगा, इसलिए अन्य मुमुक्षु होना युक्त नहीं है। यदि भोग और मोक्ष (निर्वाण) अन्य से प्रार्थित हों, तो वह भोग और मोक्ष के समय स्थायी होना चाहिए। परन्तु स्थायी मानने पर क्षणिकता के स्वीकार का विरोध आता है। इसलिए अविद्या आदि अन्योन्य की उत्पत्ति के लिए ही हो, तो होने दो, किन्तु संघात सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि भोक्ता का अभाव है, ऐसा अभिप्राय है।

3.4. 'उत्तरोत्पादे चपूर्वनिरोधात्'

सूत्र के द्वारा शंकराचार्य यह दिखाते हैं कि अविद्या आदि के (परस्पर) उत्पत्ति मात्र के निमित्त होने से संघात की सिद्धि नहीं होती क्योंकि क्षणभंगवादी बौद्ध का यह कहना है कि उत्तर क्षणकी उत्पत्ति के समय पूर्व क्षण का नाश होता है। ऐसा स्वीकार करने वाला पूर्व और उत्तर क्षण का कार्य-कारणभाव सिद्ध नहीं कर सकेगा, क्योंकि नष्ट होता हुआ या नष्ट हुआ पूर्वक्षणिक कार्य अभावग्रस्त होने से उत्तर क्षणिक कार्य का हेतु है, ऐसा अभिप्राय हो, तो वैसा मानने पर भी कार्यकारणभाव उपपन्न नहीं होगा, क्योंकि भावभूत के फिर व्यापार की कल्पना करने पर उसका अन्य क्षण के साथ सम्बन्ध का प्रसंग आता है। यदि भाव ही इसका व्यापार हो, ऐसा अभिप्राय है, तो वैसे भी उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि हेतु-स्वभाव से अनुपरक्त हुए बिना फल की उत्पत्ति संभव नहीं है। यदि यह मानें कि हेतु स्वभाव से ही अनुपरक्त होता है, तो हेतु स्वभाव फल के काल में स्थायी होने से क्षणभंग के स्वीकार के त्याग का प्रसंग आवेगा अथवा हेतु स्वभाव से उपरक्त हुए बिना ही फल उत्पन्न होता है, ऐसा कार्य-कारणभाव स्वीकार करने से तुम्हारे मत में सर्वत्र उसके प्राप्त होने से अतिप्रसंग होगा। यदि यह मान लिया जाय कि हेतु स्वभाव उत्पाद एवं निरोध वस्तु का ही स्वरूप है या अन्य वस्तु रूप है तो भी सर्वथा उपपन्न नहीं हो सकता। यदि यह मान लिया जाय कि उत्पाद

और निरोध शब्दों से मध्वर्ती वस्तु के आदि और अन्त नाम की अवस्थाएँ वाच्य होती हैं ऐसा कोई विशेष है, तो ऐसी अवस्था में भी वस्तु का आदि, मध्य और अन्त, इन तीन क्षणों के साथ सम्बन्ध होने से क्षणिकत्व स्वीकार की हानि होती है। यदि अश्व और महिष के समान वस्तु के उत्पाद और निरोध अत्यन्त व्यतिरिक्त हों, तो वस्तु के उत्पाद और निरोध से संस्पृष्ट न होने से उसके शाश्वत होने का प्रसंग आवेगा यदि वस्तु के दर्शन उत्पाद और अदर्शन निरोध हो, तो ऐसी अवस्था में भी वे द्रष्टा के धर्म होंगे, वस्तु के नहीं, इससे वस्तु के शाश्वत होने का प्रसंग आवेगा। इससे भी सौगत मत असंगत है।

3.5. 'असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा'

सूत्र द्वारा शंकराचार्य यह दिखलाते हैं कि यदि हेतु के बिना कार्य की उत्पत्ति मानी जाय, तो बौद्ध दर्शन के प्रतीत्यसमुत्पाद प्रतिज्ञा का बाध होगा। यदि कार्यपर्यन्त कारण की स्थिति मानी जाय तो कार्य-कारण युगपद् हो जाएँगे और क्षणिक प्रतिज्ञा की हानि होगी। बौद्ध दर्शन में चार प्रकार के हेतुओं को प्राप्त करके चित्त और चैत्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं, इस प्रतिज्ञा की भी हानि होगी और निर्हेतुक उत्पत्ति मानने पर, तो प्रतिबन्ध के न होने से सब वस्तु सर्वत्र उत्पन्न होने लगेगी। 'उत्तरक्षण की उत्पत्ति तक पूर्वक्षण अवस्थित रहेगा', यदि ऐसा माना जाय, तो हेतु और फल समकालीन हो जाएँगे और ऐसा होने पर संस्कार क्षणिक हैं, यह प्रतिज्ञा बाधित होगी। वास्तविकता यह है कि बौद्ध दर्शन में बिना हेतु के कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। किसी कार्य की उत्पत्ति में विषय, करण, सहकारी और संस्कार ये चार प्रकार के हेतु स्वीकार किये गये हैं। ये बौद्ध ग्रन्थों में क्रम आलम्बन प्रत्यय, अधिपति प्रत्यय, सहकारि प्रत्यय तथा समनन्तर प्रत्यय कहे जाते हैं। अतएव कार्य निर्हेतुक नहीं हो सकते। इसी प्रकार कारण-कार्य में यौग पद भी नहीं हो सकता, क्योंकि इससे क्षणिकत्व का विरोध होगा, अतएव बौद्ध दर्शन का सर्वास्तिवाद असंगत है।

3.6. 'प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात्'

सूत्र के द्वारा शंकराचार्य यह दिखाते हैं कि वैनाशिक ऐसी परिकल्पना करते हैं कि जो बुद्धि बोध्य, उत्पाद्य और क्षणिक है, वह तीन वस्तुओं से भिन्न है और उन तीनों को वे प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध एवं आकाश कहते हैं और ये तीन अवस्तुएँ अभावमात्र निरूपाख्य हैं। सर्वास्तिवादियों का यह मानना है कि भावों का बुद्धिपूर्वक विनाश प्रतिसंख्यानिरोध है, और उससे विपरीत अप्रतिसंख्यानिरोध है तथा आवरण का अभावमात्र आकाश है। यह प्रतिसंख्या निरोध या अप्रतिसंख्यानिरोध सन्तानगोचर होगा या भाव गोचर। सन्तानगोचर तो हो नहीं सकता, क्योंकि सर्वसन्तानों में सन्तानियों के विच्छेदरहित कार्य-कारणभाव होने से सन्तान का विच्छेद संभव नहीं है। इसी प्रकार वे भावगोचर भी नहीं हो सकते, क्योंकि भावों का निश्चय ही विनाश नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि सब अवस्थाओं में भी प्रत्यभिज्ञान के बल से अन्वयी का विच्छेद देखने को नहीं मिलता। इससे सिद्ध होता है कि कल्पित दोनों निरोध अनुपपन्न हैं।

3.7. 'उभयथा च दोषात्'

सूत्र द्वारा शंकराचार्य यह स्पष्ट करते हैं कि बौद्ध दर्शन में अविद्या का सम्यग्ज्ञान द्वारा नाश होता है अथवा अपने आप से। अविद्या का नाश दोनों प्रकार में से किसी भी रूप में मानने पर बौद्ध दर्शन सदोष होने के कारण असंगत होगा। वस्तुतः यम, नियम, श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन ही सम्यग्ज्ञान के साधन हैं। यदि साधनरहित सम्यग्ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति मानी जाय, तो बौद्ध मत का बिना कारण के नाश का सिद्धान्त बाधित हो जाएगा। इसके विपरीत यदि यह कहा जाय कि अविद्या का स्वतः ही विनाश हो जाता है, तो मार्गोपदेश व्यर्थ हो जाएगा इस प्रकार दोनों ही पक्षों के दूषित होने से बौद्ध दर्शन का सर्वास्तिवाद अयुक्त है।

3.8. 'आकाशे चाविशेषात्'

सूत्र के द्वारा शंकराचार्य यह स्पष्ट करते हैं कि अब प्रतिसंख्या निरोध एवं अप्रतिसंख्यानिरोध के तुच्छत्व के निराकरण के पश्चात् आकाश के तुच्छत्व का निराकरण किया जा रहा है। शंकराचार्य का यह मानना है कि आकाश 'अवस्तु' नहीं है। श्रुति कहती है कि 'आत्मन आकाशः संभूतः' अर्थात् आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ। अनुमान से भी इसकी सिद्धि होती है। जिस प्रकार गन्ध गुण से पृथ्वी का अनुमान किया जाता है, उसी प्रकार शब्द गुण से आकाश का अनुमान किया जाता है। बौद्धों के अनुसार आकाश वायु का आश्रय है, अतः इसे वस्तु रूप होना चाहिए। पुनः, हम यह नहीं कह सकते कि प्रतिसंख्या निरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध के समान आकाश अवस्तु है और साथ-साथ नित्य भी है। जो अवस्तु रूप है, वह न तो नित्य हो सकती है और न ही अनित्य। अतएव सर्वास्तिवादियों के द्वारा आकाश के तुच्छत्व के निराकरण द्वारा भी शंकराचार्य सर्वास्तिवादियों को असंगत सिद्ध किये हैं।

3.9. 'अनुस्मृतेश्च'

सूत्र के द्वारा शंकराचार्य यह दिखाते हैं कि उपलब्धि के अनन्तर उत्पन्न हुआ स्मरण ही अनुस्मृति है। इससे प्रतीत होता है कि अनुभवकर्त्ता आत्मा क्षणिक नहीं है। यदि क्षणभंगवाद को सार्वभौम सत्य मान लिया जाय, तो अनुभावक आत्मा भी क्षणिक हो जाएगा। ऐसी स्थिति में स्मृति असंभव हो जाएँगी। स्मृति के लिए यह आवश्यक है कि ज्ञान प्राप्त करने वाली आत्मा और स्मरण करने वाली आत्मा समान हो। संवेदन, प्रत्यभिज्ञा, प्रत्यक्ष व स्मरण के क्षण एक ही आत्मा से सम्बन्धित होने चाहिए तभी स्मृति की संभावना हो सकती है। यह तभी संभव है, जब आत्मा क्षणिक न होकर नित्य और शाश्वत हो। यदि कोई कहे कि वास्तव में नित्य आत्मा नाम की कोई भी वस्तु संसार में विद्यमान नहीं है, केवल दो या अधिक स्वसंवेदनों के सादृश्य 'तेनेदं सदृशं' के आधार पर ही हम एक नित्य आत्मा की कल्पना कर लेते हैं। इसके उत्तर में वेदान्ती कहता है कि इस समानता की प्रत्यभिज्ञा तभी हो सकती है, जबकि 'तेनेदं सदृशं' में प्रतियोगी, अनुयोगी तथा सादृश्य का ग्रहीता नित्य आत्मा है, अतएव बौद्ध दर्शन का क्षणभंगवाद कभी भी युक्तिसंगत सिद्धान्त नहीं हो सकता।

3.10. 'नासतोऽदृष्टत्वात्'

सूत्र के द्वारा शंकराचार्य यह स्पष्ट करते हैं कि अभाव से कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि असत् नरश्रृंग आदि से कार्योत्पत्ति नहीं देखी जाती। क्षणभंग वादियों के अनुसार प्रथम क्षण के नष्ट हो जाने पर ही द्वितीय क्षण की उत्पत्ति होती है। इसका अर्थ यह है कि अभाव से ही कार्य क्षण की उत्पत्ति होती है। यदि अभाव से ही कार्य की उत्पत्ति मान ली जाय, तो किसी कार्य की उत्पत्ति के लिए विशिष्ट कारणों की क्या आवश्यकता होगी, अभाव तो सर्वत्र ही होता है। यदि यह कहा जाय कि विभिन्न प्रकार के अभाव होते हैं और उनके भीतर विशिष्ट गुण पाये जाते हैं, तो ऐसी स्थिति में वे अभाव न होकर भाव पदार्थ हो जाएँगे। अतएव यह कहा जा सकता है कि अभाव के अन्दर कार्य करने की क्षमता का बिलकुल अभाव होने के कारण भी सर्वास्तिवाद असंगत है।

3.11. 'उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः'

सूत्र के द्वारा शंकराचार्य सर्वास्तिवादियों के सम्बन्ध में यह कहते हैं। कि यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति स्वीकार करें, तो ऐसा मानने पर चेष्टा रहित उदासीन पुरुषों की अभिमत सिद्ध हो जायेगी, क्योंकि अभाव सर्वत्र सुलभ है। ऐसी स्थिति में खेत में प्रयत्न न करने वाले किसान को भी अभिमत की सिद्धि हो जाएँगी। मृत्तिका की संस्कार क्रिया में प्रयत्न न करने वाले कुलाल से वर्तन उत्पन्न हो जाएँगे। इसी प्रकार स्वर्ग और मोक्ष के लिए भी कोई किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करेगा। अतएव बौद्ध दर्शन के सर्वास्तिवाद को युक्त नहीं कहा जा सकता।

3.12. निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि शंकराचार्य ने बौद्ध दर्शन के सर्वास्तिवाद में विद्यमान दोषों को दिखाते हुए उसे असंगत माना है। उन्होंने सर्वास्तिवादियों का खण्डन करते हुए यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि सर्वास्तिवाद में स्थिरआत्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया है। सर्वास्तिवाद आत्मा को रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान रूप पाँच स्कन्धों का समुदाय मात्र माना गया है। इन पाँच स्कन्धों की समष्टि से भिन्न कोई आत्मा नहीं है। परन्तु यदि बचपन से बुढ़ापे तक रहने वाली कोई आत्मा नहीं है, तो बुढ़ापे में बचपन की बातों का स्मरण किसे होता है? पुनश्च यदि स्थिर आत्मा नहीं है, जैसाकि सर्वास्तिवादी मानते हैं, तो कर्म सिद्धान्त ही खण्डित हो जाता है और साथ ही पुनर्जन्म एवं मोक्ष की व्याख्या भी असंभव हो जाती है। इस प्रकार शंकराचार्य ने यह उद्घोषित किया है कि सर्वास्तिवादियों का मत सर्ववैनाशिक है और उसे स्वीकार करने पर लोक व्यवहार संभव नहीं रह जाएगा।

प्रश्नावली

बौद्ध दर्शन के
सर्वास्तिवाद का खण्डन

लघु उत्तरीय प्रश्न—

1. बौद्ध दर्शन के सर्वास्तिवाद को स्पष्ट करें?
2. बौद्ध दर्शन के प्रतीत्यसमुत्पाद की चर्चा करें।
3. 'उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात्' की व्याख्या करें।
4. 'उभयया च दोषात्' की व्याख्या करें।
5. 'अनुस्मृतेश्च' की विवेचना कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न—

1. शंकराचार्य द्वारा बौद्ध दर्शन की आलोचना पर एक निबन्ध लिखिए।
2. शंकराचार्य द्वारा बौद्ध दर्शन के प्रमुख मतों का खण्डन किस प्रकार किया है?

इकाई-4

शंकराचार्य के द्वारा बौद्ध दर्शन के योगाचार की आलोचना

संरचना

- 4.0. उद्देश्य
- 4.1. प्रस्तावना
- 4.2. 'नाभाव उपलब्धेः'
- 4.3. 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्'
- 4.4. 'नभावोऽनुपलब्धः'
- 4.5. 'क्षणिकत्वाच्च'
- 4.6. 'सर्वथानुपपत्तेश्च'
- 4.7. शंकराचार्य के विज्ञानवाद की आलोचना के पक्ष और विपक्ष
- 4.8. निष्कर्ष

4.0. उद्देश्य

शंकराचार्य स्वयं विज्ञानवादी होते हुए भी बौद्ध विज्ञानवाद का खण्डन वस्तुवाद के दृष्टिकोण से किया है। बौद्धविज्ञानवाद का खण्डन करते समय शंकराचार्य पारमार्थिक विज्ञानवाद और व्यावहारिक वस्तुवाद को स्वीकार करते हैं। बौद्ध दर्शन के विज्ञानवाद का खण्डन करते हुए वे यह दिखाते हैं कि बौद्ध विज्ञानवाद का सबसे बड़ा दोष यही है कि वह व्यवहार में भी विज्ञानवाद स्वीकार करता है एवं समस्त लोकव्यवहार का व्यर्थ ही निषेध करता है। विश्व के प्रसिद्ध विज्ञानवादी सम्प्रदायों में बौद्ध विज्ञानवाद ही एकमात्र ऐसा सिद्धन्त है जो परमार्थ और व्यवहार दोनों स्तर पर विज्ञानवाद को स्वीकार करता है। शंकराचार्य ने सुस्पष्ट और युक्तियुक्त रूप में प्रतिपादित किया है कि व्यवहार में वस्तुवाद ही मानना पड़ता है, क्योंकि व्यवहार में भी विज्ञानवाद मानने से सारे लोक व्यवहार का निरर्थक निषेध हो जाता है।

4.1. प्रस्तावना

शंकराचार्य का यह मानना है कि बौद्ध विज्ञानवादी अपने विज्ञानवादी दृष्टिकोण के समर्थन में यह प्रतिपादित करते हैं कि यदि बाह्य पदार्थ हैं, तो वे या तो परमाणु रूप हैं या संघातरूप हैं परमाणु दृष्टिगत नहीं होते और षडंश होने के कारण अविभाज्य नहीं हो सकते। परमाणु संघात भी परमाणुओं से भिन्न या अभिन्न सिद्ध नहीं होते। सहोपलम्भ अर्थात् विज्ञान और विषय (अर्थ) की सदा एक साथ उपलब्धि इस बात का प्रबल प्रमाण है कि विज्ञान ही अर्थकार होकर प्रतीत होता

है। पुनः भ्रम और स्वप्न के पदार्थों में तथा जागरित अवस्था के लौकिक पदार्थों में कोई भेद नहीं है, क्योंकि दोनों में विज्ञान अर्थाकार रूप लेकर प्रतीत होता है। विज्ञान बहुत्व का कारण अनादि वासना भेद है, पदार्थ भेद नहीं। अनादि संसार चक्र में वासना और विज्ञान, बीज और अंकुर के समान एक दूसरे के कारण और कार्य बनते रहते हैं। शंकराचार्य के अनुसार बौद्ध दर्शन विज्ञानवाद इसी मत का प्रतिपादन करता है। परन्तु शंकराचार्य के अनुसार सहोपलम्भ केवल यही सिद्ध करता है कि विज्ञान और विषय की अनुभूति युगपद् होती है। इससे विज्ञान एवं अर्थ की एकता नहीं सिद्ध होती है, क्योंकि विज्ञान-सहचर होना विज्ञान-स्वरूप होना नहीं है, विज्ञान-ग्राह्य होना विज्ञानांश बनना नहीं है। लोक व्यवहार में बाह्य-पदार्थों की असंदिग्ध उपलब्धि होती है, जिसका व्यवहार में अपलाप नहीं किया जा सकता। अतः 'अर्थ' और 'ज्ञान' का भेद सिद्ध है। 'श्वेत गाय' और 'कपिल गाय' में श्वेतत्व और कपिलत्व भिन्न हैं, किन्तु गोत्व वही है। 'घट विज्ञान' और 'पट-विज्ञान' में 'घट' और 'पट' भिन्न हैं किन्तु विज्ञान एक है। इस प्रकार शंकराचार्य का कहना है कि—'तस्मादर्थज्ञानयोर्भेदः' अर्थात् 'अर्थ' एवं 'विज्ञान' का भेद स्पष्ट है। शंकराचार्य का यह स्पष्ट अभिमत है कि यदि बाह्य-पदार्थ बन्ध्यापुत्र के समान नितान्त असत् एवं परिकल्पित हैं, तो बाह्य पदार्थ की कल्पना भी असंभव है। यदि बाह्य-पदार्थ न हो, तो विज्ञान उनका आकार ग्रहण नहीं कर सकता और बाह्य पदार्थों के समान प्रतीत नहीं हो सकता। सत्ता के बिना संभाव्यता के या समानता के विज्ञान की कल्पना असंभव है। यदि बाह्य पदार्थ न हों तो यह कथन भी संभव नहीं हो सकता कि विज्ञान-बहिर्वत् प्रतीत होता है। वस्तु का सम्भव या असम्भव होना उसके प्रमाणसिद्ध या प्रमाण-असिद्ध पर निर्भर करता है। व्यवहार में बाह्य-प्रमाण सब प्रमाणों के द्वारा सिद्ध है, अतः उसका निषेध नहीं किया जा सकता। शंकराचार्य का कहना है कि स्वप्न पदार्थों को और लौकिक पदार्थों को समान स्तर पर रखना अनुचित है क्योंकि विज्ञान भेद पदार्थ भेद के कारण है, वासना भेद के कारण नहीं हैं। वासनाएँ मानस संस्कार हैं और बिना अधिकरण के नहीं रह सकती। आलय विज्ञान भी प्रवृत्ति विज्ञान के समान क्षणिक होने के कारण वासनाओं का अधिकरण नहीं हो सकता। अतः विज्ञान भेद अर्थ भेद पर निर्भर नहीं है। पुनश्च शंकराचार्य का यह भी कहना है कि नित्य साक्षी चैतन्य ही समस्त ज्ञान का अधिष्ठान है, जिसका निराकरण असंभव। अतएव नित्य साक्षी का सत्ता को स्वीकार किये किसी प्रकार का ज्ञान या अनुभव संभव नहीं है। शंकराचार्य विज्ञानवाद का खण्डन निम्न तर्कों के आधार पर किया है—

4.2. 'नाभाव उपलब्धिः'

सूत्र द्वारा शंकराचार्य यह दिखाते हैं कि विज्ञान से अतिरिक्त पदार्थों का अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि विज्ञान से अतिरिक्त पदार्थों की उपलब्धि होती है। हमारा प्रत्येक प्रत्यक्ष बाह्य वस्तुओं की ओर संकेत करता है। विज्ञानवादी इस बात को स्वयं स्वीकार करते हैं, जब वे कहते हैं कि—'यदन्तर्ज्ञयरूपं तद् बहिर्वदवभासते' अर्थात् ज्ञान के आन्तरिक विषय ही बाह्य वस्तुओं के रूप में प्रतीयमान होते हैं। यदि बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व न होता, तो यह भी नहीं कहा जा सकता था कि आन्तरिक विज्ञान ही बाह्य वस्तुओं के समान दिखायी पड़ते हैं। 'इतरथा हि कस्माद् बहिर्वदिति ब्रूयुः। नहि विष्णुमित्रो बन्ध्यापुत्रवदवभासत इति कश्चिदाचक्षीत' अर्थात् कोई भी समझदार व्यक्ति यह कहता हुआ नहीं पाया जा सकता कि विष्णुमित्र बन्ध्यापुत्र के समान दिखायी दे रहा है। इसी सन्दर्भ में शंकराचार्य ने धर्मकीर्ति से एक उद्धरण प्रस्तुत किया है— 'अविभागोऽपि बुध्दयात्मा

विपर्यासित दर्शनैः। ग्राह्यग्राहकसंवित्ति भेदवानिव लक्ष्यते' अर्थात् अद्वय चैतन्य ही भ्रान्तिवश ज्ञाताज्ञेय के द्वैतरूप में दिखायी पड़ता है। इसका खण्डन करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि—

शंकराचार्य के द्वारा
बौद्ध दर्शन के योगाचार
की आलोचना

“विज्ञानवादियों को यह नहीं कहना चाहिए कि आन्तरिक विज्ञान ही बाह्य वस्तुओं की भाँति दिखायी पड़ते हैं।”

शंकर के अनुसार विज्ञान और वस्तुओं में तादात्म्य सम्बन्ध न होकर कार्य—कारण सम्बन्ध पाया जाता है। बिना बाह्य—वस्तुओं के विज्ञानों की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि एक विज्ञान दूसरे विज्ञान से उत्पन्न करता है, अतः बाह्य वस्तुओं के कोई आवश्यकता नहीं है तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि इससे अनवस्था दोष की उत्पत्ति होगी। अतः बाह्य—वस्तुओं का अभाव नहीं है।

4.3. 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्'

सूत्र द्वारा शंकराचार्य यह दिखाते हैं कि स्वप्न आदि अवस्था के ज्ञान के समान जाग्रत अवस्था में हुए स्तम्भ आदि ज्ञान भी बाह्य अर्थ के बिना ही होने चाहिए, यह युक्त है, क्योंकि दोनों ज्ञानों प्रत्ययत्व समान है, ऐसा बाह्य ज्ञान का निषेध करने वालों ने जो कहा है, उसका प्रत्याख्यान करना चाहिए। इस विषय में शंकराचार्य कहते हैं कि जाग्रत ज्ञान, स्वप्न आदि के ज्ञान के समान नहीं हो सकते, किससे? इससे कि दोनों में वैधर्म्य है, क्योंकि स्वप्न और जाग्रत अवस्था के प्रत्यय में वैधर्म्य है। परन्तु वह वैधर्म्य क्या है? हम कहते हैं कि वह बाध और अबाध है, क्योंकि स्वप्न अवस्था में उपलब्ध वस्तु जाग्रत पुरुष को बाधित होती है। महाजन—समागम की मुझे जो उपलब्धि हुई थी, वह मिथ्या है, मुझे महाजन समागम हुआ नहीं, किन्तु मेरे मन की निद्रा से ग्लानियुक्त होने से मुझे यह भ्रान्ति उत्पन्न हुई। उसी प्रकार मायादि में यथा योग्य बाध होता है। परन्तु जाग्रतावस्था में उपलब्ध हुई स्तम्भ आदि वस्तु किसी भी अवस्था में इस प्रकार बाधित नहीं होती और जो स्वप्न में दर्शन है, वह स्मृति है और जो जाग्रतावस्था में दर्शन है, वह उपलब्धि है।

शंकराचार्य का कहना है कि स्मृति एवं उपलब्धि में प्रत्यक्ष भेद स्वतः अनुभव में आता है, वह यह है कि प्रथम में अर्थ का विप्रयोग है और दूसरे में सम्प्रयोग है जैसे, दृष्ट पुत्र का स्मरण करता हूँ, उसको उपलब्ध नहीं करता, उपलब्ध करना चाहता हूँ, इस प्रकार की ऐसी स्थिति में दोनों उपलब्धियों के अन्तर का स्वयं अनुभव करता हुआ ऐसा नहीं कह सकता कि जाग्रत अवस्था की उपलब्धि मिथ्या है, उपलब्धि होने से स्वप्न की उपलब्धि के समान। जो अपने को प्राज्ञ मानते हैं उन पुरुषों को अपने अनुभव का निषेध करना युक्त नहीं है और अनुभव के साथ विरोध होने के भय से जाग्रत अवस्था के प्रत्यय स्वयं निराधार है। ऐसा कहने में असमर्थ स्वप्न प्रत्ययों के समान ये प्रत्यय हैं, इस प्रकार साधर्म्य से जाग्रत अवस्था के प्रत्यय निराधार हैं, ऐसा कहना चाहता है। परन्तु जो जिसका स्वतः धर्म नहीं हो सकता, वह अन्य के साधर्म्य से उसका धर्म नहीं हो सकता, क्योंकि अग्नि उष्ण है, ऐसा अनुभव होता है, वह उक्त साधर्म्य से शीतल नहीं हो सकती। स्वप्न और जाग्रत प्रत्ययों का वैधर्म्य तो दिखाया गया है।

4.4. 'नभावोऽनुपलब्धः'

सूत्र द्वारा शंकराचार्य यह स्पष्ट करते हैं कि विज्ञानवादी यह मानते हैं कि अर्थ (विषय के बिना भी वासना-वैचित्र्य से ही ज्ञान वैचित्र्य हो सकता है, किन्तु विज्ञानवादियों के इस दृष्टिकोण का शंकराचार्य प्रत्याख्यान करते हैं। उनका यह कहना है कि यदि बाह्य पदार्थों की अनुपलब्धि हो, तो वासनाओं की सत्ता उपपन्न नहीं हो सकती। अर्थ की उपलब्धि से प्रत्येक अर्थ में भिन्न-भिन्न रूप वाली वासनाएँ होती हैं। यदि अर्थ अनुपलभ्यमान हो, तो विचित्र वासनाएँ किस कारण से होंगी? वासना अनादि हैं, ऐसा मानने पर अन्ध-परम्परा से व्यवहार व लोप करने वाली निर्मूल अवस्था ही होगी, अभिप्राय सिद्ध नहीं होगा। बाह्य अर्थ का निषेध करने वाले वासना-निमित्त यह ज्ञान-समूह है, अर्थ-निमित्तक नहीं, इसकी सिद्ध के लिए जो अन्वय-व्यतिरेक का उपन्यास किया है, ऐसा होने पर उसका भी निराकरण किया हुआ समझना चाहिए क्योंकि अर्थ की उपलब्धि के बिना वासना उपपन्न नहीं होती और वासना के बिना भी अर्थ की उपलब्धि प्राप्त होती है। अर्थोपलब्धि के बिना वासना की उत्पत्ति का स्वीकार न होने से अन्वय-व्यतिरेक भी अर्थ के अस्तित्व का ही प्रतिष्ठापन करते हैं। अतएव यह कहा जा सकता है कि वासना संस्कार विशेष हैं और आश्रय के बिना नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसा लोक में देखा जाता है और तुम्हारे मत में वासना का कोई आश्रय नहीं है, क्योंकि वह प्रमाण से अनुपलब्ध है।

4.5. 'क्षणिकत्वाच्च'

सूत्र के द्वारा शंकराचार्य यह दिखाते हैं कि आलयविज्ञान की वासनाओं के आश्रय से जो परिकल्पना की गयी है, वह भी क्षणिकत्व के स्वीकार से अस्थिर स्वरूप होने से प्रवृत्ति विज्ञान के समान वासनाओं का आधार नहीं हो सकता है। तीनों कालों के साथ सम्बन्ध रखने वाला एक अन्वयी सर्वार्थदर्शी कूटस्थ नित्य न हो तो, देश-काल निमित्त की अपेक्षा से जो वासनाओं के अधीन होता है, वह और इनके अधीन स्मृति, प्रतिसन्धान आदि व्यवहार नहीं होंगे। आलयविज्ञान को स्थिर स्वभाव मानने में तो सिद्धान्त की हानि होगी और विज्ञानवाद में भी क्षणिकत्व का स्वीकार समान होने से बाह्य विवाद में क्षणिकत्व के आधार पर रहने वाले 'उत्तरोत्पादेचपूर्वनिरोधात्' इत्यादि जो दूषण प्रकाशित किये गये हैं, उनका यहाँ भी अनुसन्धान करना युक्त है। इस प्रकार बाह्यार्थ पक्ष और विज्ञानवाद पक्ष, इन दोनों वैनाशिकों (बौद्धों) के पक्ष का निराकरण किया गया। शंकराचार्य का यह कहना है कि शून्यवादी पक्ष तो सब प्रमाणों से विरुद्ध है। अतः इसका निराकरण करने के लिए आदर नहीं किया जाता, क्योंकि बिना किसी एक तत्व को माने ज्ञान सर्वप्रमाण सिद्ध लोकव्यवहार का अपलाप नहीं किया जा सकता। अपवाद या निषेधात्मक उदाहरण सामान्य नियम के अभाव होने पर प्रसिद्ध होता है।

4.6. 'सर्वथानुपपत्तेश्च'

सूत्र के द्वारा शंकराचार्य विज्ञानवाद के सम्बन्ध में यह अभिमत व्यक्त करते हैं कि बहुत कहने से क्या प्रयोजन है? सब प्रकार से ज्यों-ज्यों इस वैनाशिक सिद्धान्त की उपपत्ति-युक्त करने के लिए परीक्षा की जाती है, त्यों-त्यों रेती में बनाये गये कुएं के समान विदीर्ण ही होता है, उसमें हम कुछ भी उपपत्ति नहीं देखते। इसमें हम कोई उपपत्ति को नहीं देखते हैं, जिसके कारण वैनाशिक शास्त्र

व्यवहार में अनुपपन्न है। बाह्यार्थवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद परस्पर विरुद्ध इन तीन वादों का उपदेश करते हुए सुगत (बुद्ध) ने अपनी असम्बद्ध प्रलापिता प्रकट की है अथवा विरुद्ध अर्थ के ज्ञान से ये प्रजाएँ मोह को प्राप्त हों या विमूढ़ हों, ऐसा प्रजाओं के प्रति अतिविद्वेष प्रकट किया है। शंकराचार्य के कहने का निहितार्थ यह है कि बौद्ध दर्शन सब प्रकार से असंगत होने से मुमुक्षुओं द्वारा आदरणीय नहीं है। बौद्ध स्वयं परस्पर विरुद्ध मतों का प्रतिपादन करते हैं, कोई बाह्यार्थवादी है, कोई विज्ञानवादी है तथा कोई शून्यवादी है। इस परस्पर विरोध के कारण कोई भी समझदार व्यक्ति बौद्ध दर्शन को स्वीकार नहीं कर सकता। सुगत का सिद्धान्त लोक और वेद के विरुद्ध होने के कारण भ्रान्तिमूलक है। अतएव कल्याण चाहने वालों को इस सुगत सिद्धान्त का सर्वथा अनादर करना चाहिए।

शंकराचार्य के द्वारा
बौद्ध दर्शन के योगाचार
की आलोचना

4.7. शंकराचार्य के विज्ञानवाद की आलोचना के पक्ष और विपक्ष

डॉ० चन्द्रधर शर्मा ने अपनी पुस्तक 'बौद्ध दर्शन और वेदान्त' में यह प्रतिपादित किया है कि "शंकराचार्य ने केवल न्यायानुसारी या स्वतंत्र विज्ञानवाद का खण्डन किया है जिसको दिग्नाग और धर्मकीर्ति तथा शान्तरक्षित ने प्रस्तावित किया है और असंग तथा बसुबन्धु के आगमानुसारी विज्ञानवाद का खण्डन नहीं किया है।"

यदि शंकराचार्य के खण्डन का गम्भीरतापूर्वक अवगाहन किया जाय, तो यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने आलय विज्ञान और विज्ञप्तिमात्रता का भी खण्डन किया है और ये मत बसुबन्धु और असंग के हैं। अतः उन्होंने प्राचीन तथा आगमानुसारी विज्ञानवाद का भी खण्डन किया है। पुनश्च आधुनिक विद्वानों ने प्रायः यह कहा है कि शंकराचार्य द्वारा की गयी विज्ञानवाद की आलोचना अद्वैतवेदान्तानुसारी नहीं है। इस आलोचना में उन्होंने बाह्यार्थ का अस्तित्व अर्थात् जगत् का अस्तित्व स्वीकार किया है। किन्तु यह स्वीकारोक्ति अद्वैत वेदान्त के मायावाद के विपरीत है। अतएव यह आलोचना न्यायदर्शन के अनुसार है।

प्रो० संगम लाल पाण्डेय ने अपनी पुस्तक 'मूल शांकर वेदान्त' में यह दिखाया है कि "शंकराचार्यकृत विज्ञानवाद की आलोचना सर्वथानुकूल है। इस पक्ष में प्रो० पाण्डेय तीन तर्क देते हैं—

- (1) शंकराचार्य विज्ञानों से भिन्न कम से कम एक वस्तु की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। यह सत्ता उनके मत से ब्रह्म या आत्मा है। विज्ञानवादी ऐसी अर्थात् विज्ञान से भिन्न किसी सत्ता को नहीं मानते हैं।
- (2) शंकराचार्य बाह्य अर्थ को अनिर्वचनीय मानते हैं। बाह्य अर्थ सत् और असत् से विलक्षण है। विज्ञानवादी बाह्य अर्थ को असत् मानते हैं। इस प्रकार शंकराचार्य और विज्ञानवादियों में भेद है। अतः शंकर ने अपने सिद्धान्तों के अनुसार ही उनकी आलोचना की है।
- (3) फिर अन्त में हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि शंकराचार्य की आलोचना में हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि शंकराचार्य की आलोचना विरोध परिहार के लिए है। वह दोष दर्शन या छिद्रान्वेषण के लिए नहीं है। यदि उसको हम परमतानुसार माने, तो फिर यह छिद्रान्वेषण के लिए ही होगी।

4.8. निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि शंकराचार्य ने बौद्ध विज्ञानवाद का निराकरण करते हुए यह दिखाया है कि बाह्य पदार्थों की सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसका सभी को प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। किसी घट, पट या स्तंभ की प्रत्यक्ष अनुभूति करते हुए उसे नहीं मानना, वैसा ही होगा, जैसे भोजन करते हुए रसास्वादन को नहीं मानना। यदि साक्षात् उपलब्धि का विश्वास न किया जाय, तो विज्ञानों (मानसिक भावों या प्रत्ययों) की भी सत्ता को स्वीकार नहीं किया जा सकता यदि यह कहा जाए कि मानसिक प्रत्यय ही भ्रमवश बाह्य विषय के समान आभासित होते हैं, तो इसका कोई अर्थ नहीं निकलेगा। यदि कोई बाह्य पदार्थ सत्य न माना जाय, तो यह कहना उसी प्रकार का होगा, जैसे यह कहा जाय कि 'नहि विष्णुमित्रो बन्ध्यापुत्रवदवभासत्' अर्थात् विष्णुमित्र बन्ध्यापुत्र के समान प्रतीत होता है। इसलिए जब तक घट, पट आदि प्रत्यक्ष भिन्न-भिन्न विषयों की सत्ता नहीं मानी जाती, तब तक घट ज्ञान को पट ज्ञान से पृथक् नहीं किया जा सकता, क्योंकि ज्ञान दोनों में ही है। जहाँ तक स्वप्न विषय और प्रत्यक्ष विषय के समानता की बात विज्ञानवादियों द्वारा की जाती है, तो इन दोनों में ही महान अन्तर है। स्वप्न के विषय जाग्रत अवस्था के अनुभव से बाधित होते हैं, किन्तु प्रत्यक्ष विषय का बाध तभी संभव है, वह भ्रान्तिमूलक हो। वास्तविकता यह है कि जाग्रत अवस्था कि प्रत्यक्ष विषय तब तक असत् नहीं कहे जा सकते, जब तक कि किसी प्रमाण द्वारा बाधित (मिथ्या प्रमाणित) नहीं होते। इस प्रकार विज्ञानवाद तर्क द्वारा यह सिद्ध नहीं कर पाता कि बाह्य पदार्थों की सत्ता नहीं है। बृहदारण्यकभाष्य में शंकराचार्य यह कहते हैं कि— शास्त्रार्थ यानी वाद-विवाद और वादी-प्रतिवादी को कोई अपना विज्ञान मात्र नहीं कह सकता, उनकी अलग सत्ता माननी ही पड़ेगी। यह कहना बड़ा ही विचित्र होगा कि मेरा ही एक विज्ञान दूसरे विज्ञान से वाद-विवाद और उसका खण्डन कर रहा है। अतएव बौद्ध विज्ञानवाद द्वारा बाह्य अर्थ (विषय) के बिना विज्ञान की सत्ता का ही प्रतिपादन करना अयुक्त है।

प्रश्नावली

लघु उत्तरीय प्रश्न—

1. बौद्ध विज्ञानवाद क्या है?
2. 'नाभावोऽनुपलब्धः' की व्याख्या कीजिए।
3. 'क्षणिकत्वाच्च' की विवेचना कीजिए।
4. 'सर्वथानुपपत्तेश्च' की चर्चा कीजिए।
5. बौद्ध दर्शन प्रत्यक्ष की सत्ता को किस प्रकार स्पष्ट करता है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न—

1. बौद्ध दर्शन के योगाचार मत की आलोचना शंकराचार्य ने किन युक्तियों के आधार पर की है पर एक निबन्ध लिखिए।
2. शंकराचार्य के विज्ञानवाद की आलोचना के पक्ष और विपक्ष में अपने तर्क दीजिए।

इकाई-5

शंकराचार्य द्वारा माध्यमिक (शून्यवाद) की आलोचना

संरचना

- 5.0 उद्देश्य
- 5.1. प्रस्तावना
- 5.2. माध्यमिक सम्प्रदाय में शून्यवाद का अर्थ और महत्व
- 5.3. शून्यवाद का तर्क और दर्शन
- 5.4. नागार्जुन के अनुसार सत् के दो रूप
- 3.5. माध्यमिक पर नास्तिक एवं सर्वनिषेधवादी होने का आरोप
- 5.6. माध्यमिक दर्शन में परमार्थ तत्त्व रूप निर्वाण
- 5.8. माध्यमिक का शून्यवाद और शंकराचार्य का अद्वैत वेदान्त
- 5.9. निष्कर्ष

5.0 उद्देश्य

बौद्ध दर्शन के माध्यमिक (शून्यवाद) और शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में काफी साम्य है। माध्यमिक दर्शन में महात्मा बुद्ध के निरपेक्ष अद्वैतवाद का पर्याप्त विकास हुआ है। यद्यपि बौद्ध दर्शन के माध्यमिक सम्प्रदाय ने अपने शून्यवाद को उपनिषदों से ग्रहण किया है और तत्त्व को स्वभाव शून्य मानते हुए उसका निषेधात्मक रूप में वर्णन किया है एवं तत्त्व के लिए निर्वाण शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु दोनों तर्क पद्धति और वर्णनशैली में अन्तर है। माध्यमिक दर्शन में स्पष्ट रूप से निर्वाण या तत्त्व को शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त के समान आत्मा या विज्ञान या ब्रह्म नहीं कहा गया है। शंकराचार्य ने माध्यमिक दर्शन का अद्वैत वेदान्त से भिन्नता दिखाने के लिए माध्यमिक मत का भी खण्डन किया है।

5.1. प्रस्तावना

प्रायः यह माना जाता है कि भगवान् बुद्ध के दर्शन का माध्यमिक सम्प्रदाय द्वारा जो प्रतिपादन किया गया है, वह आध्यात्मिक अद्वैतवाद या निरपेक्ष तत्त्ववाद है। माध्यमिक सम्प्रदाय के दार्शनिकों ने यह प्रतिपादित किया है कि तत्त्व निर्वाण है जो अतीन्द्रिय निर्विकल्प तथा अनिर्वचनीय है तथा स्वानुभूतिगम्य है। इसलिए माध्यमिक यह मानते हैं कि स्वानुभूति व बोधि इस दुःखरूप अविद्याजन्य संसार चक्र की निवृत्ति है। इसीलिए यह माना जाने लगा कि माध्यमिक दर्शन में भी अद्वैतवाद का ही विकास हुआ है, क्योंकि माध्यमिक दर्शन बौद्ध दर्शन के जिन मूल सिद्धान्तों के पृष्ठभूमि में अपने सिद्धान्तों को विकसित करता है, उसमें न तो लोक-व्यवहार

के प्रमाता का खण्डन होता है और न ही उपनिषद् के स्वयं सिद्ध नित्य चैतन्य का ही खण्डन होता है। यद्यपि स्वतःसिद्ध और स्वप्रकाश ज्ञान के लिए आत्मा पद का प्रयोग और उसका ब्रह्म से तादात्म्य उपनिषद् के ऋषियों के दर्शन की एक महान देन है, किन्तु माध्यमिक दर्शन में उसे आत्मा या ब्रह्म की सत्ता के रूप में न ग्रहण कर उसे 'निर्वाण' के रूप में व्यक्त किया है। शंकराचार्य ने जिन विशेषणों का प्रयोग अपने अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म या आत्मा के निरूपण में प्रयुक्त करते हैं, उन विशेषणों का प्रयोग माध्यमिक निर्वाण या शून्य के लिए करते हैं। इसीलिए कुछ लोग शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त के बीज को माध्यमिक दर्शन में निहित होने के कारण उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध तक कहते हैं। शंकराचार्य ने अपने अद्वैत वेदान्त में माध्यमिक शून्यवाद की भी आलोचना इसीलिए करते हैं, जिससे कि उनके अद्वैत वेदान्त को माध्यमिक दर्शन का ही तार्किक विकास समझे जाने की भूल न की जाएँ।

5.2. माध्यमिक सम्प्रदाय में शून्यवाद का अर्थ और महत्व

नागार्जुन द्वारा प्रणीत तथा अश्वघोष द्वारा समर्थित बौद्ध दर्शन के माध्यमिक सम्प्रदाय का 'शून्यवाद' अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं केन्द्रीय सम्प्रदाय है। माध्यमिक शून्य को तत्त्व, निर्वाण परमार्थ के अर्थ में ग्रहण करने के साथ-साथ इसे संसार, व्यवहार एवं असत् के रूप में भी ग्रहण किया है। वस्तुतः व्यवहार में शून्य का अर्थ है—'स्वभावशून्य' और परमार्थ में शून्य का अर्थ है— प्रपञ्चशून्य। स्वभावशून्य का अर्थ है— स्व अर्थात् अपनी निजी और 'भाव' का अर्थ है— स्वतंत्रता। अतएव अपनी निजी स्वतंत्रता से शून्य या रहित होना स्वभावशून्यता है। माध्यमिक दर्शन में स्वभाव—शून्य व्यवहार रूप में स्वभाव सापेक्षता है, किन्तु पारमार्थिक रूप में निर्वाण रूपी निरपेक्षता है। इसीलिए नागार्जुन ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि— "जो प्रतीत्यसमुत्पाद है, वही शून्य है और वही मध्यमाप्रतिपद है। अविद्याप्रसूत भवचक्र की दृष्टि से यह स्वभावशून्य धर्मों की प्रतीति है, व्यवहार है, सपेक्ष है, उपादान या आसक्तिजन्य है, यही बोध की दृष्टि से उपादान रहित निरपेक्ष या वास्तविक सत्ता है, प्रपञ्चशून्य एवं शिव तथा निर्वाण एवं परमार्थ है। वस्तुतः संसार और निर्वाण में कोई अन्तर नहीं है।"

5.3. शून्यवाद का तर्क और दर्शन

शून्यवाद या माध्यमिक बुद्धोपदिष्ट अद्वैतवाद की विचारधारा का ही प्रतिपादन करता है। शून्यवाद में तत्त्व को चतुष्कोटिविनिर्मुक्त माना गया है। माध्यमिक द्वन्द्वात्मक तर्क के आधार पर यह दिखाते हैं कि बुद्धि की कोटियाँ नैसर्गिक रूप से अन्तर्विरोधग्रस्त होती हैं। अतएव बुद्धि के आधार पर पक्ष या विपक्ष की सत्यता का निश्चय नहीं किया जा सकता और उसमें अन्तर्विरोध का आना अनिवार्य है। इस प्रकार माध्यमिक के तर्क का प्रयोजन आध्यात्मिक है, यह बताना है कि तत्त्व बुद्धिगम्य नहीं है, अपितु स्वानुभूतिगम्य है। अतएव बौद्धिक वाद—विवाद की अपेक्षा आध्यात्मिक साधना द्वारा निरपेक्ष अद्वैत तत्त्व का साक्षात्कार करना जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। माध्यमिक दर्शन में पारमार्थिक प्रतीत्यसमुत्पाद प्रपञ्च निषेधमात्र है, वह प्रपञ्चशून्य तत्त्व है वह शिव है, वह अखण्ड आनन्दरूप निर्वाण है। माध्यमिक दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद वास्तविकता कारण—कार्यवाद नहीं है, क्योंकि प्रतीत्यसमुत्पाद, परमार्थतः अनुत्पाद है। यहाँ संवृत्ति, व्यवहार, प्रतीति, अविद्या और उपादान आदि प्रपञ्च का सर्वथा विलय है। प्रतीत्यसमुत्पाद का

व्यवहारिक रूप अविद्याजन्य जन्ममरण चक्र है, उत्पाद—निरोध आदि प्रपञ्च है। यह कारण—कार्यभाव सापेक्ष है, बुद्धि—विकल्पजन्य है, अविद्या—प्रसूत है, अतः इसकी सत्यता प्रतीतिक अथवा व्यावहारिक है। परमार्थ निरपेक्ष अद्वैत तत्त्व है।

नागार्जुन ने अजातिवाद के उद्घोष से सर्वप्रथम तात्विक कारण—कार्यवाद के खण्डन से अपने ग्रन्थ 'माध्यमिककारिका का प्रारम्भ करते हुए कहा है कि—

न स्वतो, नापिपरतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः ।

उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन ॥

अर्थात् कोई भी पदार्थ कभी, कहीं और कथमपि उत्पन्न नहीं हो सकता, कोई पदार्थ न अपने आप (स्वतः) उत्पन्न हो सकता है न दूसरे कारण से (परतः), न अपने और दूसरे दोनों ही कारण (द्वाभ्याम) और बिना कारण (अहेतुतः) उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार नागार्जुन सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद दोनों का ही खण्डन करते हैं। उनके अनुसार सत्कार्यवाद में कार्य उत्पत्ति के पूर्व ही कारण में विद्यमान रहने के कारण उसकी पुनरुत्पत्ति मानना व्यर्थ है। असत् कार्यवाद में कारण और कार्य नितान्त भिन्न होने के कारण किसी भी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न हो सकता है। अतएव सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद दोनों ही दोष युक्त हैं। स्वतः एवं परतः उत्पाद मानना युक्ति विरुद्ध है, क्योंकि प्रकाश और अन्धकार के समान दो परस्पर विरुद्ध धर्म एक साथ एक स्थान पर नहीं रह सकते। अहेतुक उत्पाद तो कारणकार्यभाव का ही निषेध है। अतः जाति या उत्पत्ति असंभव है और उत्पत्ति के अभाव में निरोध असंभव है। यही कारण है कि नागार्जुन माध्यमिक दर्शन में संसार और निर्वाण, संवृत्ति और परमार्थ, इन सभी को बुद्धि ग्राह्य धर्मों के रूप में सापेक्ष, स्वभावशून्य और प्रतीतिमात्र मानते हैं और अतीन्द्रिय निर्विकल्प और अनिर्वचनीय तत्त्व के रूप में तत्त्व को प्रपञ्चशून्य, निर्वाण एवं परमार्थ माना है, जिसका बौद्धिक ज्ञान या निर्वचन संभव नहीं है।

5.4. नागार्जुन के अनुसार सत् के दो रूप

नागार्जुन का कथन है कि भगवान् बुद्ध ने दो प्रकार के सत्य का निरूपण किया है—

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना ।

लोक संवृत्तिसत्यंच सत्यं च परमार्थतः ॥

येऽनयोर्न विजानन्ति विभागं सत्योर्द्वयः ।

ते तत्त्वं न विजानन्ति विभागं सत्योर्द्वयः ॥

अर्थात् एक तो लोक संवृत्ति सत्य है और दूसरा परमार्थ सत्य। जो इस विभाग को नहीं जानते, वे भगवान् बुद्ध के गम्भीर दर्शन के रहस्य को कदापि नहीं समझ सकते संवृत्ति तो अज्ञान है, जो 'आवरण' और विक्षेप दोनों है। ये तत्त्व के वास्तविक स्वरूप को आवृत्त कर देती है तथा उसकी अन्यथा प्रतीति कराती है। संवृत्ति सापेक्ष कारणकार्यभाव है। संवृत्ति प्रज्ञप्ति है, संकेत है, लोक व्यवहार है। संवृत्ति बुद्धि विकल्पों द्वारा कार्य करती है, अतः बुद्धि को ही संवृत्ति कहा जाता है। बुद्धि विकल्प ही स्वयं अविद्या का रूप लेता है। स्पष्ट है कि माध्यमिक के संवृत्ति और परमार्थ का विभाग अद्वैत वेदान्त के व्यवहार और परमार्थ के विभाग के समान है। चन्द्रकीर्ति ने संवृत्ति को लोक संवृत्ति और मिथ्या संवृत्ति में विभक्त

किया है। लोक संवृत्ति वेदान्त के व्यवहार हैं और मिथ्या संवृत्ति वेदान्त के प्रतिभास के समान हैं। संवृत्ति मूलाविद्या, व्यक्तिगत अविद्या नहीं अतएव संवृत्ति का निरोध प्रज्ञा द्वारा संभव है, बौद्धिक ज्ञान द्वारा नहीं, क्योंकि यह स्वयं बुद्धि विकल्प रूप है। इस प्रकार संवृत्ति प्रपंच सापेक्ष और स्वभावशून्य है, किन्तु नितान्त असत् नहीं है, उसकी व्यावहारिक सत्ता अक्षुण्ण है। वैसे संवृत्ति और परमार्थ का भेद तात्त्विक नहीं है, सत्य तो केवल परमार्थ है। संवृत्ति को लोक व्यवहार के लिए सत्य मान लिया जाता है, वस्तुतः वह सत्य नहीं है। परन्तु संवृत्ति का बाध परमार्थ का साक्षात्कार होने पर संभव है।

3.5. माध्यमिक पर नास्तिक एवं सर्वनिषेधवादी होने का आरोप

आचार्य नागार्जुन का कथन है कि प्रतिपक्षी माध्यमिक पर 'नास्तिक' होने का और 'सर्वनिषेधवादी' होने का आरोप लगाते हैं। इन लोगों को 'शून्यता' शब्द का सही अर्थ भी ज्ञात नहीं है, उसके महत्व की बात ही क्या। शून्यता का अर्थ नितान्त असत् या सर्व निषेध नहीं है। उसका अर्थ प्रतीत्यसमुत्पाद है, जो सापेक्ष रूप में अविद्याजन्य कारणकार्यभाव के रूप में संसार चक्र है, जो स्वभावशून्य और मिथ्या है, किन्तु व्यवहार में संवृत्ति सत्य है और यही प्रतीत्यसमुत्पाद, निरपेक्ष रूप में, अप्रतीत्य और अनुपादान के रूप में निर्वाण है, प्रपञ्चशून्य और शिव तथा अद्वैत स्वभावशून्य जगत् की सापेक्ष सत्ता शून्यता के कारण है अन्यथा जगत् नितान्त असत् हो जाएगा। हमारे प्रतिपक्षी जगत् की तात्त्विक सत्ता बचाने के चक्कर में उसकी व्यावहारिक सत्ता भी खो बैठते हैं। अतएव हम नहीं, वे ही नास्तिक हैं।

पुनश्च, नागार्जुन का यह भी कहना है कि यदि संसार प्रतिपक्षी के अर्थ में 'शून्य' है, तो नितान्त असत् हो जाएगा, तब वह शशश्रृंग और बन्ध्यापुत्र के समान होगा और तब उत्पाद तथा निरोध, दुःख समुदय तथा दुःख-निरोध, संसार तथा निर्वाण, आर्य-सत्य, धर्म, संघ और बुद्ध भी असंभव होंगे। हम संसार को सदसदनिर्वचनीय या 'सापेक्ष' मानते हैं। संवृत्ति और परमार्थ के सांवृत भेद को मानकर ही संसार के समस्त पदार्थों की सापेक्ष तथा व्यावहारिक सत्ता सिद्ध की जा सकती है। वस्तुवादी संसार की तात्त्विक सत्ता को बचाने के प्रयास में उसकी व्यावहारिक सत्ता से भी हाथ धो बैठते हैं और असत्वादी नास्तिकों के पास आत्मघाती सर्वनिषेध के अतिरिक्त कुछ नहीं रह जाता है।

नागार्जुन यह कहते हैं कि जो लोग 'शून्यता' का अर्थ 'असत्' या 'नास्तित्व' रूपी कोटि में लेते हैं, वे लोग यह नहीं समझते हैं कि 'शून्यता' दृष्टिशून्यता है। अब यदि कोई इस 'दृष्टिशून्यता' में भावाभिनिवेश रखकर इसे शून्यता दृष्टि समझ लें, तो उसे बुद्ध ने 'नष्ट-प्रणष्ट' और असाध्य कहा है। जब संसार की वास्तविक सत्ता नहीं है, तो उसकी प्रतीति और निरोध रज्जुसर्पवत् है। यदि कोई दुकानदार किसी ग्राहक से कहे कि "मैं तुम्हें कुछ नहीं दूँगा" इस पर वह ग्राहक कहे, अच्छा, तुम मुझे यह "कुछ नहीं" ही दे दो, तो उस मूर्ख ग्राहक को कैसे समझाया जाय? रत्नकूटसूत्र में बुद्धवचन है— शून्यता धर्मों को शून्य नहीं बनाती, धर्म स्वयं ही शून्य है। इसी सूत्र में आगे कहा गया है कि—हे कश्यप। शून्यता में भावाभिनिवेश रखने वालों को मैं नष्ट-प्रणष्ट कहता हूँ। शून्यता सब दृष्टियों का निःसरण है। नागार्जुन का कथन है कि शून्यता का कोटि के रूप में अन्यथाग्रहण उतना ही विनाशकारी है, जितना किसी विषेले सर्प को असावधानी से पकड़ने या पठित मूर्ख होना या तंत्र-साधना में भ्रष्ट होना। इस प्रकार 'शून्यता' का अन्यथाग्रहण विनाश है और इसका सत्सेवन अमृत रूप निर्वाण है।

5.6. माध्यमिक दर्शन में परमार्थ तत्व रूप निर्वाण

माध्यमिक दर्शन में 'निर्वाण' चतुष्कोटिविनिर्मुक्त है। निर्वाण निरपेक्ष अद्वैत तत्व है। 'निर्वाण' को सर्वदृष्टि प्रहाण माना गया है। चन्द्रकीर्ति ने उसे निरवशेषकल्पनारूप क्षय कहा है। वह प्रपंचोपशम और शिव है, शान्त और स्वानुभूतिगम्य है। निर्वाण ही शून्यता है, यही सब धर्मों की धर्मता है। जो प्रतीति और उपादान की दृष्टि से, आवागमन दृष्टि से आवागमन रूपी संसार है, वही प्रतीत्य और अनुपादान की दृष्टि से निर्वाण है। तत्व प्रपञ्चशून्य अद्वैत और शिव है। व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश नहीं दिया जा सकता और बिना परमार्थ को जाने निर्वाण प्राप्ति असंभव है।

माध्यमिक दर्शन के विरोध में उसके प्रतिपक्षियों का यह कहना है कि जगत् के सम्पूर्ण धर्मों को असत् कहने वाली शून्यता स्वयं असत्य है, क्योंकि शून्यता के सिद्ध में कोई प्रमाण नहीं है और यदि है, तो माध्यमिक को कम से कम अपने प्रमाणों को सत्य मानना पड़ेगा तथा उससे उसकी प्रतिज्ञा नष्ट हो जाएगी।

नागार्जुन प्रतिपक्षी के आरोप का उत्तर देते हुए कहते हैं कि जगत् के सम्पूर्ण धर्मों को मिथ्या कहने वाली शून्यता सत्य है, क्योंकि बुद्धि और वाणी का मिथ्यात्व शून्यता को मिथ्या नहीं कर सकता। शून्यता का अर्थ असत् नहीं, अपितु प्रतीत्यसमुत्पाद है। हमारे प्रमाण हमारी प्रतिज्ञा को नष्ट नहीं करते। हम यह नहीं कहते कि 'हमारा वचन सत्य है और शेष मिथ्या है।' यदि हम ऐसा कहते हैं, तो हम पर किये गये आक्षेप सत्य होते हैं। हम कहते हैं कि वाणी और बुद्धि के सब धर्म मिथ्या है यह कथन भी हमारी प्रतिज्ञा नहीं है। हम तो प्रतिपक्षी के कथन को कि 'सब धर्म सत्य हैं' उसी के प्रमाणों और तर्कों से अन्तर्विरुद्ध और मिथ्या सिद्ध करते हैं। परमार्थ हमारी कोई प्रतिज्ञा नहीं है और न कोई प्रमाण है। यह कथन भी कि 'शून्यवादी प्रत्येक वस्तु का प्रतिषेध करते हैं' प्रतिपक्षी द्वारा हम पर लगाया गया मिथ्या आरोप है। वस्तुतः हम किसी का प्रतिषेध नहीं करते और न कोई प्रतिषेध्य वस्तु है, क्योंकि तत्व विधि-निषेध से अतीन्द्रिय है।

नागार्जुन का कहना है कि माध्यमिक दर्शन पर आरोप लगाने वाले प्रतिपक्षियों का यह भी कहना है कि जब सब मत असिद्ध हैं, तो स्वयं यह भी मत, मत होने के कारण असिद्ध है। चन्द्रकीर्ति का उत्तर है कि यह आक्षेप उन पर लागू होता है, जो तर्क या अनुमान की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करते हों। हमारी न तो अपनी कोई प्रतिज्ञा है और न कोई प्रमाण। हम तो व्यवहार के स्तर पर, प्रतिपक्षी द्वारा स्वीकृत प्रमाण और तर्क पद्धति से ही प्रतिपक्षी के मत में अन्तर्विरोध दिखकर उसे असिद्ध बताते हैं। हमारे तर्क का फल केवल पर प्रतिज्ञा निषेध है और यह तर्क भी हमारा अपना नहीं है। यह प्रतिपक्षी द्वारा स्वीकृत तर्क है और इसी तर्क से उसकी प्रतिज्ञा का निषेध किया जाता है। इसे प्रसंगापादान-पद्धति कहते हैं। माध्यमिक प्रत्येक मत का उसके अन्तर्विरोध ग्रस्त होने के कारण निराकरण करता है।

चन्द्रकीर्ति ने माध्यमिक दर्शन पर लगे नास्तिकता के आरोप को भी अनुचित मानते हैं। उनका यह कहना है कि माध्यमिक नास्तिक नहीं है। हम तो अस्तित्व और नास्तित्व इन दोनों वादों का निरास करके निर्वाणपुर की ओर ले जाने वाले अद्वय मार्ग को प्रकाशित करते हैं। जब तक तत्त्वाधिगम न हो जाय, तब तक संवृति सत्य का महत्व अधुण्ण रहेगा, विशेषतः मोक्ष साधना के लिए नास्तिक तो प्रत्येक वस्तु का मूर्खतापूर्ण अपवाद करता है, माध्यमिक बुद्धि-विकल्पों

का तार्किक परीक्षण करके बुद्धि ग्राह्य पदार्थों को मिथ्या जानता है, नास्तिक असदवादी है, माध्यमिक सापेक्षवादी है। माध्यमिकों को जगत् की व्यावहारिक सत्ता मान्य है। अतः माध्यमिक नास्तिक नहीं है।

शून्यता पुद्गल नैरात्म्य एवं धर्मनैरात्म्य दोनों हैं— माध्यमिक दर्शन में शून्यता पुद्गल नैरात्म्य एवं धर्म नैरात्म्य दोनों हैं। माध्यमिक ने धर्मों को भी अनात्म्य एवं शून्य बतलाया है। पुद्गल नैरात्म्य से क्लेषावरण अर्थात् अहंकार-ममकारजन्य दुःख का क्षय तथा धर्मनैरात्म्य से ज्ञेयावरण अर्थात् वस्तु के अन्यथा ज्ञान का क्षय होता है। इन द्विविध आवरणों का क्षय शून्यता है। शून्यता दुःखों का शमन करने वाली शून्यता ही निर्वाण है, अमृत, अभय एवं शिवतत्त्व है। शान्तिदेव द्वारा 'बोधिचयवतार' में वर्णित 'बोधिचित्त' स्वानुभूति रूप शुद्ध ज्ञान है। यह एक अशुद्ध मरणशील मानव को परम विशुद्ध बुद्ध बना देता है। वास्तविकता यह है कि शून्यवाद में आत्मवाद एवं अनात्मवाद, शाश्वत एवं उच्छेदवाद, नित्यवाद और अनित्यवाद, से सब बुद्धिविकल्प हैं, सापेक्ष और मिथ्या है, अतः इनसे ऊपर उठकर अपरोक्षानुभूति क्षरा अद्वैत तत्त्व के साक्षात्कार का उपदेश दिया है। इस प्रकार बुद्धि का उपदेश सर्वदृष्टिप्रहाण के लिए है। शून्यता चतुष्कोटि विनिर्मुक्तता है। प्रपञ्चशून्य तत्त्व बुद्धि विकल्पातीत और वाणी द्वारा अग्राह्य होने के कारण अनिर्वचनीय है। स्वभाव शून्य संसार भी सदसदनिर्वचनीय है सदसद्विलक्षण है व्यवहार में सत्य है, किन्तु परमार्थतः मिथ्या है। नागार्जुन की घोषणा है— "भगवान् बुद्ध ने सदसदनिर्वचनीय शून्यता का उपदेश दिया। यह शून्यता बुद्ध के उपदेश का अमृत है।

माध्यमिक दर्शन में शून्यतावाद वह निरपेक्ष तत्त्व जो समस्त संसार में व्याप्त है और संसारातीत भी है। तत्त्व 'धर्म' (पदार्थ या विषय) नहीं है, वह सब धर्मों में व्याप्त 'धर्मता' है। तत्त्व ही धर्मों के रूप में भासित होता है। अतः परमार्थतः निरपेक्ष तत्त्व और सापेक्ष संसार में कोई भेद नहीं है। संसार और निर्वाण 'बन्धन और मोक्ष' जगत् और तथागत, वस्तुतः अभिन्न हैं जो तत्त्व अविद्या और आसक्ति प्रतीत्यसुत्पन्न, जन्म-मरण चक्र के रूप में प्रतीत हो रहा है, वहीं, प्रज्ञा और अनासक्ति से प्रपञ्चोपशम शिव निर्वाण है। जगत् और तथागत दोनों निःस्वभाव है, जगत् स्वभावशून्य होने के कारण निःस्वभाव है और तथागत 'स्व' और 'पर' भावादि बुद्धि विकल्पातीत होने के कारण निःस्वभाव है। अविद्या-निरोध, सर्वदृष्टिप्रहाण, निरवशेष कल्पनाक्षय ही निर्वाण है, जो अपरोक्षानुभूति-रूप निरपेक्ष और शिव अद्वैत तत्त्व है निर्वाण किसी अप्राप्त नयी अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति नहीं है। निर्वाण में निर्वाण प्राप्ति का बोध भी नहीं रहता। अविद्या निरोध ही निर्वाण है, अतः बन्धन और मोक्ष संवृत्ति में ही संभव है। वस्तुतः न तो संसार का लय होता है न 'निर्वाण' की प्राप्ति होती है। जो सत् है, उसका विनाश असंभव है, क्योंकि उसकी त्रिकालाबाध सत्ता है, जो असत् है वह शशश्रेयवत् तुच्छ है और उसका विनाश का प्रश्न नहीं उठता। अतः जो सदसदनिर्वचनीय या मिथ्या है, उसी का प्रतीत्यसमुत्पाद की सापेक्ष दृष्टि से, उत्पाद और विनाश होता है। वस्तुतः तो वह भी अनुत्पन्न और अनिरुद्ध है। अतः केवल अविद्या ही आती और जाती है, क्योंकि अविद्या भ्रान्ति है, इसलिए उसका आवागमन 'अनागम् अनिर्गम्' अर्थात् भ्रान्ति है।

5.8. माध्यमिक का शून्यवाद और शंकराचार्य का अद्वैत वेदान्त

माध्यमिक दर्शन और शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में अत्यधिक समरूपता है। बुद्ध के समान माध्यमिक ने भी तत्त्व का वर्णन निषेध-मुख से किया है और

तत्व के लिए 'निर्वाण' पद का प्रयोग किया है। माध्यमिक के परमार्थ, तथ्य संवृत्ति और मिथ्या संवृत्ति वेदान्त के परमार्थ, व्यवहार और प्रतिभास के समान है। माध्यमिक के अजादिवाद का अनुमोदन गौडपादाचार्य ने किया है। श्री हर्ष ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि माध्यमिक और वेदान्त के तर्कों का खण्डन नहीं हो सकता। परन्तु माध्यमिक दर्शन और अद्वैत वेदान्त में विद्यमान समानता के बावजूद इन दोनों के बीच कई ऐसे बिन्दु हैं, जिन पर मतभेद पाया जाता है। माध्यमिक ने परमतत्व को 'आत्मा' या नित्य स्वप्रकाश ब्रह्म की संज्ञा से अभिहित नहीं किया है। माध्यमिक का आग्रह तत्व साक्षात्कार पर तत्व के विधि रूप निरूपण पर नहीं है। नागार्जुन ने तत्व का वर्णन करते हुए स्पष्ट रूप से कहा है कि— "तत्व अपर प्रत्यय अर्थात् 'स्वानुभूतिगम्य, शान्त, प्रपंचशून्य, निर्विकल्प और अद्वय रूप है। उन्होंने प्रतीत्यसमुत्पाद को उत्पत्ति बिनाश रहित, प्रपंचोपशम और शिव कहा है।"

नागार्जुन द्वारा किया गया उपर्युक्त वर्णन शंकराचार्य के ब्रह्म या आत्मा के वर्णन के समान है। यद्यपि नागार्जुन माध्यमिक दर्शन में स्पष्ट रूप से तत्व या या शून्य को आत्मा या ब्रह्म या विज्ञान या आनन्द नहीं कहा है, तथापि अर्थापत्ति से यही भाव निकलता है, क्योंकि जो स्वानुभूतिगम्य, प्रपंचोपशम और शिव है, वह विज्ञानानन्दस्वरूप ही हो सकता है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन के माध्यमिक का निर्वाण—बोधि या प्रज्ञा भी अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म के साक्षात्कार के समान है।

माध्यमिक दर्शन के शून्यवाद का ही परिष्कृत रूप शंकराचार्य का अद्वैत वेदान्त है, इसलिए शंकराचार्य ने माध्यमिक आलोचना में मात्र इतना ही कहा है कि— "शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नादरः क्रियते, न ह्यायं सर्वप्रमाण प्रसिद्धो लोकव्यवहारोऽन्यत् तत्त्वमनधिगम्य शक्यतेऽपह्नोतुम्" अर्थात् शून्य शब्द को साधारण प्रचलित 'नितान्त असत्' के अर्थ में लेकर शून्यवाद को सब प्रमाणों से असिद्ध स्वव्याघाती सर्वनिषेध कहकर उसे निराकरण के अयोग्य मान लिया है, क्योंकि सब प्रमाणों से सिद्ध इस लोक व्यवहार का बोध परतत्व के साक्षात्कार के बिना नहीं किया जा सकता। यह तो सिद्ध है कि शून्यवाद सर्वनिषेधवाद न होकर निरपेक्ष अद्वैतवाद है। ऐसा लगता है कि संभवतः शून्यवाद में अद्वैतवाद के विद्यमान विचारों के कारण ही उसकी आलोचना से बचने के प्रयास में शंकराचार्य शून्यवाद को सर्वनिषेधवाद के प्रचलित अर्थ में लेकर उसकी आलोचना को टाल गये हैं।

5.9. निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि माध्यमिक ने स्पष्ट रूप से अपने निरपेक्ष तत्व को स्वप्रकाश नित्य विज्ञान या आत्मचैतन्य की संज्ञा नहीं दी है, फिर भी उसका तात्पर्य इसी से है। तत्व को अनिर्वचनीय मानकर माध्यमिक निषेधमुख से उसका वर्णन किये हैं। माध्यमिक की ही भाँति वेदान्त भी 'नेति—नेति' के द्वारा निषेधमुख वर्णन को प्राधान्य देता है, किन्तु व्यवहार में वेदान्त तत्व के विधानात्मक वर्णन को भी आवश्यक मानता है। शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त के अनुसार स्वप्रकाश और स्वतःसिद्ध आत्मचैतन्य को स्वीकार किये बिना परमार्थ और व्यवहार की सिद्धि संभव नहीं है। इस विषय में वेदान्त निश्चय ही माध्यमिक दर्शन से श्रेष्ठ है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि औपनिषद अद्वैतवाद के

अन्य सम्प्रदायों की समीक्षा

विकास में माध्यमिक दर्शन पूर्वभूमि है और वेदान्त उत्तरभूमि है। माध्यमिको ने अद्वैतवाद का विकास भगवान् बुद्ध के उपदेशों के प्रकाश में किया और वेदान्त ने अद्वैत को अपने मूल प्रस्थान उपनिषद् से ग्रहण करके अपने श्रौत परम्परा के रूप में विकसित किया। अतः अद्वैत वेदान्त की माध्यमिक पर श्रेष्ठता का होना स्वाभाविक है।

प्रश्नावली

लघु उत्तरीय प्रश्न—

1. बौद्ध दर्शन का शून्यवाद मत क्या है?
2. माध्यमिक दर्शन में परमार्थ तत्व क्या है? स्पष्ट करें।
3. नागार्जुन के अनुसार सत् को व्याख्यायित कीजिए।
4. क्या माध्यमिक निषेधवादी है। स्पष्ट करें।
5. शून्यता पुदगल नैरात्म एवं धर्मनैरात्म दोनों हैं स्पष्ट करें?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न—

1. शंकराचार्य द्वारा शून्यवाद की आलोचना पर एक निबन्ध लिखिए।
2. शंकराचार्य और माध्यमिक का शून्यवाद किस प्रकार से अलग है व्याख्या कीजिए।

इकाई-6

शंकराचार्य द्वारा जैन मत की आलोचना

संरचना

- 6.0 उद्देश्य
- 6.1. प्रस्तावना
- 6.3. 'एवं चात्माऽकात्स्न्यम्'
- 6.4. 'न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः'
- 6.5. 'अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः'
- 6.6. निष्कर्ष

6.0 उद्देश्य

शंकराचार्य ने अद्वैत वेदान्त की स्थापना के लिए अपने पूर्व प्रचलित भारतीय दर्शन के विभिन्न मतों के आलोचना के क्रम में जैन दर्शन के अनेकान्तवाद का निराकरण करते हैं। अद्वैत वेदान्ती शंकराचार्य का कहना है कि यद्यपि जैन ज्ञानमीमांसा और तर्क शास्त्र परमतत्व की ओर प्रेरित कर रहे हैं, किन्तु जैन दर्शन इसकी उपेक्षा कर देता है। जैन दर्शन यह भूल जाता है कि निरपेक्ष तत्व की सत्ता स्वीकार किये बिना सापेक्षवाद का भी प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। शंकराचार्य के अनुसार निरपेक्ष वह सूत्र है, जो सब सापेक्षों को स्वयं में पिरोकर उनमें एकता स्थापित करता है। सापेक्षों में जीवन, अर्थ और महत्व निरपेक्ष से ही आता है, जो उन्हें अनुप्राणित करता है और उनका अन्तर्यामी बन कर उनका नियमन करता है।

6.1. प्रस्तावना

शंकराचार्य विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों की आलोचना करने के क्रम में जैन दर्शन के सिद्धान्तों की भी आलोचना करते हैं। शंकराचार्य यह कहते हैं कि सुगत (बौद्ध दर्शन) के सिद्धान्त का निराकरण किया जा चुका है, अब जैन सिद्धान्त का निराकरण करते हैं। जैन दर्शन अद्वैत और द्वैत, अभेद और भेद, एकता और अनेकता, नित्यता और अनित्यता दोनों को सत्य मानता है तथा दोनों को समान रूप से सत्य मानता है और दोनों को एक ही स्तर का मानता है। जैन मत में सात पदार्थ हैं— जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। संक्षेप में जैन दर्शन दो प्रकार के ही द्रव्य मानते हैं— अस्तिकाय और अनस्तिकाय। 'अनस्तिकाय' द्रव्य को काल कहते हैं। अस्तिकाय द्रव्य के दो प्रकार हैं— 'जीव' और 'अजीव'। पुनः 'अजीव' के भी चार भेद हैं— धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल। जैन दर्शन में परिकल्पित अनेक अवान्तर भेदों का वर्णन किया गया है। तत्वमीमांसा की दृष्टि से जैन दर्शन अनेकान्तवादी है तथा ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से स्यादवादी है। वस्तुतः जैन दृष्टि 'एकता' और 'अनेकता' की दृष्टि है अनेकता में एकता की दृष्टि नहीं

अन्य सम्प्रदायों की समीक्षा

है। जैन दर्शन द्वैताद्वैत या भेदाभेद तक ही सीमित रह गया है यह विशिष्टाद्वैत या द्वैत विशिष्ट अद्वैत तक नहीं पहुँचा है। जैन दर्शन द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों को ही सत्य मानता है और तीनों को एक ही स्तर पर रखता है। जैन दर्शन यह स्वीकार करता है कि पर्याय आगन्तुक धर्म है, गुण स्वरूप धर्म है और द्रव्य एक और नित्य है। तब आगन्तुक धर्म स्वरूप धर्म के समान कैसे हो सकते हैं और गुण-पर्याय को द्रव्य के बराबर कैसे माना जा सकता है? गुण-पर्याय को विशेषण का स्तर तथा द्रव्य को विशेष्य का स्तर प्रदान किये, इस विरोध से नहीं बचा सकता। सापेक्ष सत्त्यों को एकत्रित कर देने से वे निरपेक्ष पूर्ण सत्य में परिणत नहीं हो सकते। जब जैन दार्शनिक यह दुराग्रह करने लगते हैं कि अन्य मत आंशिक एवं अपूर्ण हैं तथा उनका मत ही पूर्ण है।— तो वे अपने सापेक्षवाद को भूलकर निरपेक्षवाद और एकान्तवाद में फँस जाते हैं। निरपेक्षतत्व के स्वीकृति के बिना सापेक्षवाद और अनेकान्तवाद भी सिद्ध नहीं हो सकता। परमार्थ को माने बिना व्यवहार भी सिद्ध नहीं हो सकता। जैन दर्शन अपने स्यादवाद और अनेकान्तवाद के आधार पर किसी वस्तु के सभी पक्षों के व्याख्यान का दावा करता है, किन्तु वह भूल जाता है कि निरपेक्ष तत्व को स्वीकार किये बिना किसी वस्तु या तत्व की सिद्धि संभव नहीं है। इसीलिए शंकराचार्य जैन मत खण्डन करते हुए उसमें अनेक दोष दिखाये हैं।

1. **नैकस्मिन्नसंभवात्** — इस सूत्र द्वारा शंकराचार्य यह स्पष्ट करते हैं कि सुगत सिद्धान्त का निरसन किया जा चुका है, अब जैन सिद्धान्त का निराकरण करते हैं। इनके मत में सात पदार्थ हैं— जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। संक्षेप में 'जीव' और 'अजीव' नाम के ही पदार्थ हैं, क्योंकि दूसरों का इन दो में ही यथायोग्य अन्तर्भाव होता है, ऐसा शंकराचार्य मानते हैं। जीवास्तिकाय, पुद्गलस्तिकाय धर्मास्तिकाय, अधमस्तिकाय और आकाशास्तिकाय, ये पाँच अस्तिकाय ('जीव' और 'अजीव') उन दो का दूसरा प्रपञ्च है। आस्तिकाय और अनस्तिकाय के अहुत प्रकार के अवान्तर भेद जो प्रमाण और युक्ति से शून्य अपने शास्त्र में परिकल्पित हैं, उनका वर्णन करते हैं। जैन दर्शन में अनस्तिकाय द्रव्य को काल कहते हैं। तत्वमीमांसा की दृष्टि से जैन दर्शन अनेकान्तवादी है तथा ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से स्यादवादी है। जैन दर्शन सप्तभंगीनय में विश्वास करते हैं और ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से इसे सर्वत्र सप्तभंगीनय नाम से न्याय के रूप में प्रवृत्त करते हैं जो इस प्रकार है —

2. स्यादस्ति (किसी प्रकार से है)
3. स्यान्नास्ति (किसी प्रकार से नहीं है)
4. स्यादस्ति च नास्ति च (किसी प्रकार से है और नहीं है)
5. स्यात् अवक्तव्यः (किसी प्रकार से अवक्तव्य है)
6. स्यादस्ति चावक्तव्यश्च (किसी प्रकार से है और अवक्तव्य है)
7. स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च (किसी से नहीं है और अवक्तव्य है)
8. स्यादस्ति चन्नास्तिच चावक्तव्यश्च(किसी प्रकार से है और नहीं है तथा अवक्तव्य है)

जैन दार्शनिक उपर्युक्त प्रकार के सप्तभंगीनय की योजना, एकत्व नित्यत्व आदि में भी करते हैं। किन्तु शंकराचार्य का कहना है कि यह स्वीकारयोग्य नहीं है। किससे? इससे कि एक में संभव न होने से। शंकराचार्य का यह कहना है कि

एक धर्मी में एक ही समय में सत्त्व, असत्त्व और विरुद्ध धर्मों का समावेश नहीं हो सकता, शीत और उष्ण के समान। जो ये सात पदार्थ इतने और ऐसे रूप के, इस प्रकार निर्धारित हैं, वे वैसे ही प्रकार के हों या न हों, क्योंकि नहीं तो वैसे प्रकार के हों या वैसे प्रकार के न हों, ऐसा अनिर्धारित ज्ञान संशयज्ञान के समान अप्रमाण ही होगा। परन्तु वस्तु अनेकात्मक ऐसा ही निर्धारित रूप ज्ञान उपलब्ध होता है, वह संशय ज्ञान के समान अप्रमाण हो, यह युक्त नहीं है। हम कहते हैं कि नहीं, क्योंकि सब वस्तुओं में निरंकुश अनेकान्तत्व की प्रतिज्ञा करने वाले के मत में निर्धारण के भी वस्तुत्व के समान होने से 'स्यादस्ति, स्यान्नास्ति' (किसी प्रकार से है और किसी प्रकार से नहीं है) इत्यादि विकल्प की प्रवृत्ति होने से वह भी अनिर्धारणात्मक होगा। इस प्रकार निर्धारण करने वाले का और निर्धारण फल का भी पक्ष में अस्तित्व होगा और पक्ष में नास्तित्व होगा। ऐसी अवस्था में प्रमाणभूत होकर भी तीर्थंकर प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और प्रमिति के निर्धारित न होने पर किस प्रकार उपदेश करने में समर्थ होंगे। उनके अभिप्राय के अनुसारी शिष्य उनसे उपदिष्ट अनिर्धारित रूप से किस प्रकार प्रवृत्त होंगे, क्योंकि निश्चित फल का निर्धारण होने पर ही उसके साधन के अनुष्ठान के लिए सब लोग अनाकुल होकर प्रवृत्त होते हैं, अन्यथा नहीं। इसलिए जिसका अर्थ निर्धारित नहीं है, ऐसे शास्त्र की रचना करने वाले का वचन, मत्त और उन्मत्त के समान ग्राह्य न होगा। वैसे ही पाँच अस्तिकायों की पंचत्व संख्या है या नहीं, ऐसा विकल्प होने पर एक पक्ष में होगी और अन्य पक्ष में नहीं होंगे। इससे न्यून संख्यात्व या अधिक संख्यात्व प्राप्त होगा और ये पदार्थ अवक्तव्य हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि अवक्तव्य हो, तो नहीं कहे जायेंगे, परन्तु कहे जाते हैं और अवक्तव्य है, यह विरुद्ध है। कहे जाते हुए ये पदार्थ उसी प्रकार से अवधारित होते हैं और नहीं होते हैं। उसी प्रकार उनका अवधारण फल सम्यग्दर्शन है या नहीं है, उसी प्रकार उससे उलटा असम्यग्दर्शन भी है या नहीं, ऐसा प्रलाप करता हुआ (अर्हत्) मत्तोन्मत्त पक्ष होगा, आप्तपक्ष का नहीं होगा और किसी पक्ष में स्वर्ग तथा मोक्ष का अभाव एवं किसी पक्ष में भाव प्राप्त होगा, उसी प्रकार किसी पक्ष में नित्यता और किसी पक्ष में अनित्यता प्राप्त होगी। इस प्रकार अनिश्चित होने से उसमें प्रवृत्ति अनुपपन्न होगी। उसी प्रकार अनादि, सिद्ध, जीवादि जिनका स्वभाव अपने शास्त्र में निश्चित किया गया है, वे उस प्रकार से निश्चित स्वभाव वाले नहीं हैं, ऐसा मानना पड़ेगा। इस प्रकार जीवादि पदार्थों में एक धर्म में सत्त्व और असत्त्व इन विरुद्ध धर्मों का संभव न होने से सत्त्व रूप एक धर्म में अन्य धर्म असत्त्व का संभव न होने से और इसी प्रकार असत्त्व का सत्त्व में संभव न होने से भी अर्हत् मत असंगत है। इससे एक-अनेक, नित्य, -अनित्य, व्यतिरिक्त अव्यतिरिक्त आदि अनियम के स्वीकारो का निराकरण हुआ समझना चाहिए। पुद्गल संज्ञक अणुओं से संघात् उत्पन्न होता है, ऐसी जो कल्पना करते हैं, उसका तो पूर्वोक्त अणुवाद के निराकरण से ही निराकरण हो जाता है। इसलिए उसके निराकरण के लिए पृथक प्रयत्न नहीं किया जाता है।

6.3. 'एवं चात्माऽकात्स्न्यम्'

इस सूत्र के द्वारा शंकराचार्य यह दिखाते हैं कि जैसे एक धर्मी के विरुद्ध धर्म असंभव है, यह दोष स्याद्वाद में प्राप्त होता है, वैसे जीव का भी परिच्छिन्नत्व रूप दूसरा दोष प्रसक्त होगा। किस प्रकार? इससे कि 'जीव' शरीर के बराबर है, ऐसा अर्हत् लोग मानते हैं और उसके बराबर होने का अकृत्स्न असर्वगत-परिच्छिन्न आत्मा है, अतएव घटादि के समान आत्मा भी अनित्य है, ऐसा प्रसक्त होगा और शरीरों का परिणाम निश्चित न होने के कारण मनुष्य जो मनुष्य-शरीर

के बराबर होकर पीछे किसी कर्म—विपाक से हाथी का जन्म प्राप्त करेगा, तो हाथी के समस्त शरीर में व्याप्त न होगा और चींटियों का जन्म प्राप्त करेगा, तो चींटियों के शरीर में नहीं समायेगा। एक जन्म में भी बाल्य, तारुण्य और वृद्धत्व में यह दोष समान होगा। परन्तु जीव अनन्त अवयव वाले हैं, उसके वही अवयव अल्प शरीर में संकुचित हो जाएँगे और बड़े शरीर में विकास पायेंगे, ऐसा यदि कहो, तो जीव उस अनन्त अवयवों के एक देशत्व का प्रतिघात होता है या नहीं होता है, यह कहना चाहिए यदि प्रतिघात होता हो, तो अनन्त अवयव परिच्छिन्न देश में नहीं समायेंगे। यदि प्रतिघात नहीं होता हो, तो भी सब अवयवों का प्रदेश एक अवयव के प्रदेश के बराबर होने से प्रथिमा आदि अनुपपन्न होंगे और जीव के अणुमात्र होने का प्रसंग आएगा और शरीर मात्र परिच्छिन्न जीव के अवयवों की अनन्तता की उत्प्रेक्षा भी नहीं की जा सकती है।

6.4. 'न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः'

इस सूत्र द्वारा शंकराचार्य जैन दर्शन के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं कि क्रमशः अवयवों के हटने और प्राप्त होने पर भी शरीर परिमाणत्व का विरोध नहीं है, क्योंकि सावयव होने से आत्मा में विकार आदि प्रसंग होंगे और ऐसी स्थिति में आत्मा विकारवान होने से उसमें अनित्यता का प्रसंग उपस्थित होगा। यदि आत्मा को अनित्य मान लिया जाएँ, तो बन्धन और मोक्ष असंभव हो जाएगा। यदि जैन मत वाले यह कहें कि वृहत् शरीर प्राप्त होने पर कुछ जीवावयव पास आ जाते हैं तथा अन्य शरीर प्राप्त होने पर कुछ जीवावयव दूर हो जाते हैं, जिस कारण जीव को कोई कठिनाई नहीं होती, तो इस पर शंकराचार्य कहते हैं कि इससे भी जैन दर्शन की समस्या का समाधान नहीं हो जाता। जीवावयवों के गमन और आगमन से जीव विकारवान हो जाएगा तथा इससे उसे अनित्यत्व की प्राप्ति होगी। यह जैन मत के मोक्ष की कल्पना के भी प्रतिकूल होगा, क्योंकि जैन मत के अनुसार जब जीव पुद्गल बन्धन से मुक्त हो जाएगा। हम यह भी नहीं कह सकते कि उनमें कोई एक अवयव आत्मा है, क्योंकि उनका निरूपण करना हमारे लिए बहुत मुश्किल है। हमें यह भी ज्ञात नहीं है कि ये जीवावयव कहाँ से प्रादुर्भूत होते हैं और किसमें विलीन हो जाते हैं। शंकराचार्य के अनुसार ये भूतों से प्रादुर्भूत होंगे और भूतों में लीन होंगे, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि जीव अभौतिक है। इसी प्रकार साधारण और असाधारण जीवों के अवयवों के किसी दूसरे आधार का निरूपण नहीं किया जाता, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। दूसरी बात यह है कि ऐसी अवस्था में आत्मा अनिश्चित स्वरूप ठहरेगा और आत्मा के स्वरूप का निश्चय नहीं किया जा सकेगा क्योंकि आने और जाने वाले अवयव अनिश्चित परिणाम वाले हैं। इसलिए ऐसे दोषों के प्रसंग से आत्मा के अवयवों का क्रमशः उपगम और अपगम स्वीकार नहीं किया जा सकेगा। इस प्रकार प्रसंग द्वारा अनित्य की शंका होने पर फिर शरीर व्यक्ति भेद से परिमाण अनवस्थित होता है, तो भी जैसे स्रोत के प्रवाह का सन्तान नित्य है, वैसे आत्मा नित्य है अथवा जैसे रक्त पटों के बौद्ध आदि के विज्ञान की अनवस्थिति होने पर भी उसका सन्तान नित्य है वैसे ही दिगम्बर सन्तान नित्य है, ऐसी शंका कर इस सूत्र से उत्तर देते हैं। सन्तान के अवस्तु होने पर नैरात्म्य प्रसक्त होगा। वस्तु होने पर भी आत्मा के विकार आदि दोषों का प्रसंग होने से यह पक्ष अनुपपन्न है।

6.5. 'अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः'

सूत्र द्वारा शंकराचार्य जैन मत के विषय में अपने विचार प्रकट करते हुए कहते हैं कि अन्त्य अर्थात् मोक्ष की अवस्था में प्राप्त होने वाला जीव परिणाम नित्य है ऐसा जैन मानते हैं। इसी प्रकार उसके पूर्व के आदि और मध्यम परिमाणों के भी नित्य होने से तीनों परिमाण बराबर हो जाएँगे। एक शरीर के बराबर आत्मा होगी, उपचित और अपचित स्थूल, सूक्ष्म, अन्त्य शरीर को प्राप्त नहीं कर सकेगी अथवा अन्य जीव परिमाण के अवस्थित होने से दो पूर्व अवस्थाओं में भी जीव अवस्थित परिमाण वाला ही होगा। इसलिए समान रीति से सर्वदा जीव को अणु और महान मानना होगा, शरीर परिमाण नहीं। इसलिए सौगत मत के समान 'अर्हत् मत' (जैन मत) भी असंगत होने से उपेक्षणी है।

6.6. निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि यदि केवल ज्ञान आत्मा के सहजरूप का आविर्भाव है, यदि यह आत्मा के अनन्तज्ञान और अनन्त आनन्द का प्रकाशन है, यदि यह आत्मसाक्षात्कार या अपरोक्षानुभूति है तो यह निश्चित रूप से निरपेक्ष तत्त्व है। यदि इसकी निरपेक्षता को अस्वीकार करके इसे भी सापेक्ष बना दिया, तो यह शुद्ध और अनन्त ज्ञान नहीं रहेगा। यदि सर्वज्ञता केवल ज्ञान का स्वरूप है, तो स्याद्वाद समस्त तत्त्वों का प्रकाशक कैसे हो सकता है? वास्तविकता यह है कि निरपेक्ष से भयभीत होकर तथा वस्तुवाद से चिपककर जैन दर्शन अपने सिद्धान्तों के अन्तर्विरोधों को भूल गया है, तथापि जैन दर्शन और जैन न्याय की अन्तःप्रेरणा निरपेक्षतत्त्व की ओर बारम्बार संकेत कर रही है। जैन दर्शन में सामने के द्वारा से निकाला गया निरपेक्ष तत्त्व (ब्रह्म) पिछले द्वार से भीतर घुस कर बैठ गया है। परोक्ष ज्ञान और अपरोक्ष ज्ञान स्यादवाद और केवल ज्ञान पर्याय और द्रव्य अभूतार्थ और भूतार्थ तथा व्यवहार और परमार्थ का भेद जैन दर्शन में प्रतिष्ठित होकर निरपेक्ष तत्त्व को मौन स्वीकृति दे रहा है। इस प्रकार प्रो० राधाकृष्णन् का यह कथन उचित लगता है कि— "जैन दर्शन और न्याय निरपेक्ष विज्ञानवाद की ओर प्रेरित कर रहे हैं। — सापेक्षवाद निरपेक्षवाद के बिना सिद्ध नहीं होता। — जैनों का बहुत्ववाद तर्क संगत नहीं है।"

प्रश्नावली

लघु उत्तरीय प्रश्न :

1. जैन दर्शन के अनेकान्तवाद की व्याख्या करें।
2. जैन दर्शन का स्यादवाद क्या है?
3. "नैकस्मिन्नसंभवात्" को स्पष्ट करें।
4. "एवं चात्माऽकात्स्यम" की चर्चा करें।
5. "अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः" को बताइए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न :

1. शंकराचार्य द्वारा जैन दर्शन की आलोचना पर एक निबंध लिखिए।
2. शंकराचार्य के द्वारा जैन दर्शन की आलोचना में दी गयी प्रमुख युक्तियों की व्याख्या कीजिए।



MAPH-03

शंकराचार्य का दर्शन

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

खण्ड – 6

माया और मोक्ष

इकाई – 1 207–220

माया सिद्धान्त – अध्यास

इकाई – 2 221–230

शंकर के मायावाद का रामानुज द्वारा खण्डन

इकाई – 3 231–240

शंकर, रामानुज के वेदान्त दर्शन में मोक्ष की अवधारणा

इकाई – 4 241–248

क्या शंकर को प्रच्छन्न बुद्ध कहना उचित है

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

एम.ए.पी.एच.—03 (MAPH-03)

सरंक्षक मार्गदर्शक

प्रो.के.एन. सिंह — कुलपति, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

विशेषज्ञ समिति

- डॉ.आर.पी.एस. यादव — निदेशक, मानविकी विद्याशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
- प्रो. रामलाल सिंह (से.नि.) — दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
- प्रो.दीप नारायण यादव — दर्शनशास्त्र विभाग, पं० दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
- प्रो. द्वारिका — विभागाध्यक्ष, पं० दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
- प्रो. सभाजीत यादव — दर्शनशास्त्र विभाग, महात्मागांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी।
-

लेखक

- डॉ. श्यामकान्त — असिस्टेंट प्रोफेसर, आर्यकन्या डिग्री कालेज, इला० वि.वि. प्रयागराज।
- डॉ. अतुल कुमार मिश्र — शैक्षिक परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
-

सम्पादक

- प्रो. जटाशंकर — पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
-

परिभाषक

- प्रो. आर.पी.एस. यादव — निदेशक मानविकी विद्याशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
-

समन्वयक

- डॉ. अतुल कुमार मिश्र — शैक्षिक परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
-

2020 (मुद्रित)

© २०२० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज—211021

ISBN-

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिनियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठ्य सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन — उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज— 211021

प्रकाशक — कुलसचिव, डॉ. अरुण कुमार गुप्ता २०२० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज —2020

मुद्रक — चंद्रकला यूनिवर्सल प्राइवेट लिमिटेड, 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, प्रयागराज (इलाहाबाद)

इकाई-1

माया सिद्धान्त-अध्यास

संरचना

- 1.0 उद्देश्य
- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 मायावाद के मूल स्रोत
- 1.3 माया की स्थापना
- 1.4 माया और अविद्या
- 1.5 शंकर के परवर्ती वेदान्तियों के अनुसार 'माया' और 'अविद्या'
- 1.6 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में मायावाद की प्रमुख विशेषताएँ
 - 1.6.1. माया परमेश्वर की परा शक्ति है
 - 1.6.2. 'माया' और ब्रह्म के बीच तादात्म्य सम्बन्ध पाया जाता है
 - 1.6.3. शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में 'माया' अनादि है
 - 1.6.4. शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में 'माया' अव्यक्त है
 - 1.6.5. माया का आश्रय और विषय ब्रह्म है
 - 1.6.6. माया भावरूप है
 - 1.6.7. माया को विवर्त कहा गया है
 - 1.6.8. माया भौतिक और जड़ है
 - 1.6.9. शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में माया अनिर्वचनीय है
 - 1.6.10. शंकराचार्य के अनुसार 'माया' में दो शक्तियाँ हैं
 - 1.6.11. माया त्रिगुणात्मक है
 - 1.6.12. माया नामरूपात्मक है
 - 1.6.13. माया ब्रह्म की बीज शक्ति है
 - 1.6.14. माया मिथ्या है
 - 1.6.15. माया अध्यास रूप है
- 1.7. 'माया' के सम्बन्ध शंकर के अतिरिक्त अन्य वेदान्तियों का विचार
 - 1.7.1. स्वामी विद्यारण्य का 'माया' सम्बन्धी विचार
 - 1.7.2. मण्डन मिश्र के अनुसार माया का स्वरूप
 - 1.7.3. वाचस्पति मिश्र के अनुसार माया का स्वरूप

- 1.8. माया और अध्यास
 - 1.8.1. अध्यास का स्वरूप और अर्थ
 - 1.8.2. अध्यास के भेद
 - 1.8.3. अध्यास की मूल विशेषताएँ
- 1.9. शंकराचार्य के मायावाद के विरुद्ध शंकाएँ
 - 1.9.1. माया क्या है?
 - 1.9.2. ब्रह्म ही माया का आश्रम
 - 1.9.3. माया जनित जगत
 - 1.9.4. जगत माया जन्म है?
- 1.10. निष्कर्ष

2.0 उद्देश्य

अद्वैत वेदान्त में 'माया' को ब्रह्म की शक्ति के रूप माना गया है। मायारूपी इसी शक्ति से ब्रह्म नानारूपात्मक जगत की रचना करता है। शंकराचार्य के अद्वैतवेदान्त में तो 'माया' ही वह शक्ति है, जिसके कारण निर्गुण, निर्विकार एवं निर्विशेष ब्रह्म के स्थान पर नाना रूपात्मक प्रपंचात्मक जगत् एवं जीव की प्रतीति होती है। इसलिए प्रस्तुत इकाई में माया के मूल स्रोत, मायावाद की स्थापना माया की सामान्य विशेषता, माया और अविद्या, माया के सम्बन्धित भ्रान्तियों का निराकरण एवं माया-अध्यास से सम्बन्धित विषयों को उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है।

1.1 प्रस्तावना

शंकराचार्य ब्रह्मसूत्रभाष्य का प्रारम्भ करने के पहले अध्यासभाष्य प्रस्तुत करते हैं। इस अध्यासभाष्य में शंकराचार्य अध्यास या भ्रम के स्वरूप को विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करते हैं। उनका यह दृढ़ विश्वास है कि जब तक हम भ्रम के स्वरूप को अच्छी तरह नहीं समझ लेते हैं, तब तक तत्त्व के स्वरूप को अच्छी तरह से आत्मसात् नहीं कर सकते। इसी क्रम शंकराचार्य बन्धन को असत् या मिथ्या कहते हैं, क्योंकि यदि बन्धन को सत् मान लिया जाएँ, तो ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने के बाद भी इसका निरसन नहीं किया जा सकता। इसीलिए आगे चलकर विवरण प्रमेय संग्रह में शंकराचार्य एक अन्य बात की ओर संकेत करते हैं कि बन्धन सत् है अथवा असत् है, इस विषय में श्रुति बिल्कुल तटस्थ है। विभिन्न श्रुतियों को तर्कसंगत बनाने के लिए ही हम कल्पना कर लेते हैं कि बन्धन अविद्यारूप है। इसीलिए माया और अविद्या के सम्बन्ध को लेकर अद्वैत वेदान्तियों में विभिन्न प्रकार के विचार पाये जाते हैं। यद्यपि वेदान्त दर्शन में इस विषय पर पर्याप्त विवाद है कि मायावाद शंकराचार्य का कोई मौलिक सिद्धान्त है या इसे उन्होंने वेदों और उपनिषदों से ग्रहण किया है। शंकराचार्य के मायावाद को चाहे उनकी मौलिक उदभावना माना जाएँ या न माना जाएँ, किन्तु इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि शंकराचार्य वह प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने अपनी प्रतिभा

से एक सर्कसम्मत सिद्धान्त के रूप में मायावाद की स्थापना किया है। शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में मायावादी की अवधारणा ब्रह्म एवं नाना विषयात्मक प्रपंचात्मक मिथ्या जगत् के बीच समन्वय स्थापित करने वाली कड़ी है। शंकराचार्य ब्रह्म को ही एकमात्र सत्य मानते हैं और जगत् को मिथ्या मानते हैं। यदि ब्रह्म सत्य है, तो उसके द्वारा रचित यह संसार मिथ्या कैसे है? इसके अतिरिक्त ब्रह्म निर्गुण, निराकार एवं निर्विशेष है, ऐसी स्थिति में विकारयुक्त जगत् का वह स्रष्टा कैसे हो सकता है? श्रुतियों में यह भी कहा गया है ब्रह्मज्ञान हो जाने पर नानात्व दूर हो जाता है। यदि सृष्टि ब्रह्म की वास्तविक रचना है तो सृष्टि भी उतनी ही सत्य होनी चाहिए, जितना कि ब्रह्म है। ब्रह्मज्ञान होने पर केवल मिथ्याज्ञान (सत् में असत् की प्रतीति) नष्ट हो सकती है, जो सत् है, वह कैसे नष्ट होगा। ऐसे ही ब्रह्म एवं प्रपंचात्मक जगत् से सम्बन्धित अनेक प्रश्न हैं, जिसका समाधान शंकराचार्य अपने मायावाद सिद्धान्त की स्थापना द्वारा देते हैं।

1.2 मायावाद के मूल स्रोत

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में जिस मायावाद का वर्णन मिलता है उसका मूल बीज वेदों, उपनिषदों एवं भगवद्गीता में मिलता है, किन्तु वहाँ इसका वर्णन केवल एक रहस्यात्मिका शक्ति के रूप में हुआ है। शंकराचार्य को 'माया' शब्द से सम्बन्धित विभिन्न प्रयोगों को एक सूत्र में ग्रथित कर एक प्रमाणिक सिद्धान्त के रूप में स्थापित करने का श्रेय दिया जाता है। वास्तविकता यह है अद्वैत वेदान्त से पूर्व मायावाद से सम्बन्धित बीज वेदों उपनिषदों एवं भगवद्गीता में मिलते हैं, किन्तु शंकराचार्य ने उस 'मायावाद' को ब्रह्म की अवधारणा से सामन्जस्य स्थापित करने के लिए किया है। शंकराचार्य से पूर्व जो माया से सम्बन्धित वर्णन मिलता है, वह इस प्रकार है—

1.2.1 ऋग्वेद में 'माया' का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप

ईयते' अर्थात् इन्द्र माया के प्रभाव से नाना रूपों में प्रकट होते हैं। स्पष्ट है कि यहाँ माया को एक शक्ति के रूप में बताया गया है।

1.2.2 उपनिषदों में 'माया' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'माया' को यहाँ सृष्टि के रूप में प्रयोग किया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है कि—अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्यान्यो मायया संनिरुद्धः' अर्थात् ईश्वर (मायी) माया के द्वारा ही सृष्टि को उत्पन्न करता है तथा माया के कारण ही जीव बन्धन में ग्रस्त होते हैं। पुनः श्वेताश्वतर उपनिषद् में यह भी कहा गया है कि—माया तु प्रकृतिं मायिनं तु महेश्वरम्' अर्थात् माया को प्रकृति समझना चाहिए और माया के अधिष्ठाता ब्रह्म को मायावी समझना चाहिए। बृहदारण्यक उपनिषद् में यह कहा गया है कि वह परमात्मा एक होते हुए भी माया के कारण अनेक रूपों में प्रतिभासित होता है। प्रश्नोपनिषद् में यह कहा गया है— 'तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोके न येषु जिह्ममनृतं न माया' अर्थात् वही ब्रह्म लोक को प्राप्त कर सकते हैं, जो वंचना, अनृत और माया से मुक्त हों।

1.2.3 श्रीमद् भगवद्गीता में भी 'माया' शब्द प्रयोग हुआ है। भगवद्गीता में यह कहा गया है कि—

अर्थात् में अजन्मा एवं अविनाशी रूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियों का ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृति को अधीन करके अपनी योगमाया से प्रकट होता हूँ। भगवद्गीता में 'माया' के सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।

मामैव ये प्रपद्यन्ते मायामैतां तरन्ति मे ॥

अर्थात् यह अलौकिक त्रिगुणात्मक मेरी माया बड़ी दुस्तर है। जो पुरुष निरन्तर मुझको ही भजते हैं, वे इस माया का उल्लंघन कर जाते हैं।

1.2.4 भगवत में माया के विषय में यह कहा गया है कि—

'ऐषां माया भगवतः सर्गस्थित्यन्तकारिणी' अर्थात् माया विश्व की सृष्टि, स्थिति एवं संहार करने वाली शक्ति है।

1.2.5 गौडपाद ने 'माण्डूक्यकारिका' में 'माया' शब्द का प्रयोग रचनात्मक शक्ति के रूप में किया गया है। गौडपाद का यह स्पष्ट अभिमत है कि माया के कारण ही द्वैत का आभास होता है। माया के कारण ही जीव जगत् को सत् मानने लगता है और परमतत्त्व को भूल जाता है।

1.2.6 शंकराचार्य के माया सम्बन्धी अवधारणा में पृष्ठभूमि के रूप में वेद, उपनिषद्, श्रीमद्-भगवद्गीता एवं गौडपाद के दृष्टिकोण का स्पष्ट प्रभाव दिखायी पड़ता है। शंकराचार्य ने 'माया' शब्द का प्रयोग सृष्टि रचना शक्ति के रूप में किया है। अपने ग्रन्थ 'विवेकचूडामणि' में शंकर ने माया के स्वरूप और माया के प्रमुख विशेषताओं का वर्णन करते हुए कहा है कि—

अत्यक्तनाम्नीपरमेशशक्तिरनाद्यविद्यात्रिगुणात्मिका परा ।

कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत सर्वमिदं प्रसूयते ॥

सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्य भिन्नाप्युभयात्मिका नो ।

सांगाप्यनंगाप्युभयात्मिका नो महाद्भुतानिर्वचनीय रूपा ॥

शुद्धाद्वय ब्रह्मविबोधनाश्या सर्पभ्रमोरज्जुविवेकतो यथा ।

रजस्मः सत्वमिति प्रसिद्धः गुणास्तदीयाः ग्रथितैस्वकार्यै ॥

अर्थात् "अव्यक्त नाम वाली त्रिगुणात्मिका अनादि, अविद्या परमेश्वर की परा शक्ति है, वही माया है जिससे यह सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न होता है। बुद्धिमान लोग इसके कार्य से इसका अनुमान करते हैं।" शंकराचार्य का यह भी कहना है कि वह माया न सत् है न असत् है और न सदसत् है, न भिन्न है, न अभिन्न है और न भिन्नाभिन्न है न अंगसहित है और अंगरहित है और न ही सांगानंग ही है, किन्तु अत्यन्त अद्भुत एवं अनिर्वचनीय रूपा है।

शंकराचार्य उपर्युक्त श्लोक द्वारा यह भी स्पष्ट करते हैं कि माया से कैसे छुटकारा मिल सकता है, इसके विषय में कहा गया है कि रज्जु के ज्ञान से सर्प

भ्रम के समान वह अद्वितीय शुद्ध ब्रह्म के ज्ञान से नष्ट होने वाली है। अपने-अपने प्रसिद्ध कार्यों के कारण सत्व, रज और तम उसके तीन प्रसिद्ध गुण हैं।

माया सिद्धान्त—अध्यास

1.3 माया की स्थापना

शंकराचार्य ब्रह्म को ही एकमात्र सत् मानते हैं। यदि ब्रह्म ही एक मात्र सत् है, तो माया के लिए यहाँ किस प्रकार का अवकाश हो सकता है? प्रायः शंकराचार्य के माया के सम्बन्ध में यह भी प्रश्न उठाया जाता है कि क्या 'माया' का अस्तित्व स्वीकार करने से शंकर का दर्शन द्वैतवादी नहीं हो जाता है? इसके अतिरिक्त शंकराचार्य द्वारा 'माया' की अवधारणा को स्वीकार करने के पीछे तर्क क्या है? इन विभिन्न प्रश्नों का शंकराचार्य ने अपने अद्वैत वेदान्त में समाधान करने का प्रयास किया है। शंकराचार्य का कहना है कि कल्पना किया कि 'क' और 'ख' दो वस्तुएँ हैं, जिनके बीच हम सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं। यहाँ तीन प्रकार के विकल्प उपस्थित होते हैं— या दोनों वस्तुएँ एक दूसरे से स्वतंत्र हैं, या एक दूसरे पर आश्रित हैं या उनमें से एक स्वतंत्र तथा दूसरी पहली वस्तु पर पूर्णतया आश्रित है।

- (i) यदि यह माना जाय कि दोनों वस्तुएँ 'क' और 'ख' एक दूसरे से पूर्णतया स्वतंत्र हैं, तो उनके बीच किसी प्रकार के सम्बन्ध की कल्पना ही नहीं की जा सकती है।
- (ii) यदि यह माना जाय कि 'क' और 'ख' एक दूसरे पर आश्रित हैं, तो 'क' और 'ख' के बीच भेद करना हमारे लिए कठिन हो जाएगा। ऐसी स्थिति में हम उनके बीच किसी सम्बन्ध की कल्पना भी नहीं कर सकते हैं।
- (iii) तीसरी अवस्था यह माना जा सकता है कि 'क' तो बिल्कुल स्वतंत्र है, किन्तु 'ख', 'क' के ऊपर पूर्णतया आश्रित है। यही एक अवस्था है जिसमें 'क' और 'ख' के बीच किसी सम्बन्ध की कल्पना की जा सकती है। शंकर के दर्शन में यही 'क' ब्रह्म है और 'ख' माया है। 'ख', 'क' के ऊपर पूर्ण रूप से आश्रित होने के कारण 'क' की स्वतंत्रता में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं होता। शंकराचार्य द्वारा यही 'ब्रह्म' और 'माया' में विश्वास करने का तर्क है।

शंकराचार्य के 'ब्रह्म' एवं 'माया' की अवधारणा के सम्बन्ध में यह प्रश्न भी उठाया जाता है कि यदि ब्रह्म पूर्ण रूप से स्वतंत्र है तथा माया उसके ऊपर पूर्ण रूप से आश्रित है, तो उनके बीच कैसा सम्बन्ध हो सकता है। इस प्रश्न के उत्तर में शंकराचार्य कहते हैं कि 'माया' ईश्वर की बीज शक्ति है, जिसके द्वारा वह जगत् की सृष्टि करते हैं। परमेश्वर की यह बीजशक्ति अविद्यात्मक अव्यक्त शब्द से निर्दिष्ट की गयी है। इसे महासुप्ति भी कहते हैं, क्योंकि संसारी 'जीव' अपने यथार्थस्वरूप को भूलकर इसकी प्रगाढ़निद्रा में सोए रहते हैं। यहाँ विशेष से उल्लेखनीय यह है कि यद्यपि 'जीव' ब्रह्म की माया से ग्रस्त है, किन्तु ब्रह्म स्वयं अपनी 'माया' से प्रभावित नहीं होता। जिस प्रकार कोई जादूगर अपनी माया से दर्शकों को तो प्रभावित करता है, किन्तु वह स्वयं अपनी माया से प्रभावित नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्म या ईश्वर अपनी 'माया' से जीवों को तो प्रभावित कर देता है किन्तु वह स्वयं अपनी माया से तनिक भी प्रभावित नहीं होता।

1.4 माया और अविद्या

1.4.1. शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में 'माया' और 'अविद्या' शब्द का प्रयोग समानार्थक रूप में हुआ है, किन्तु परवर्ती अद्वैत वेदान्तियों ने इनके बीच भेद करने की चेष्टा की है। शंकर ने 'माया' और 'अविद्या' को समान मानते हुए इसकी दो प्रकार की शक्तियों का वर्णन किया है – प्रथम, आवरण शक्ति, जिसके द्वारा 'माया' ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को आच्छादि कर देती है, द्वितीय, विक्षेप शक्ति, जिसके द्वारा 'माया' अद्वैत ब्रह्म के स्थान पर नाना रूपतामक जगत् को उत्थापित करते हैं। 'विक्षेप शक्ति' के पूर्व 'आवरण शक्ति' का होना आवश्यक है, क्योंकि बिना आवरण के विक्षेप संभव ही नहीं है। शंकराचार्य के परवर्ती अद्वैत वेदान्ती 'माया' को ब्रह्म की भावात्मक शक्ति के रूप में मानते हैं तथा अविद्या को अभावात्मक शक्ति के रूप मानते हैं।

1.4.2. 'माया' और 'अविद्या' में दूसरा अन्तर यह है कि 'माया' ईश्वर की उपाधि है, किन्तु अविद्या 'जीव' की उपाधि है। मायोपाधिक ईश्वर है और अविद्योपाधिक जीव है।

1.4.3. 'माया' और 'अविद्या' में तीसरा अन्तर यह है कि माया सत्व गुण की प्रधानता है, पर अविद्या में तमोगुण की प्रधानता है। माया एवं अविद्या से सम्बन्धित उपर्युक्त दृष्टिकोणों से यह स्पष्ट होता है कि माया और अविद्या के सम्बन्ध में शंकराचार्य और उनके परवर्ती अद्वैत वेदान्तियों में किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है। वास्तविकता यह है कि चाहे 'माया' और 'अविद्या' को एक मानकर उसकी दो शक्तियों – 'आवरण' एवं 'विक्षेप' को मानें अथवा 'माया' को भावात्मक एवं 'अविद्या' को अभावात्मक मानें किन्तु अन्ततः दोनों में कोई अन्तर जान नहीं पड़ता।

1.5 शंकर के परवर्ती वेदान्तियों के अनुसार 'माया' और 'अविद्या'

शंकर के समय भले ही 'माया' और 'अविद्या' शब्द समानार्थक रूप में प्रयुक्त हुए हैं, किन्तु शंकरोत्तर काल में 'माया' और 'अविद्या' में अवश्य भेद किया गया था। महादेवानन्द सरस्वती ने अज्ञान को भाव रूप माना जिसके अन्दर सत्व, रज और 'तम' तीनों गुण पाये जाते हैं। यह अनिर्वचनीय है। उन्होंने अज्ञान को दो भागों में विभाजित किया है – प्रथम 'माया', द्वितीय 'अविद्या'। उनके अनुसार 'माया' विशुद्ध सत्व रूप है, जो जीव की उपाधि है। अज्ञान के भीतर ज्ञान-शक्ति और क्रियाशील दोनों पायी जाती है। रजस और तमस से अप्रभावित 'सत्व ज्ञान शक्ति' को उत्पन्न करता है तथा सत्व से अप्रभावित रजस और तमस क्रियाशक्ति को उत्पन्न करता है। यह क्रिया-शक्ति दो प्रकार की होती है— प्रथम आवरण शक्ति और द्वितीय विक्षेप शक्ति। सत्व एवं रजस से अप्रभावित तमस आवरण शक्ति को उत्पन्न करता है तथा सत्व एवं तमस से अप्रभावित रजस विक्षेप शक्ति को उत्पन्न करता है। 'माया' के अन्दर विक्षेप शक्ति की प्रधानता होती है तथा अविद्या के भीतर आवरण शक्ति की प्रधानता होती है। एक ही अज्ञान विक्षेप शक्ति की प्रधानता के कारण 'माया' तथा आवरण शक्ति की प्रधानता के कारण 'अविद्या' कहा जाता है।

सदानन्द का विचार भी महादेवानन्द सरस्वती के दृष्टिकोण का ही पोषण करता हुआ दिखायी पड़ता है। सदानन्द भी अज्ञान को दो भागों में विभाजित करते

है— समष्टि अज्ञान और व्यष्टि अज्ञान। समष्टि अज्ञान, जिसके भीतर विशुद्ध सत्त्व की प्रधानता है— वह ईश्वर की उपाधि है और इसे 'माया' कहते हैं। 'व्यष्टि—अज्ञान' जिसके भीतर अशुद्ध सत्त्व की प्रधानता है, वह 'जीव' की उपाधि है और इसे 'अविद्या' कहते हैं।

प्रकाशात्मन ने 'पंचपादिकाविवरण' में लिखा है कि माया के भीतर विक्षेप—शक्ति की प्रधानता है, जो दृश्य प्रपंच को उत्पन्न करती है और अविद्या के भीतर 'आवरण' शक्ति की प्रधानता है, जो ब्रह्म या तत्त्व के स्वरूप का आवरण करती है।

वाचस्पति मिश्र ने 'भामती' में 'अज्ञान' के स्थान पर 'अविद्या' शब्द का प्रयोग किया है। वे 'अविद्या' को दो भागों में विभाजित करते हैं— प्रथम मूला—अविद्या एवं द्वितीय तूला— अविद्या। मूला—अविद्या जगत् का कारण है और वह ईश्वर की उपाधि है। इसके विपरीत तूला—अविद्या ब्रह्म के स्वरूप का आवरण करती है और वह 'जीव' की उपाधि है। अविद्या का आश्रय 'जीव' है, पर विषय ब्रह्म है, पर माया का आश्रय और विषय दोनों ही ब्रह्म है।

1.6 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में मायावाद की प्रमुख विशेषताएँ

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में 'माया' ब्रह्म की वह शक्ति है, जिसके द्वारा ब्रह्म नाना रूपात्मक प्रपंच जगत् को उत्पन्न करता है। शंकराचार्य ने 'विवेकचूडामणि' में 'माया' की अनेक विशेषताओं का उल्लेख किया है जो इस प्रकार हैं—

1.6.1. माया परमेश्वर की परा शक्ति है

शंकराचार्य ने माया को परमेश्वर की वह शक्ति बताया है, जिसके माध्यम से परमेश्वर नाना रूपात्मक जगत् की सृष्टि करता है। शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में निरपेक्ष रूप से सत् ब्रह्म है, किन्तु वह 'माया' से उपहित होने के कारण सापेक्ष एवं सगुण होकर सृष्टि की रचना करता है।

1.6.2. 'माया' और ब्रह्म के बीच तादात्म्य सम्बन्ध पाया जाता है

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में 'माया' शक्ति ईश्वर में ही अन्तर्निहित है, ईश्वर से पृथक् उसकी कोई सत्ता नहीं है। 'माया' ब्रह्म के ऊपर पूर्ण रूप से आश्रित है, पर ब्रह्म 'माया' पर आश्रित न होकर उससे अपने को पूर्णतया स्वतंत्र रखता है। इसीलिए इसे एक पक्षीय आश्रित्व (One-Sided-Dependence) की संज्ञा दी जा सकती है।

1.6.3. शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में 'माया' अनादि है

शंकराचार्य ने अपने अद्वैत वेदान्त में 'माया' को अनादि कहा है। 'माया' को अनादि कहने का उनका तात्पर्य यह है कि 'माया' कब से जीवों को ग्रस्त किया है, इसके विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार सुषुप्तावस्था में हम यह नहीं कह सकते कि हम कब से सो रहे हैं, उसी प्रकार जीव कब से माया से आक्रान्त है, इसके विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। माया अनादि होते हुए भी सान्त है, क्योंकि इसका ब्रह्मज्ञान द्वारा अन्त किया जा सकता है।

1.6.4. शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में 'माया' अव्यक्त है

शंकराचार्य ने 'माया' को अव्यक्त कहा है। उन्होंने माया को अव्यक्त रूप इसलिए कहा है, क्योंकि प्रलय की अवस्था में केवल ब्रह्म की सत्ता रहती है 'माया' शक्ति रूप में ब्रह्म में अव्यक्त रूप में रहती है। 'माया' के अव्यक्त अवस्था का यह तात्पर्य है कि वह व्यक्त होकर जगत् के रूप में प्रकट हो सकती है।

1.6.5. माया का आश्रय और विषय ब्रह्म है

शंकराचार्य के अनुसार माया का आश्रय एवं विषय ब्रह्म है, किन्तु ब्रह्म 'माया' से किसी भी प्रकार प्रभावित नहीं होता। ब्रह्म अपनी माया शक्ति से उसी प्रकार प्रभावित नहीं होता जिस प्रकार जादूगर अपने जादू से स्वयं प्रभावित नहीं होता।

1.6.6. माया भावरूप है

शंकराचार्य ने माया को भावरूप माना है। उनके द्वारा 'माया' को भावरूप कहने का तात्पर्य यह है कि 'माया' के कारण ही जगत् की उत्पत्ति संभव होती है। परन्तु माया भावरूप होते हुए भी सत् नहीं है, क्योंकि ब्रह्म ही एकमात्र सत् है। माया को भावरूप कहने का आशय केवल यह है कि वह बन्ध्यापुत्र के समान पूर्ण अभावरूप नहीं है।

1.6.7. माया को विवर्त कहा गया है

शंकराचार्य ने केवल ब्रह्म को ही सत् माना है। ब्रह्म ही प्रपंचात्मक जगत् का मूल कारण है, किन्तु जगत् ब्रह्म का रूपान्तरण न होकर केवल ब्रह्म का आभास मात्र है। अतएव 'माया' की केवल प्रतिभासिक सत्ता है जिसके कारण 'माया' को ब्रह्म का विवर्त कहा गया है। माया के कारण ही ब्रह्म जगत् के रूप में प्रतिभासित होता है।

1.6.8. माया भौतिक और जड़ है

शंकर के अद्वैत वेदान्त में 'माया' सांख्य की 'प्रकृति' के समान अचेतन है, किन्तु माया की अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं है।

1.6.9. शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में माया अनिर्वचनीय है

शंकराचार्य के अनुसार माया सदसद निर्वचनीया है माया सत् नहीं है, क्योंकि इसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, वह असत् भी नहीं है, क्योंकि वह जगत् को प्रक्षेपित करती है। चूँकि यह न तो सत् है और न ही असत् है, इसीकारण इसे सदसदनिर्वचनीय कहा गया है।

1.6.10. शंकराचार्य के अनुसार 'माया' में दो शक्तियाँ हैं

प्रथम— आवरण—शक्ति एवं द्वितीय— विक्षेप—शक्ति, अपनी आवरण शक्ति द्वारा माया ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का आच्छादन करती है और विक्षेप शक्ति द्वारा अद्वय ब्रह्म के स्थान पर नाना रूपतामक जगत् को प्रक्षेपित करती है। इसलिए 'माया' अख्यातिरूप न होकर विपरीतख्यातिरूप भी है।

1.6.11. माया त्रिगुणात्मक है

शंकराचार्य के अनुसार 'माया' त्रिगुणात्मक है अर्थात् माया में सत्व, रजस एवं तमस तीन गुण होते हैं। शंकराचार्य गीताभाष्य के उपोद्घात में कहते हैं कि 'माया' ईश्वर की त्रिगुणात्मिका शक्ति है। ईश्वर अपनी त्रिगुणात्मिका मूल प्रकृति वैष्णवी माया को वश में करके अपनी लीला से शरीरधारी की तरह उत्पन्न हुए से और लोगों पर अनुग्रह करते हुए से दिखते हैं।

1.6.12 माया नामरूपात्मक है

शंकराचार्य के अनुसार 'माया' नामरूपात्मक होकर नानात्व का विस्तार करती है। शंकराचार्य के कहने का तात्पर्य यह है कि 'माया' के कारण ही जगत् की विभिन्न वस्तुओं के नाम—रूप संभव है।

1.6.13. माया ब्रह्म की बीज शक्ति है

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में 'माया' को बीजशक्ति इसलिए कहा जाता है क्योंकि इसी शक्ति के कारण निर्गुण निष्क्रिय ब्रह्म सक्रिय होकर सृष्टि की रचना करता है। माया से संयुक्त होकर निर्गुण ब्रह्म सगुण ईश्वर के रूप सृष्टि कार्य को करता है।

1.6.14. माया मिथ्या है

शंकराचार्य अपने अद्वैत वेदान्त में 'माया' को मिथ्या कहा है, क्योंकि वह विज्ञाननिरस्या है। ज्योंही हमें ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त हो जाता है माया का निरसन हो जाता है और वह अदृश्य हो जाती है।

1.6.15. माया अध्यास रूप है

शंकराचार्य ने 'माया' को अध्यास रूप कहा है। अध्यास का अर्थ है—मिथ्याज्ञान या अन्यथा ज्ञान। शंकराचार्य का कहना है कि अध्यास के द्वारा हमें एक वस्तु में दूसरी वस्तु का आभास होता है। माया के कारण ही ब्रह्म में जगत् उसी प्रकार अध्यस्त होते हैं, जैसे रस्सी में सर्प अध्यस्त होता है।

1.7. 'माया' के सम्बन्ध शंकर के अतिरिक्त अन्य वेदान्तियों का विचार

1.7.1. स्वामी विद्यारण्य का 'माया' सम्बन्धी विचार

स्वामी विद्यारण्य ने 'माया' के त्रिविध रूप को प्रतिपादित किया है

- (i) श्रुति प्रमाण से माया तुच्छ है अर्थात् वह अत्यन्त असत् है, जिस प्रकार आकाशकुसुम नितान्त असत् होता है।
- (ii) युक्ति के आधार पर 'माया' अनिर्वचनीय है अर्थात् वह सदसद्विलक्षण है।
- (iii) प्रत्यक्ष—प्रमाण से 'माया' वास्तविक है, क्योंकि रूपात्मक जगत् का प्रत्यक्ष कराती है।

1.7.2. मण्डन मिश्र के अनुसार माया का स्वरूप

मण्डन मिश्र के अनुसार 'माया' मिथ्याभास है क्योंकि यह न तो ब्रह्म का स्वभाव है और न ब्रह्म से पृथक् ही है। माया का आश्रय ब्रह्म नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म विशुद्ध चैतन्य है, जीव भी माया या अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता, क्योंकि 'जीव' स्वयं माया का परिणाम है। अतएव अविद्या का आश्रय न तो ब्रह्म है और न ही जीव ही है। परन्तु इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि अविद्या अनिर्वचनीय है। अनुपपद्यमान होने के कारण ही इसे 'माया' कहा जाता है। यहाँ एक दूसरी बात की ओर भी मण्डन मिश्र ने संकेत किया है और वह यह है कि यदि 'जीव' को अविद्या का आश्रय माना जाय, तो इसमें कोई हानि नहीं है, क्योंकि अविद्या जीव पर आश्रित है और जीव अविद्या पर आश्रित है। बीज और वृक्ष के चक्र के समान अविद्या और जीव का भी चक्र अनादि काल से चला आ रहा है।

1.7.3. वाचस्पति मिश्र के अनुसार माया का स्वरूप

वाचस्पति मिश्र के अनुसार जीव ही अविद्या का आश्रय है। अविद्या दो प्रकार की है— प्रथम— मनोवैज्ञानिक अविद्या है जो पूर्वापूर्व भ्रम संस्कार रूप है तथा द्वितीय भौतिक अविद्या जो जीव और जगत् का उपादान कारण है। इस समस्या के समाधान के लिए कि पहले जीव आता है कि अविद्या, वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि मनोवैज्ञानिक भ्रम का आश्रय जीव है और यह जीव स्वभाव एक पूर्व मिथ्या भ्रम के कारण उत्पन्न हुआ है तथा यह मिथ्या भ्रम किसी दूसरे मिथ्या भ्रम के कारण तथा यह दूसरा मिथ्या भ्रम किसी पूर्व तीसरे मिथ्या भ्रम के कारण उत्पन्न हुआ है और यह क्रम अनन्त तक चलता रहेगा।

1.8. माया और अध्यास

शंकराचार्य के दर्शन में अध्यास की बड़ी ही महत्वपूर्ण भूमिका है। इसके महत्व का पता इससे चलता है कि ब्रह्मसूत्रभाष्य के प्रारम्भ में ही शंकराचार्य 'अध्यास' को निरूपण करते हैं। शंकराचार्य के अद्वैत-वेदान्त में अध्यास माया, भ्रम, अविद्या, भ्रान्ति आदि शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची के रूप में हुआ है। अध्यास या माया का शंकराचार्य के दर्शन में इसलिए विशेष महत्व है क्योंकि इससे शंकर जगत् के नानात्व की व्याख्या करते हैं। वे इसके द्वारा यह स्पष्ट करते हैं कि अद्वैत सत्ता के होते हुए यह नाना रूपात्मक जगत् कैसे है? शंकराचार्य ने अपने अद्वैत वेदान्त में आत्म एवं अनात्म के अद्वैत की प्रतीति को अध्यास के द्वारा ही स्पष्ट किया है और शंकराचार्य के परवर्ती अद्वैत वेदान्तियों ने भी उनके ही मत का समर्थन किया है। वास्तविकता यह है कि अध्यास के बिना लोक व्यवहार ही बिल्कुल असंभव हो जाएगा।

1.8.1. अध्यास का स्वरूप और अर्थ

अध्यास का अर्थ है— एक वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु की प्रतीति ही अध्यास है। शंकराचार्य ने अध्यास की परिभाषा देते हुए कहा है कि— 'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः' अर्थात् दूसरे स्थान पर पहले देखी हुई वस्तु का स्मृतिरूप अवभास अध्यास है। उदाहरण के लिए रज्जु-सर्प ज्ञान में 'रज्जु' 'परत्र' वस्तु है, जिसमें पहले देखी हुई वस्तु 'सर्प' का वहाँ स्मृति रूप में अवभास है। भामती में वाचस्पति मिश्र अवभास को परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि— 'अवसन्नोऽवमतो व भासोऽवभासः' अर्थात् अवसन (अवसादयुक्त) या अवमत (तिरस्कृत) आभास अवभास कहा जाता है। साधारण बोल-चाल की भाषा में भी हम अवभास का प्रयोग करते

हैं, उससे हमारा यही आशय होता है कि अवभासित वस्तु मिथ्या है। वस्तु कुछ और पर वह अन्य रूप में भासित हो रही है। इसीलिए अध्यास का सामान्य लक्षण देते हुए यह का गया है कि—‘मिथ्याज्ञानमध्यासः’ अर्थात् मिथ्या ज्ञान को ही अध्यास कहते हैं। अध्यास का मिथ्यात्व इस बात से भी प्रकट होता है कि ‘प्रत्ययान्तर बाधश्च अवसादोऽवमानो वा’ अर्थात् वह उत्तर काल में प्रत्ययान्तर से बाध हो जाता है। शंकराचार्य ने अध्यास की एक और परिभाषा दी है— ‘अध्यासो नाम अतस्मिन् तद्बुद्धिः’ अर्थात् एक वस्तु में दूसरी वस्तु की बुद्धि (ज्ञान) प्राप्त होना अध्यास कहा जाता है।

1.8.2. अध्यास के भेद

‘सर्वदर्शन संग्रह’ में अध्यास के दो भेद बताये गये हैं, अर्थाध्यास एवं ज्ञानाध्यास। सीपी पर रजत का मिथ्या अध्यास होना ‘अर्थाध्यास’ है। यह वही भ्रम है जिसमें मिथ्या का आधार कोई पदार्थ रहता है। एक अर्थ (वस्तु) का दूसरे पर आरोप होना अर्थाध्यास (Superimposition of Objects) है। जब मिथ्याज्ञान का आत्मा पर आरोप होता है तो उसे ज्ञानाध्यास कहते हैं।

अर्थाध्यास दो प्रकार का है— स्वरूपाध्यास और संसर्गाध्यास। स्वरूपाध्यास में एक वस्तु में अन्य वस्तु स्वरूप से ही आरोपित हो जाती है जैसे रजत सीपी में स्वरूप से अध्यस्त या आरोपित हो जाने के कारण इसे ‘स्वरूपाध्यास’ कहते हैं।

संसर्गाध्यास तब होता है जब एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ सम्बन्ध होता है, जैसे सीपी के साथ रजत का सम्बन्ध संसर्गाध्यास है। स्वरूपाध्यास एवं संसर्गाध्यास को इस रूप में भी देखा जा सकता है कि आत्मा में ही अनात्मा की प्रतीति स्वरूपाध्यास है और आत्मा का अनात्मा (बुद्धि आदि) में प्रतीति संसर्गाध्यास है।

1.8.3. अध्यास की मूल विशेषताएँ

- (i) शंकराचार्य के अनुसार अध्यास अज्ञान रूप होने के कारण अनादि है और सामान्य रूप में मनुष्य में अज्ञान बना रहता है, जिसके कारण ‘सत्यानृते मिथुनीत्य’ की अवस्था उत्पन्न होती है और जिससे यह लोकव्यवहार चल रहा है। अतएव अध्यास अनन्त भी है।
- (ii) अध्यास नैसर्गिक है। अन्तःकरण एवं चैतन्य के संयोग से ही अध्यास उत्पन्न होता है। हमारी बुद्धि वृत्ति ही भेद उत्पन्न करती है, जिसके कारण ज्ञान पर आवरण पड़ जाता है। यह सब प्राकृतिक या नैसर्गिक ढंग से होता है।
- (iii) अध्यास से ही सम्पूर्ण लोक व्यवहार संचालित हो रहा है। अतएव अध्यास जगत् में सभी लोगों के लिए है और इसीलिए इसे ‘सार्वजनिक’ कहा जाता है।
- (iv) अध्यास मिथ्या ज्ञान रूप है। अध्यास स्वयं में मिथ्या है किन्तु मिथ्या की ही सत् के रूप में प्रतीति होती है। सत् तो एक मात्र ब्रह्म है और ब्रह्म के अतिरिक्त हमें जिस प्रपंचात्मक जगत् की अध्यास के कारण प्रतीति हो रही है वह मिथ्या प्रतीति है।
- (v) अध्यास के कारण ही जीव को कर्त्तापन एवं भोक्तापन की अनुभूति होती है। अज्ञानवश कुछ लोग अहं—प्रतीति के विषय जीवात्मा को ही वास्तविक

1.9. शंकराचार्य के मायावाद के विरुद्ध शंकाएँ

शंकराचार्य के मायावाद के विरुद्ध कुछ लोगों ने शंकाएँ उठायी हैं, जो इस प्रकार हैं—

1.9.1. माया क्या है

शंकराचार्य के कुछ विरोधियों ने उनके मायावाद के विरुद्ध यह प्रश्न उठाये हैं कि शंकराचार्य को 'माया' क्या है? यह किसकी माया है? वह कहाँ प्रतीत होती है वह कब से जीवों को भ्रमित कर रखा है? इस प्रकार के उठाये गये विभिन्न प्रश्नों को शंकराचार्य निरर्थक मानते हैं। शंकराचार्य का यह कहना है कि जब तक हम माया से ग्रसित हैं, तब तक व्यवहारिक रूप में यह समस्याएँ भी बनी रहेंगी और ज्योंही हम माया से मुक्त होकर पारमार्थिक सत्ता की अनुभूति कर लेंगे त्यों ही इन समस्याओं का भी अन्त हो जाएगा।

1.9.2. ब्रह्म ही माया का आश्रय

मायावाद के सम्बन्ध में दूसरी शंका यह उठायी जाती है कि यदि ब्रह्म ही माया का आश्रय और विषय है, तो वह भी माया से प्रभावित होता होगा। ऐसा नहीं हो सकता कि माया ब्रह्म में निवास करे और वह उससे प्रभावित न हो। इस शंका के समाधान में शंकराचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार कोई जादूगर अपने जादू से दूसरों को तो प्रभावित कर लेता है, किन्तु स्वयं अपने जादू से प्रभावित नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्म अपनी माया से जीवों को तो प्रभावित करता है, पर स्वयं वह अपनी माया से प्रभावित नहीं होता।

1.9.3. माया जनित जगत्

कुछ लोग यह शंका करते हैं कि शंकराचार्य जगत् को मायाजनित कहकर जगत् का तिरस्कार किया है। जगत् रज्जु-सर्प या शक्ति-रजत के समान मिथ्या है, किन्तु जगत् एक वास्तविकता है। इसे रज्जु-सर्प के समान मिथ्या कैसे कहा जा सकता है? इस प्रश्न के सम्बन्ध में शंकराचार्य यह कहते हैं कि व्यावहारिक दृष्टि से जगत् मिथ्या नहीं है, परमतत्त्व स्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार होने के पश्चात् जगत् की प्रतीति मिथ्या सिद्ध होती है।

1.9.4. जगत् माया जन्म है?

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त के विरुद्ध एक अन्य आक्षेप यह भी लगाया जाता है कि यदि सम्पूर्ण जगत् मायाजन्य है और मिथ्या है, तो साधक और साधन भी मिथ्या हों। अब एक मिथ्या साधक मिथ्या साधन के द्वारा सत् साध्य की सिद्धि किस प्रकार कर सकता है? इस आक्षेप के उत्तर में शंकराचार्य कहते हैं कि कभी-कभी मिथ्या साधन के द्वारा भी हमारी समस्याओं का समाधान मिल जाता है, जैसे दर्पण का प्रतिबिम्ब मिथ्या है किन्तु इससे बिम्ब के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। स्वप्न का शेर मिथ्या है, किन्तु उसके भय के कारण मनुष्य जागृतावस्था में आ जाता है। इस प्रकार शंकराचार्य कहते हैं कि जब तक किसी को आत्मसाक्षात्कार नहीं प्राप्त हो जाता है, तब तक उसके लिए जगत् वास्तविक ही है। आत्मसाक्षात्कार के बाद ही जगत् मिथ्यात्व सिद्ध होता है। पारमार्थिक एवं

व्यवहारिक सत्ताओं में भेद न करने के कारण ही हमारे मस्तिष्क में सारी समस्याएं उत्पन्न होती हैं।

माया सिद्धान्त—अध्यास

1.10. निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि शंकराचार्य ने अपने मायावाद की अवधारणा के द्वारा यह दिखाया है कि यह जगत् भी एक प्रकार का भ्रम है। उस भ्रम का कारण अज्ञान है। अज्ञान का कारण आवरण और विक्षेप होता है अर्थात् ब्रह्म का स्वरूप आच्छादित होकर जगत् के रूप में आभासित होता है। वास्तविकता यह है कि शंकराचार्य किसी वस्तु को सत् या असत् कहते हैं, तो सत् का अर्थ त्रिकालाबाधित सत् होता है और असत् का अर्थ पूर्णतया असत् होता है। जहाँ तक जगत् का सवाल है, वह बन्ध्यापुत्र के समान असत् भी नहीं है क्योंकि उसका प्रव्यक्ष होता है। अतएव जगत् सदसद्विलक्षण है। उसके भीतर पारमार्थिक सत्यता भले ही न हो, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से वह सत् ही है।

प्रश्नावली

लघु उत्तरीय प्रश्न—

1. शंकराचार्य की माया क्या है?
2. माया का मूल स्रोत क्या है?
3. माया और अविद्या पर चर्चा करें।
4. मण्डन मिश्र के अनुसार माया का स्वरूप क्या है?
5. अध्यास की मूल विशेषताएँ क्या हैं?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न—

1. शंकर की माया पर एक निबन्ध लिखिए।
2. अद्वैत वेदान्त में माया की प्रमुख विशेषताओं को स्पष्ट करें।

इकाई-2

शंकर के मायावाद का रामानुज द्वारा खण्डन

संरचना

- 2.0 उद्देश्य
- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त में माया
- 2.3 माया का निवास ब्रह्म में है।
- 2.4 माया, अविद्या और भ्रम
- 2.5 शंकर एवं रामानुज के माया सम्बन्धी दृष्टिकोण
- 2.6 परिणामवाद और विवर्तवाद
- 2.7 आचार्य शंकर माया को अध्यासरूप मानते हैं।
- 2.8 आचार्य शंकर के अनुसार यथार्थ प्रत्यक्ष और भ्रम में भेद
- 2.9 आचार्य शंकर के मायावाद की सामान्य विशेषताएं
- 2.10 रामानुज द्वारा शंकर के मायावाद की आलोचना
 - 2.10.1 आश्रयानुपपत्ति
 - 2.10.2 तिरोधानानुपपत्ति
 - 2.10.3 स्वरूपानुपपत्ति
 - 2.10.4 अनिर्वचनीयानुपपत्ति
 - 2.10.5 प्रमाणानुपपत्ति
 - 2.10.6 निर्वतकानुपपत्ति
 - 2.10.7 निवृत्त्यानुपपत्ति
- 2.11 निष्कर्ष
- 2.12 सारांश
- 2.13 बोध प्रश्न
- 2.14 सहायक पुस्तकें

2.0 उद्देश्य

आचार्य शंकर ने एक ओर सृष्टि का वर्णन किया है, दूसरी ओर नाना विषयात्मक जगत् को मिथ्या कहा है। इन दोनों बातों का सामंजस्य कैसे किया जाय? यदि सृष्टि को सत्य मानते हैं तो फिर नाना रूपात्मक जगत् की सत्यता को कैसे अस्वीकार किया जा सकता है? इस प्रकार के प्रश्न के साथ ही आचार्य शंकर इस प्रश्न पर भी विचार करते हैं कि यदि ब्रह्म वस्तुतः निर्गुण और निर्विकार है, तो फिर वह सृष्टिकर्ता कैसे हो सकता है? यदि उसका कर्तृत्व सत्य है तो वह निर्गुण और अविकारी कैसे है? ये दोनों ही बातें एक साथ कैसे सत्य हो सकती हैं? पुनश्च शास्त्रों में यह बात कही गयी है कि ब्रह्मज्ञान हो जाने पर नानात्व दूर हो जाता है। यदि सृष्टि को सत्य मान लिया जाय तो यह भी समझ में नहीं आ सकता कि ब्रह्म ज्ञान हो जाने पर कैसे नानात्व दूर हो जाता है? यदि जगत् सत्य है तो तिरोहित कैसे हो जाता है? ब्रह्म ज्ञान हो जाने पर केवल मिथ्या ज्ञान (सत् में असत् की प्रतीति) का बाध हो सकता है। यदि जगत् सत्य है तो उसके नानात्व ज्ञान का कैसे बाध होगा? आचार्य शंकर ने जगत् एवं ब्रह्म के सम्बन्ध को लेकर उठने वाले अनेक प्रकार के प्रश्नों का समाधान मायावाद के द्वारा करने का प्रयास किये हैं।

2.1 प्रस्तावना

आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त में 'माया' की अवधारणा के द्वारा ब्रह्म को एकमात्र पारमार्थिक दृष्टि से सत्य सिद्ध किया है तथा प्रपंचात्मक जगत् को ब्रह्म के माया शक्ति की उपज बताया है। इसलिए आचार्य शंकर के अद्वैतवाद को 'माया' की अवधारणा से पृथक करके समझा जा सकता है। आचार्य शंकर की यह स्पष्ट मान्यता है कि ब्रह्म एक निर्गुण निर्विशेष एवं भेदरहित सत्ता है। उससे भिन्न कोई ऐसी सत्ता नहीं है जिसे त्रिकाल में अबाधित सत्ता के रूप में सत्य माना जाय? परन्तु सांसारिक जीवन व्यतीत करने वाला मनुष्य यह अनुभव करता है कि नाना रूपात्मक प्रपंच जगत् की जो प्रतीति होती है क्या इसे नितान्त असत् मान लिया जाय? आचार्य शंकर को पारमार्थिक दृष्टि से सत्य मानने के साथ-साथ व्यावहारिक सत्य और प्रतिभासिक सत्य की भी बात करते हैं। आचार्य शंकर के अनुसार जगत् व्यावहारिक रूप में सत्य है। उन्होंने प्रातिभासिक सत्ता के अन्तर्गत स्वप्न, भ्रम इत्यादि को रखा है। जिसका बाध यथार्थ ज्ञान से हो जाता है। प्रायः सभी ईश्वरवादियों के लिए ईश्वर की पारमार्थिक सत्ता के साथ जगत्, जीव, प्रपंच का सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किये हैं, किन्तु कोई समुचित समाधान प्रस्तुत नहीं कर पाये हैं। आचार्य शंकर ने अपने अद्वैत वेदान्त में इस समस्या के समाधान के लिए 'माया' की अवधारणा को प्रस्तावित किया है।

2.2 आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त में माया

आचार्य शंकर ने माया की अवधारणा के द्वारा निर्गुण, निर्विशेष एवं निर्विकार ब्रह्म के स्थान पर प्रपंचात्मक जगत् एवं जीवों की अनेकता का प्रतिपादन करते हैं। आचार्य शंकर के पूर्व सबसे पहले माया शब्द का प्रयोग 'ऋग्वेद' में मिलता है, जहाँ यह कहा गया है कि "एक ही इन्द्रिय माया के प्रभाव से नाना रूपों में प्रकट होती है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है कि— 'माया तु प्रकृतिं विद्यात—मयानिं तु माहेश्वरम्' अर्थात् ब्रह्म की माया प्रकृति है।" आचार्य शंकर ने

ब्रह्म एवं जगत के सम्बन्ध की समुचित व्याख्या के लिए 'माया' की अवधारणा का सहारा लेते हैं। आचार्य शंकर ने अपने अद्वैत वेदान्त में 'माया' और अविद्या को पर्यार्यवाची के रूप में प्रयोग किया था। आचार्य शंकर ने 'माया' के लिए अविद्या, अध्यास, अध्यारोप, भ्रान्ति, विवर्त, भ्रम, नामरूप, अव्यक्त, मूल प्रकृति आदि शब्दों से व्यवहृत किया है। परन्तु आचार्य शंकर परवर्ती अद्वैत वेदान्तियों ने 'माया' और 'अविद्या' का प्रयोग एक ही अर्थ में न करते हुए 'माया' और अविद्या में भेद किया। आचार्य शंकर के परवर्ती अद्वैत वेदान्तियों का कहना है कि 'माया' भावात्मक है और अविद्या निषेधात्मक है। माया को भावात्मक इसलिए कहा जाता है कि माया के द्वारा ब्रह्म सम्पूर्ण विश्व की रचना करता है। माया विष्व को प्रस्थापित करती है। 'अविद्या' माया के विपरीत ज्ञान के अभाव को संकेत करने के कारण निषेधात्मक है। 'माया' और 'अविद्या' में अन्य अन्तर यह है कि 'माया' ईश्वर को प्रभावित करती है जबकि अविद्या जीव को प्रभावित करती है। माया और अविद्या में यह भी अन्तर है कि माया का आविर्भाव मूलतः सत्व गुण से हुआ है, जबकि सत्व रज और तम तीनों गुणों के सम्मिलित रूप से अविद्या का आविर्भाव हुआ है, इसलिए माया का स्वरूप सात्त्विक है और अविद्या का स्वरूप त्रिगुणात्मक है।

2.3 माया का निवास ब्रह्म में है

माया के सम्बन्ध में प्रायः यह प्रश्न उठता है कि माया का निवास स्थान कहाँ है? दूसरे शब्दों में माया रहती कहाँ है? शंकर का कहना है कि माया का निवास स्थान ब्रह्म है। आचार्य शंकर का कहना है कि चूँकि ब्रह्म अपरिवर्तनशील सत्ता है, इसलिए ब्रह्म माया का आश्रय होते हुए भी माया से प्रभावित नहीं होता है। आचार्य शंकर अपनी बात को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार रूपहीन आकाश पर आरोपित नीले रंग का प्रभाव आकाश पर नहीं पड़ता तथा जिस प्रकार जादूगर के जादू की प्रवीणता का प्रभाव स्वयं जादूगर पर नहीं होता है, उसी प्रकार माया का प्रभाव भी ब्रह्म पर नहीं पड़ता। 'माया' ब्रह्म की शक्ति है। माया ब्रह्म में उसी प्रकार विद्यमान रहती है जिस प्रकार अग्नि की दाहकता अग्नि से अभिन्न है। इसी माया की शक्ति के द्वारा ब्रह्म नानारूपात्मक सृष्टि की अद्भुत लीला दिखलाते हैं। इस लीला को अज्ञानी सत्य समझने लगते हैं, किन्तु जो तत्वज्ञानी हैं, वे इस लीला को समझ जाते हैं और इस मायामय संसार में केवल ब्रह्म ही उन्हें सत्य जान पड़ता है। इस प्रकार आचार्य शंकर यह स्पष्ट करते हैं कि माया ब्रह्म की शक्ति है, जिसके द्वारा ब्रह्म नानारूपात्मक जगत को उपस्थित करता है।

2.4 माया, अविद्या और भ्रम

जीवन में साधारणतः किस प्रकार भ्रम होते हैं, इसे यदि हम समझने की कोशिश करें, तो यह देखने में आता है कि वास्तविक अधिष्ठान या आधार का ज्ञान नहीं रहने के कारण भ्रम उत्पन्न होता है जैसे रस्सी का यथार्थ ज्ञान नहीं होने के कारण उसमें साँप का भ्रम उत्पन्न होता है। यदि हम रस्सी को रस्सी जानते तो उसके विषय में भ्रम नहीं होता। परन्तु रस्सी का ज्ञान मात्र भ्रम का कारण नहीं है, क्योंकि वैसी स्थिति में जिसे रस्सी का ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ वह सदैव साँप ही साँप देखा करता। जिस अविद्या के कारण भ्रम उत्पन्न होता है, वह केवल अधिष्ठान का आवरण ही नहीं करती उस पर विक्षेप भी कर देती है। आवरण का अर्थ है यथार्थ स्वरूप को ढक देना। विक्षेप का अर्थ है उस पर दूसरी

वस्तु का आरोप कर देना है। ये दोनों ही अविद्या या अज्ञान के कार्य हैं, जिनसे हमारे मन में भ्रम पैदा होता है।

आचार्य शंकर ने 'माया' और 'अविद्या' को एक ही प्रकार का मानते हुए यह दिखाते हैं कि जिस प्रकार कोई जादूगर जादू का खेल दिखाकर हमें भ्रम में डाल देता है (जैसे एक ही सिक्के को अनेक सा बनाकर दिखा देता है), तब दर्शक भ्रम में पड़ जाते हैं। किन्तु स्वयं बाजीगर उस भ्रम में नहीं पड़ता। हममें वह भ्रम या अविद्या अज्ञान के कारण उत्पन्न होता है। जिसके कारण वस्तु का स्वरूप छिप जाता है और उसके स्थान पर दूसरी वस्तु दिखायी पड़ती है। यदि कोई दर्शक उस एक सिक्के का वास्तविक रूप ही देखता रहे तो जादू की जादूगरी उसे भ्रमित नहीं कर सकती, यह तो हमारी दृष्टि के दोष के कारण हुआ। जादूगर की दृष्टि से वह भ्रम केवल माया करने की शक्ति है, जिससे दर्शक भ्रम में पड़ जाते हैं, स्वयं जादूगर नहीं। इसी प्रकार से सृष्टि की माया भी दो प्रकार से समझी जा सकती है। माया ईश्वर के लिए केवल लीला की इच्छा है। ईश्वर स्वयं उस माया से प्रभावित नहीं होता। हम लोग अज्ञानी हैं, उसे देखकर भ्रम में पड़ जाते हैं और एक ब्रह्म के स्थान पर नाना प्रपंचात्मक जगत् को देखने लगते हैं। इस प्रकार माया हम लोगों के लिए भ्रम का कारण है। इस अर्थ में 'माया' को अज्ञान या अविद्या भी कहते हैं। माया के भी दो कार्य हैं— जगत् आधार, ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप छिपा देना और उसे जगत् के रूप में आभासित करना। इस विशेष शक्ति के कारण 'माया' को भावरूप अज्ञान कहते हैं। सृष्टि का आरम्भ कभी किसी काल में हुआ, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अतएव माया को अनादि कहा जाता है। माया को अनादि इसलिए भी कहा जाता है क्योंकि माया ब्रह्म के साथ ही शक्ति के रूप में उसी में अन्तनिर्हित है। इसलिए आचार्य शंकर कहते हैं कि जो ब्रह्म ज्ञानी हैं वे संसार के मिथ्यात्व को समझते हैं, वे संसार को ब्रह्ममय देखते हैं, उनके लिए न कोई भ्रम और न ही कोई माया है। ब्रह्म ज्ञानी के लिए ईश्वर भी मायावी नहीं है, अपितु वह ही केवल पारमार्थिक दृष्टि से सत्य सत्ता के रूप में अनुभूत होता है।

2.5 शंकर एवं रामानुज के माया सम्बन्धी दृष्टिकोण

रामानुज शंकर से भिन्न दृष्टिकोण रखते हुए श्वेताश्वतर उपनिषद् के दृष्टिकोण का अनुसरण करते हुए 'माया' का उल्लेख तो करते हैं, किन्तु वे माया से ईश्वर की वास्तविक सृष्टि करने की शक्ति समझते हैं अथवा ब्रह्म में अवस्थित नित्य अचेतन तत्व को शंकर भी माया को ब्रह्म की शक्ति समझते हैं, किन्तु उनके अनुसार यह शक्ति ब्रह्म का नित्य स्वरूप नहीं है। यद्यपि शक्ति रूप में माया ब्रह्म से भिन्न नहीं है, अपितु शक्ति रूप में माया ब्रह्म उसी प्रकार अभिन्न और अविच्छेद है, जिस प्रकार दाहकता अग्नि से अभिन्न है और संकल्प मन से अविच्छिन्न तथा अभिन्न है। जब शंकर प्रकृति को 'माया' कहते हैं तब उनका अर्थ यही होता है कि यह रचनात्मिका शक्ति या माया ही उन लोगों के लिए संसार की प्रकृति (आदि या मूल कारण) है, जो संसार को देख रहे हैं। अतएव शंकर एवं रामानुज का माया के सम्बन्ध में दृष्टिकोण सम्बन्धी भेद यह है कि रामानुज के अनुसार ब्रह्म के अवस्थित अचित् तत्व में (इसलिए ब्रह्म में भी) वास्तविक परिवर्तन होता है जबकि शंकर का मत है कि ब्रह्म अपरिवर्तनशील सत्ता है।

2.6 परिणामवाद और विवर्तवाद

किसी द्रव्य के विकार का आभास (जैसे रस्सी का साँप के रूप में दिखायी पड़ना) 'विवर्त' कहलाता है और वास्तविक विकार या परिणाम (दूध का दही बन जाना) है। अतएव सृष्टि के सम्बन्ध में शंकर के मायावाद के विचार की तार्किक परिणति विवर्तवाद है तथा इसके विपरीत सांख्य एवं रामानुज का मत एक प्रकार का परिणामवाद है। सांख्य सम्पूर्ण सृष्टि को प्रकृति का परिणाम मानता है और रामानुज ब्रह्म के उचित अंश को ही संसार के रूप में सरुपान्तरण मानते हैं। यद्यपि विवर्तवाद और परिणामवाद दोनों ही इस बात से सहमत हैं कि कार्य पहले से ही अपने उपादान कारण में विद्यमान रहता है। अतएव दोनों ही सत्कार्यवाद (अर्थात् कार्य पहले ही से अपने उपादान कारण में सत् या विद्यमान था वह कोई नई वस्तु नहीं है; इस मत) का समर्थन करते हैं।

2.7 आचार्य शंकर माया को अध्यासरूप मानते हैं।

आचार्य शंकर के अनुसार 'माया' अध्यास रूप है। जहाँ जो वस्तु नहीं है, उसे वहाँ कल्पित करना 'अध्यास' कहलाता है। वर्तमान मनोविज्ञान की भाषा में इसे एक प्रकार का प्रक्षेपण (Projection) कहते हैं। जहाँ-जहाँ भ्रान्त प्रत्यक्ष होता है, वहाँ-वहाँ ऐसा अध्यास होता है। जिस प्रकार रस्सी में सर्प अध्यस्त हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्म में जगत् अध्यस्त हो जाता है। इस प्रकार आचार्य शंकर सम्पूर्ण सृष्टि प्रक्रिया को ब्रह्म का विवर्त या अध्यास मात्र मानते हैं। आचार्य शंकर ने अपने अद्वैतवाद की स्थापना के लिए माया, अविद्या तथा अध्यास विषयक अवधारणा का प्रतिपादन किये हैं। आचार्य शंकर का स्पष्ट मत है कि किसी वस्तु का आकार उससे भिन्न सत्ता नहीं है। इसलिए आकार की कल्पना द्रव्य से पृथक् नहीं की जा सकती। यदि द्रव्य उसी रूप में विद्यमान रहे तो केवल आकार परिवर्तन वास्तविक परिवर्तन नहीं कहा जा सकता। आचार्य शंकर का कारण कार्य के रूप में हम जो परिवर्तन देखते हैं वह केवल मानसिक आरोप या विक्षेप मात्र है। इसी को आचार्य शंकर अध्यास कहते हैं। इस प्रकार की मिथ्या कल्पना का कारण 'अविद्या' है जो हमें भ्रम में डाल देती है और 'असत्' में सत् का आभास कराती है। यही कारण है कि आचार्य शंकर अज्ञान, अविद्या या माया के रूप में अध्यास को निरूपित करते हैं और यह विचार व्यक्त करते हैं कि 'माया' या 'अविद्या' के कारण ही संसार की प्रतीति होती है। आचार्य शंकर का यह मानना है कि सांसारिक विषय शुद्ध सत् नहीं कहे जा सकते क्योंकि वे विशेष विकारशील हैं किन्तु वे बन्ध्यापुत्र के समान सर्वथा असत्, अलीक या तुच्छ भी नहीं कहे जा सकते, क्योंकि उनकी भी सत्ता है जो उनके रूप में आभासित हो रही है। इस कारण वे न सत् कहे जा सकते हैं और न ही असत्। इसलिए वे अनिर्वचनीय हैं। यह समस्त विषय संसार और उनकी जननी 'माया' या 'अविद्या' भी सत्, असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय है।

2.8 आचार्य शंकर के अनुसार यथार्थ प्रत्यक्ष और भ्रम प्रत्यक्ष में भेद

अद्वैतवादी आचार्य शंकर यथार्थ प्रत्यक्ष और भ्रम प्रत्यक्ष में भेद करते हैं। इसलिए यथार्थ प्रत्यक्ष और भ्रम प्रत्यक्ष में भेद के कारण अज्ञान के भी दो प्रकार माने गये हैं। आचार्य शंकर का कहना है कि जिस मूल अविद्या के कारण

व्यावहारिक जगत् का प्रत्यक्ष अनुभव होता है, वह 'मूलविद्या' कहलाती है। इसके अतिरिक्त जिस अविद्या के कारण सर्पादि का तात्कालिक भ्रम उत्पन्न होता है, वह 'तूलाविद्या' कहलाती है। इस प्रकार आचार्य शंकर का यह मानना है कि यदि जगत् से इसके सब विषयों के मूल व्याभिचारी अधिष्ठान या कारण तत्व को समझा जाय तो उनका यह स्पष्ट मत है कि जगत् अवष्य सत्य है। उनका यह स्पष्ट कहना है कि जैसे कारण रूपी ब्रह्म की सत्ता त्रिकाल में रहती है, वैसे ही (सत्ता रूपेण) जगत् भी त्रिकाल में सत्त्व नहीं खोता क्योंकि कारण- कार्य अभिन्न हैं। पुनश्च नाना नाम रूपात्मक विषय रूप जगत् सत्तारूपेण सत्य हैं किन्तु ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सत्ता पारमार्थिक दृष्टि से सत्य न होने के कारण जगत् विशेष रूप में असत् है।

2.9 आचार्य शंकर के मायावाद की सामान्य विशेषताएं

अद्वैत वेदान्त में माया की अवधारणा विशिष्ट ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता के साथ जगत्, जीव, प्रपंच का सामन्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया है।

अद्वैत वेदान्त में माया की अवधारणा का प्रतिपादन निर्गुण, निर्विशेष एवं भेदरहित ब्रह्म के स्थान पर प्रपंचात्मक जगत् एवं जीवों की विविधता की व्याख्या करने के लिए किया गया है। अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को ही एकमात्र पारमार्थिक दृष्टि से सत् माना है और यह कहा गया है कि- ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवों बह्वैवनापरः अर्थात् एक मात्र पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है और जीव तथा ब्रह्म एक दूसरे से भिन्न नहीं है। अद्वैत वेदान्त जगत् पारमार्थिक दृष्टि से सत्य। वास्तव में अद्वैत वेदान्त में माया की अवधारणा का प्रतिपादन ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता के साथ जगत्, जीव प्रपंच का ही सामन्जस्य स्थापित करना है शंकराचार्य की मान्यता है कि माया के कारण ही निर्गुण, निर्विशेष एवं भेदरहित ब्रह्म के स्थान पर प्रपंचात्मक जगत् एवं जीवों की विविधता का अनुभव होता है।

आचार्य शंकर ने 'माया' और अविद्या को एक ही अर्थ में व्यवहृत किया था, किन्तु कालान्तर में शंकर के अनुयायियों ने 'माया' एवं अविद्या में भेद किया। शंकराचार्य के अनुयायियों ने माया को भावात्मक कहा है और अविद्या को अभावात्मक कहा है। माया में प्रतिबिम्बित ब्रह्म ईश्वर है, किन्तु अविद्या में प्रतिबिम्बित ब्रह्म जीव है। माया ब्रह्म की शक्ति है जबकि अविद्या के कारण जीव अपने वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ रहता है। माया का स्वरूप सात्विक है, जबकि अविद्या त्रिगुणात्मक है। इस प्रकार यद्यपि आचार्य शंकर के अनुयायियों ने 'माया' एवं 'अविद्या' में भेद करने का प्रयास किया है; अद्वैत वेदान्त की माया के निम्नलिखित लक्षणों को स्वीकार किया जाता है-

(1) आचार्य शंकर के अनुसार 'माया' अचेतन है और अपनी सत्ता के लिए ब्रह्म पर आश्रित है।

(2) शंकर का मानना है कि माया अनादि है; किन्तु अनन्त नहीं है। माया का अस्तित्व तब तक है जब तक ब्रह्म की अनुभूति नहीं होती है। इसलिए माया ब्रह्म ज्ञान की अनुभूति नहीं होती है। अतएव माया ब्रह्म ज्ञान से निरसित होने के कारण शान्त है।

(3) माया ब्रह्म की स्वाभाविक शक्ति है। ब्रह्म अपनी मायारूपी शक्ति के द्वारा ही नाना नाम-रूपमय प्रपंचात्मक जगत् को उत्पन्न करता है। माया ब्रह्म का

स्वरूप नहीं है; किन्तु माया ब्रह्म की स्वाभाविक शक्ति होने के कारण ब्रह्म के साथ तादात्म्य सम्बन्ध के रूप में विद्यमान रहती है।

(4) माया भावात्मक है; क्योंकि माया के कारण ही नाना रूपात्मक प्रपंचात्मक जगत् की उत्पत्ति सम्भव है।

(5) माया अनिर्वचनीय है; क्योंकि माया न तो सत् है न असत् है, न सदसत् दोनों है और न सत् एवं असत् दोनों नहीं है। माया अपनी सत्ता के लिए ब्रह्म पर पूर्णतः आश्रित होने के कारण सत् नहीं है। माया अनुभव जगत् का विषय होने के कारण असत् नहीं है। यह इसलिए भी असत् नहीं है; क्योंकि यह ब्रह्म पर जगत् को आरोपित करती है। यदि इसे सदसत् दोनों माना जाय तो यह आत्म विरोधी होगी। इसलिए तार्किक दृष्टि से माया (अनिर्वचनीय) या 'सदसद्विलक्षण' है।

(6) माया अध्यास है। अतत् में तत् की प्रतीति अध्यास है। अतस्मिन् तद्बुद्धिरिति अध्यासः अर्थात् जहाँ जो वस्तु नहीं है वहाँ उसकी प्रतीति है। यह ब्रह्म में नाना रूपात्मक जगत् का आरोप करती है; जबकि ब्रह्म यथार्थ में प्रपंचातीत है।

(7) माया विवर्तमात्र है और इसकी व्यावहारिक सत्ता (Empirical real) है। विवर्तवाद के अनुसार कार्य कारण का आभास मात्र है; वास्तविक रूपान्तरण नहीं। माया के कारण ही ब्रह्म का जगत् के रूप में आभास होता है और जगत् व्यावहारिक रूप में सत्य प्रतीत होता है।

(8) माया का आश्रय एवं विषय ब्रह्म है। माया ब्रह्म में ही निवास करती है और जगत् की उत्पत्ति के लिए ब्रह्म को ही अपना विषय बनाती है। ब्रह्म माया का विषय एवं आश्रय होने पर भी उससे वैसे ही प्रभावित नहीं होता है; जैसे जादूगर अपनी जादूई शक्ति से प्रभावित नहीं होता है।

(9) माया विज्ञान निरस्य है (Removal by right knowledge)। ब्रह्म ज्ञान से प्रपंचात्मक जगत् का ज्ञान बाधित हो जाता है।

(10) माया की दो शक्तियां हैं— आवरण (Concealment) एवं विक्षेप (Projection)। माया आवरण शक्ति के कारण ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को ढक लेती है। और विक्षेप शक्ति के द्वारा ब्रह्म के स्थान पर प्रपंचात्मक जगत् आरोप करके ब्रह्म से भिन्न सत्ता का अभ्यास कराती है।

इस प्रकार आचार्य शंकर अपने मायावाद के द्वारा यह स्पष्ट करते हैं कि माया के कारण ही ब्रह्म के पारमार्थिक सत्ता के स्थान पर प्रपंचात्मक जगत् एवं नाना रूपात्मक जीवों की विविधता का आभास होता है। माया ही वह कड़ी है जो ब्रह्म से जगत् के उत्पत्ति को तार्किक दृष्टि से संभव बनाती है।

2.10 रामानुज द्वारा शंकर के मायावाद की आलोचना

रामानुज शंकर के मायावाद की आलोचना करते हुए 'माया' को ब्रह्म की वास्तविक शक्ति मानते हैं। रामानुज शंकर द्वारा वर्णित माया की अवधारणा को तर्कतः अनुपन्न सिद्ध करते हैं; जिन्हें 'सप्तानुपपत्ति' कहते हैं। रामानुज शंकर के मायावाद के विरुद्ध दी गयी 'सप्तानुपत्ति निम्नलिखित है—

2.10.1 'आश्रयानुपपत्ति'

रामानुज शंकर के मायावाद को तर्कतः असिद्ध मानते हैं; क्योंकि माया का आश्रय न तो ब्रह्म है और न ही जीव है। ब्रह्म ज्ञान स्वरूप है और जीव अविद्या का कार्य है। इस प्रकार माया न तो ब्रह्म में रह सकती है और न जीव में। यह शंकर की कल्पनामात्र है। आचार्य शंकर माया का आश्रय वैसे ही ब्रह्म को मानते हैं; जैसे जादूगर का आश्रय होते हुए भी उससे प्रभावित नहीं होता है। माया से ब्रह्म इसलिए भी प्रभावित नहीं होता क्योंकि माया का विरोध विद्या से है चैतन्य स्वरूप से नहीं।

2.10.2 'तिरोधानानुपपत्ति'

रामानुज का मानना है कि शंकर द्वारा वर्णित माया द्वारा ब्रह्म का तिरोधान तर्कतः असिद्ध है; क्योंकि यदि माया द्वारा ब्रह्म का तिरोधान संभव माना जाय तो ब्रह्म स्वयं प्रकाश एवं सर्वशक्तिमान नहीं रह जाता है। शंकर के अनुयायियों ने रामानुज के तर्क के प्रत्युत्तर में कहा है कि माया स्वयं मिथ्या है, अतः उसके द्वारा ब्रह्म वैसे ही आवरण पड़ता है; जैसे सूर्य को मेंघ ढक लेता है; तो सूर्य वस्तुतः मेंघ से आच्छादित नहीं हो जाता; अपितु आवरण केवल हमारी दृष्टि पर पड़ जाता है।

2.10.3 'स्वरूपानुपपत्ति'

रामानुज शंकर के माया के सम्बन्ध में यह सवाल उठाया है कि यदि माया का अस्तित्व है; तो उसका स्वरूप क्या है? यदि माया भाव रूप है तो ब्रह्म अद्वैत सत्ता नहीं रह जाता तथा उसका निराकरण भी नहीं होगी। माया को भावाभावरूप मानने पर आत्मविरोध होगा। यह कहना कि माया न तो भावरूप है और न ही अभाव रूप ही है; तो ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण चिन्तन का ही परित्याग करना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में यदि माया का अस्तित्व है तो वह विचार के परे है। शंकर के अनुयायियों का मानना है कि माया भाव रूप होते हुए भी अपनी सत्ता के लिए ब्रह्म पर आश्रित है। माया को भाव रूप कहने का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि वह अभावरूप नहीं है।

2.10.4 'अनिवर्चनीयानुपपत्ति'

रामानुज की आपत्ति शंकर की माया की अनिवर्चनीयता के सम्बन्ध में भी है। माया की अनिवर्चनीयता अनुपपन्न है। माया को अनिवर्चनीय कहने पर विचार का मध्यम परिहार नियम भी बाधित होता है। शंकर के अनुयायियों का कहना है कि जो न तो सत् और न ही असत् है; तो उसे अनिवर्चनीय ही कहा जाएगा तथा माया को 'अनिवर्चनीय कहने में मध्यम परिहार विकल्प व्यापक नहीं है; क्योंकि सत् और असत् के विकल्प व्यापक नहीं है; अतः तृतीय विकल्प (अनिवर्चनीयता) सम्भव है।

2.10.5 'प्रमाणानुपपत्ति'

रामानुज के अनुसार माया के लिए कोई प्रमाण नहीं है। शास्त्र इसके केवल ब्रह्म की लीला कहते हैं। अतएव माया का प्रमाणत्व असिद्ध है। अद्वैत वेदान्त के समर्थकों का कहना है कि माया के लिए प्रमाण है। माया का ज्ञान हमें अर्थापत्ति प्रमाण से होता है। अतएव शंकर के माया का प्रमाणत्व सिद्ध नहीं है।

2.10.6 निवर्तकानुपपत्ति'

रामानुज के अनुसार यदि शंकर की माया की अवधारणा को स्वीकार भी किया जाएँ तो उसका कोई निवर्तक नहीं होगा। ब्रह्मज्ञान माया का निवर्तक है; किन्तु ब्रह्म निर्गुण निर्विशेष एवं भेदरहित होने के कारण ज्ञान की किसी पद्धति से नहीं ज्ञान जा सकता; क्योंकि ज्ञान किसी सविशेष वस्तु का ही संभव है। अतएव माया का निवर्तक अनुपपन्न है। अद्वैत वेदान्त के समर्थकों को यह कहना है कि ब्रह्म ज्ञान सम्भव है और यही माया का निवर्तक ज्ञान है। अद्वैत वेदान्त के समर्थकों का यह कहना है कि ब्रह्म ज्ञान सम्भव है और यही माया का निवर्तक है। ब्रह्म का विषयी रूप ज्ञान सम्भव है और यही माया का निवर्तक ज्ञान है।

2.10.7 'निवृत्यानुपपत्ति'

रामानुज का कहना है कि यदि शंकर की माया भावरूप है; तो तर्कतः उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती। अद्वैत वेदान्तियों का कहना है कि माया भावरूप होते हुए भी अध्यासरूप भी है। अतएव ब्रह्म के ज्ञान से उसका निराकरण सम्भव है।

इस प्रकार शंकर के माया की अवधारणा पर रामानुज के आक्षेपों और शंकर के समर्थकों के उत्तर का निष्पक्ष मूल्यांकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि शंकर की माया के सम्बन्ध में रामानुज का आक्षेप दृष्टि विशेष का परिणाम है। वास्तविकता यह है कि रामानुज शंकर की माया को उनके दृष्टि से समझने का प्रयास ही नहीं किये हैं; जिसके कारण ही वे उनके मायावाद की आलोचना करते हैं।

2.11 निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आचार्य शंकर ने ब्रह्म को ही पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म को एकमात्र सत्य सिद्ध करने के लिए ब्रह्म में माया ब्रह्म में माया शक्ति की कल्पना किया है। प्रायः सभी ईश्वरवादियों के समक्ष यह प्रमुख समस्या रही है कि यदि ईश्वर की ही अभिव्यक्ति जगत् है तो ईश्वर जगत् के दोषों से कैसे बच सकता है। यदि ईश्वर सृष्टिकर्ता है और अचेतन प्रकृति जैसी किसी अन्य वस्तु को लेकर जगत् की रचना करते हैं, तो ईश्वर के अतिरिक्त उस दूसरी वस्तु की सत्ता को भी स्वीकार करना पड़ेगा और इस प्रकार पारमार्थिक दृष्टि से ईश्वर ही एकमात्र सर्वव्यापी सत्ता नहीं रह जायेगा और इस प्रकार ईश्वर की असीमता खण्डित हो जाती है। यदि अचेतन तत्व के रूप में प्रकृति को सत्य मान लिया जाय और ईश्वर में आश्रित भी और इस संसार को उसका वास्तविक परिणाम माने तो ईश्वर का एक अंगमात्र है या सम्पूर्ण ईश्वर से अभिन्न है। यदि रामानुज की भाँति यह मान लिया जाय कि प्रकृति अचेतन तत्व के रूप में ईश्वर का अंश है तो यह आपत्ति आ जाती है कि ईश्वर भी भौतिक द्रव्यों की भाँति सावयव है और उन्हीं की तरह नश्वर है। यदि यह मान लिया जाय कि सम्पूर्ण प्रकृति ईश्वर से अभिन्न है तो यह बाधा उपस्थित होती है कि ऐसी स्थिति में प्राकृतिक विकास का अर्थ हो जाता है, ईश्वर का सम्पूर्ण जगत् के रूप में परिणत हो जाना। वैसी अवस्था में यह मानना पड़ेगा कि सृष्टि होने के उपरान्त कोई ईश्वर नहीं रहता। यदि ईश्वर में सचमुच विकार होता है तो वह विकार चाहे आंशिक हो या पूर्ण ईश्वर को किसी भी रूप में नित्य निर्विकार नहीं कहा जा सकता और ऐसा होने पर ईश्वर को वैसा कहा नहीं जा सकता, जिस रूप में उसे

माना जाता है। अतएव आचार्य शंकर मायावाद के द्वारा ब्रह्म एवं जगत् के सम्बन्ध की व्याख्या को लेकर उत्पन्न कठिनाई का समुचित समाधान करने का प्रयास किया है।

2.12 सारांश

आचार्य शंकर ने 'माया' की अवधारणा के द्वारा निर्गुण, निर्विशेष एवं निर्विकार ब्रह्म के स्थान पर प्रपंचात्मक जगत् एवं जीवों की अनेकता का प्रतिपादन किया है। यद्यपि आचार्य शंकर ने 'माया' और 'अविद्या' शब्द का प्रयोग एक ही अर्थ में किया है, किन्तु आचार्य शंकर ने परवर्ती अद्वैत वेदान्त के अनुनायियों ने 'माया' और 'अविद्या' में भेद किया है और 'माया' को भावात्मक इसलिए कहा जाता है कि क्योंकि माया के द्वारा ही ब्रह्म सम्पूर्ण विश्व की रचना करता है। माया विश्व को प्रस्थापित करती है। अविद्या माया के विपरीत ज्ञान के अभाव का संकेत करने के कारण निषेधात्मक है। माया अचेतन है और अपनी सत्ता के लिए ब्रह्म पर आश्रित है। माया अनादि है क्योंकि यह ब्रह्म की स्वाभाविक शक्ति और ब्रह्म के साथ यह अनादि काल से विद्यमान है। माया अनादि होने के साथ ही अनन्त नहीं है। माया अनिर्वचनीय अध्यासरूप, विज्ञान, निरस्या है। आवरण एवं विक्षेप माया की दो शक्तियाँ। माया आवरण शक्ति के कारण ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को ढक लेती है और विक्षेप शक्ति के कारण ब्रह्म के स्थान पर प्रपंचात्मक जगत् को प्रक्षेपित करती है। आचार्य शंकर के मायावाद का विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज खण्डन करते हैं और माया की अवधारणा को तर्कतः अनुपन्न मानते हैं। रामानुज ने शंकर की माया के खण्डन के लिए सात तर्क दिये हैं, जिसे 'सप्तानुपपत्ति' कहा जाता है। रामानुज ने जिन सप्तानुपपत्ति का उल्लेख किया है, वे आश्रयानुपपत्ति, तिरोधानानुपपत्ति, स्वरूपापत्ति, अनिर्वचनीयानुपपत्ति, प्रमाणानुपपत्ति, निवर्तकानुपपत्ति एवं निवृत्यानुपपत्ति के रूप में जानी जाती हैं। परन्तु रामानुज ईश्वर एवं जगत् की व्याख्या करने में कठिनाई का अनुभव किये हैं।

2.13 बोध प्रश्न

1. आचार्य शंकर के माया की अवधारणा का समीक्षात्मक विवेचन कीजिए।
2. आचार्य शंकर किस प्रकार अपने मायावाद की अवधारणा द्वारा ब्रह्म एवं जगत् के सम्बन्ध का निरूपण करते हैं।
3. आचार्य शंकर के अनुसार जगत् ब्रह्म की लीला है— इस कथन को माया के संदर्भ में स्पष्ट कीजिए।
4. आचार्य शंकर के अनुसार मायावाद को स्पष्ट कीजिए तथा रामानुज के द्वारा उनके मायावाद के विरुद्ध उठायी गयी आपत्तियों का विवेचना कीजिए।

2.14 सहायक पुस्तकें

1. भारतीय दर्शन – चटर्जी एवं दत्त
2. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण – डॉ. संगम लाल पाण्डेय

इकाई—3

शंकर, रामानुज के वेदान्त दर्शन में मोक्ष की अवधारणा

संरचना

- 3.0 उद्देश्य
- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त में मोक्ष की अवधारणा
- 3.3 आचार्य शंकर के अनुसार मोक्ष पारमार्थिक दृष्टि से सत् और नित्य है।
- 3.4 आचार्य शंकर के अनुसार मोक्ष न तो कर्म का फल है और न उपासना का फल है।
- 3.5 आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त में मोक्ष प्राप्ति के साधन।
- 3.6 श्रवण मनन और निदिध्यासन
- 3.7 आचार्य शंकर के अनुसार 'जीव' के मोक्ष की अवस्था
- 3.8 आचार्य शंकर के जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति की अवधारणा
- 3.9 विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज का मोक्ष विषयक विचार
- 3.10 रामानुज के अनुसार मोक्ष का साधन
- 3.11 आचार्य शंकर एवं रामानुज के मोक्ष सम्बन्धी विचार में अन्तर
- 3.12 निष्कर्ष
- 3.13 बोध प्रश्न
- 3.14 उपयोगी पुस्तकें

3.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में भारतीय दर्शन में जिन चार पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) का विवेचन किया गया है। उसमें 'मोक्ष' पुरुषार्थ को मानव जीवन के चरम लक्ष्य माना गया है। जिसका यहाँ आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त और रामानुज के विशिष्टाद्वैत के अनुसार विवेचन किया जा रहा है। प्रस्तुत इकाई में आचार्य शंकर एवं रामानुज के अनुसार मोक्ष के स्वरूप मोक्ष का मानव जीवन में महत्व तथा मनुष्य का मोक्ष के प्रति आकर्षण का निरूपण करने के साथ-साथ उसकी प्राप्ति के साधनों का भी वर्णन किया जा रहा है। सम्पूर्ण भारतीय दर्शन का उद्देश्य मनुष्य को सांसारिक कष्टों से छुटकारा दिलाना है और तब तक संभव नहीं है, जब तक वह सांसारिक जीवन के बंधनों से छुटकारा न प्राप्त करें। आचार्य शंकर एवं रामानुज ने अपने वेदान्त में अज्ञान एवं अविद्या को ही मनुष्य के दुःखों का मूल

3.1 प्रस्तावना

भारतीय दर्शन में भौतिकवादी चार्वाक को छोड़कर अन्य सभी भारतीय दर्शनों में मोक्ष को जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है। भौतिकवादी दर्शन होने के कारण चार्वाक आत्मा में अविश्वास करता है और सम्पूर्ण भौतिक जगत् में किसी भी तत्व की नित्य सत्ता नहीं मानता है। चार्वाक दर्शन में आत्मा की सत्ता को भी नित्य नहीं माना गया है तथा नित्य आत्मा में अविश्वास प्रकट किया गया है। चार्वाक दर्शन में जब आत्मा के अस्तित्व को ही अस्वीकार कर दिया गया है तो ऐसी स्थिति में 'मोक्ष' की प्राप्ति किसे होगी? अतएव आत्मा के खण्डन के साथ ही चार्वाक दर्शन में 'मोक्ष' का भी खण्डन हो जाता है। चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त जितने भी भारतीय दर्शन हैं, उसमें मोक्ष को मानव के दुःखों से निवृत्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। सभी भारतीय दर्शन यद्यपि मोक्ष के स्वरूप को लेकर भिन्न—भिन्न विचार व्यक्त करते हैं किन्तु सभी ने मोक्ष की अवस्था को दुःखों से मुक्ति की अवस्था माना है। भारतीय दर्शन में मोक्ष के स्वरूप की केवल चर्चा नहीं की गयी है अपितु मोक्ष के लिए मानव जीवन में पायी जाने वाली उत्कट अभिलाषा का भी विवेचन मिलता है। इसीलिए प्रो० मैक्समूलर भारतीय दर्शन के विषय में टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि— "भारत में दर्शन ज्ञान के लिए नहीं बल्कि सर्वोच्च लक्ष्य के लिए था, जिसके लिए मनुष्य इस जीवन में प्रयत्नशील रह सकता है।"

विभिन्न भारतीय दर्शन में मोक्ष के स्वरूप का जो निरूपण हुआ है, उसमें अद्वैत वेदान्त एवं विशिष्टाद्वैत वेदान्त के मोक्ष की अवधारणा का विशेष महत्व है क्योंकि ये दोनों ही विचारधाराएँ प्रस्थानत्रयी के आधार पर विकसित होते हुए भी 'मोक्ष' के स्वरूप को लेकर परस्पर भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत करती हैं। आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त में 'मोक्ष' का अर्थ आत्मा एवं ब्रह्म का एकत्व भाव है। अद्वैत वेदान्त में यह माना गया है कि आत्मा का यथार्थ स्वरूप ब्रह्म है, किन्तु अज्ञान से प्रभावित जीव अपने को ब्रह्म से भिन्न समझने लगता है। जीव को अपने वास्तविक स्वरूप को न समझना ही उसका अज्ञान है और यही जीव के बन्धन का कारण है। इसलिए आचार्य शंकर का यह मानना है कि मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान की प्राप्ति एवं अज्ञान के निरन्तर से ही संभव है। मोक्ष को आचार्य शंकर ने आनन्द की अवस्था कहा है, क्योंकि जब आत्मा को अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, तब वह ब्रह्म स्वरूप होकर सच्चिदानन्द के स्वरूप को प्राप्त कर लेता है और आत्मा को अखण्ड आनन्द की चरम अनुभूति होती है। आचार्य शंकर आत्मा को स्वभावतः शुद्ध चैतन्य माना है, जिसमें आत्मा निर्विकार होने के कारण मुक्त होती है। अतएव आचार्य शंकर के अनुसार मोक्ष का अर्थ किसी नयी वस्तु की प्राप्ति नहीं है अपितु प्राप्त को ही प्राप्त करना है। वस्तुतः आचार्य शंकर के अनुसार मोक्ष का अर्थ है— आत्मा का अपने यथार्थ स्वरूप से अभिज्ञ होना। रामानुज के विशिष्टाद्वैत में मोक्ष अर्थ आत्मा एवं ब्रह्म का एकत्व नहीं है, अपितु ब्रह्म से सादृश्य प्राप्त कर लेना है। यद्यपि रामानुज यह मानते हैं कि मोक्ष दुःखाभाव की अवस्था है किन्तु मोक्ष की अवस्था में आत्मा ब्रह्म या ईश्वर के स्वरूप को प्राप्त कर उसके सानिध्य का सुख सुख प्राप्त करता है। इसलिए रामानुज का यह मानना है कि ईश्वर की कृपा के बिना 'मोक्ष' असंभव है। रामानुज के अनुसार मोक्ष भक्ति के द्वारा संभव है, जो ज्ञान और कर्म से उदय होता है। भारतीय दर्शन में मोक्ष के दो रूपों का वर्णन मिलता है।— जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति। जीवन्मुक्ति में मनुष्य जीवन के रहते हुए 'मोक्ष'

को प्राप्त कर लेता है और विदेह—मुक्ति में मनुष्य मृत्यु के उपरान्त शरीर से आत्मा का छुटकारा पाने पर मोक्ष को प्राप्त करता है। जीवन्मुक्ति को 'सशरीर—मुक्ति' भी कहा जाता है, क्योंकि इस मुक्ति में आत्मा का शरीर से सम्पर्क रहता है, किन्तु विदेह—मुक्ति में आत्मा का शरीर से सम्पर्क समाप्त हो जाता है। अद्वैत वेदान्ती आचार्य शंकर ने जीवन्मुक्ति एवं विदेह—मुक्ति दोनों को ही मान्यता प्रदान की है। रामानुज के अनुसार 'मोक्ष' की प्राप्ति मृत्यु के उपरान्त ही संभव है, क्योंकि जब तक शरीर विद्यमान है, तब तक जीव मुक्त नहीं हो सकता।

3.2 आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त में मोक्ष की अवधारणा

आचार्य शंकर ने अपने अद्वैत वेदान्त में 'मोक्ष' को आत्मा या ब्रह्म के स्वरूप की अनुभूति माना है। आत्मा या ब्रह्म नित्य शुद्ध चैतन्य एवं अखण्ड आनन्द स्वरूप है। आत्मा ज्ञान स्वरूप है और मोक्ष आत्मा का स्वरूप ज्ञान है। आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म एवं मोक्ष एक ही हैं, क्योंकि मोक्ष की अवस्था आत्मा या ब्रह्म के स्वरूप से अभिन्न होना है। आचार्य शंकर कहते हैं कि जो ब्रह्म को जानता है, वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है— 'ब्रह्मवेद ब्रह्मवैद भवति'। आचार्य शंकर का यह मानना है कि ब्रह्म ज्ञान और ब्रह्म भाव एक है। आचार्य शंकर का यह स्पष्ट अभिमत है कि वस्तुतः 'जीव' ब्रह्म होता या बनता नहीं है, ब्रह्म ज्ञान में कोई क्रिया नहीं है, क्योंकि 'जीव' मूल रूप से ब्रह्म ही है। आचार्य शंकर के मोक्ष सम्बन्धी विचार का मूलाधार उनका अद्वैतवादी दृष्टिकोण है। उनका यह मानना है कि 'जीव' का जीवत्व अविद्याजन्य है। अविद्या के कारण 'जीव' देहान्द्रियान्तःकरणादि से तादात्म्य कर लेता है और अहंकार—ममकार युक्त होकर स्वयं को शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ता, सुख—दुःख रूपी कर्म फूल का भोक्ता मानकर जन्म मरण चक्र में संसरण करता है। यही 'जीव' का बन्धन है। जब आत्मज्ञान द्वारा अविद्या की निवृत्ति हो जाती है, तो 'जीव' नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त ब्रह्म भाव को प्राप्त कर लेता है। यह 'जीव' की बंधन से मुक्ति है। परन्तु ब्रह्मात्मैक्य के त्रिकाल सिद्ध और नित्य होने के कारण जीव न तो बन्धन होता है और न ही मोक्ष। वास्तविकता यह है कि केवल 'जीव' को अविद्या से ही मुक्ति मिलती है, अविद्या का ही निरसन होता है। अविद्या भ्रान्ति है, अतएव अविद्या का आवागमन उसकी प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों भ्रान्ति रूप है। बन्धन एवं 'मोक्ष' दोनों ही व्यावहारिक है, इसलिए पारमार्थिक दृष्टि से दोनों ही मिथ्या है। यही कारण है कि आचार्य शंकर ब्रह्म साक्षात्कार, अविद्या—निवृत्ति, प्रपञ्च विलय और मोक्ष प्राप्ति ये सब एक हैं। आचार्य शंकर के अनुसार अविद्या—निवृत्ति और ब्रह्मभाव या मोक्ष में कार्यान्तर नहीं है। आत्मज्ञान मोक्ष को फल या कार्य के रूप में उत्पन्न नहीं करता। 'मोक्ष' प्रतिबन्ध रूप अविद्या की निवृत्तिमात्र ही आत्मज्ञान ब्रह्म का प्रकाशक या ज्ञापक होता है, कारक नहीं क्योंकि ज्ञान क्रिया नहीं है। अतएव ज्ञान का फल अज्ञान की निवृत्ति मात्र है जो ज्ञान के प्रकाश से स्वतः हो जाती है, जैसे प्रकाश से अंधकार की निवृत्ति होती है। मोक्ष नित्य सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म या आत्मा की अपरोक्षानुभूति है। मोक्ष किसी अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति नहीं है, मोक्ष आत्मभाव है, जो सदा प्राप्त है। शंकर ने मोक्ष के तीन लक्षण बतलाये हैं।

1. 'अविद्यानिवृत्तिरेव मोक्षः अर्थात् मोक्ष अविद्या निवृत्ति है।
2. ब्रह्मभावश्च मोक्षः अर्थात् ब्रह्मभाव या ब्रह्म साक्षात्कार मोक्ष है।
3. नित्यमशरीरत्वं मोक्षः अर्थात् मोक्ष नित्य अशरीरत्व है।

आचार्य शंकर ने 'मोक्ष' में जिन तीन लक्षणों को सम्मिलित किया है, उसमें इस बात का वर्णन किया जा चुका है कि 'मोक्ष' अविद्यानिवृत्ति और ब्रह्माभाव की अवस्था है। परन्तु 'मोक्ष' का एक और लक्षण बताया गया है, जिसमें यह कहा गया है कि मोक्ष नित्य अशरीरत्व है। इस लक्षण के द्वारा आचार्य शंकर यह बताने का प्रयास किये हैं कि 'मोक्ष' स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण इन तीनों प्रकार के शरीरों के सम्बन्ध से अत्यन्त रहित नित्य आत्म स्वरूप का अनुभव है। यहाँ आचार्य शंकर के द्वारा 'अशरीर' का अर्थ शरीर रहित होना नहीं है अपितु शरीर सम्बन्ध रहित होना है। यही कारण है कि आचार्य शंकर 'जीवन्मुक्ति' का साग्रह प्रतिपादन करते हैं।

3.3 आचार्य शंकर के अनुसार मोक्ष पारमार्थिक दृष्टि से सत् एवं नित्य है

आचार्य शंकर के अनुसार मोक्ष परमार्थतः सत् है, कूटस्थ नित्य है आकाश के समान सर्वव्यापी है, सब प्रकार के विकार से रहित है, नित्य वृत्त है, निरवयव है, स्वयं ज्योति स्वभाव है यह धर्म और अधर्म नामक कर्मों से तथा (सुख—दुःख रूपी) उनके कार्यों से मोक्ष का स्वरूप अवर्णनीय है और कालत्रयातीत है। यह मोक्ष की अशरीरत्व अवस्था है। आचार्य शंकर का यह मानना है कि मोक्ष पारमार्थिक दृष्टि से सत् है, क्योंकि 'बन्धन' और 'मोक्ष' अविद्याकृत होने के कारण सापेक्ष और मिथ्या हैं, किन्तु परब्रह्म या परमात्मातत्त्व के रूप में मोक्ष पारमार्थिक सत् है। वास्तविकता यह है कि आचार्य शंकर को बन्धन सापेक्ष मोक्ष अभिप्रेत नहीं है। आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म ही 'मोक्ष' अर्थात् नित्य मुक्त परमार्थ है। यह कूटस्थ नित्य है क्योंकि इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन, परिणाम या विकार संभव नहीं है। मोक्ष आप्तकाम और नित्य अखण्ड आनन्द की अवस्था है। यह ज्ञाता ज्ञेय—ज्ञान की त्रिपुटी से परे की अवस्था है। मोक्ष का ज्ञान और आनन्द स्वसंवेद्य नहीं है, अपितु यह स्वयं शुद्ध चैतन्य और आनन्द है। यह अद्वैत, निरवय और अखण्ड है। यह स्वयंज्योति, स्वप्रकाश एवं स्वयंसिद्ध है। यह त्रिकालातीत होने के कारण अविद्या कर्म (धर्म और अधर्म) फल (सुख तथा दुःख) और शरीरेन्द्रियविषयादि से सर्वथा अस्पृष्ट है। यह लौकिक सुख—दुःख से अतीत है। यह अशरीर आत्मा है। आत्मा और शरीर का सम्बन्ध अविद्याजन्य है। यह शरीराध्यास के कारण है, मिथ्याज्ञाननिमित्त है। अतः अविद्या निवृत्ति होने पर शरीराध्यास भी निवृत्त हो जाता है तथा शरीर के रहने पर भी अशरीर सम्बन्ध की अत्यन्तिक निवृत्ति के कारण अशरीरत्व सिद्ध होता है एवं जीवन्मुक्ति सिद्ध होती है। इसीलिए मोक्ष को स्वातंत्र्य, स्वराज्य, अभयपद तथा परम पुरुषार्थ कहा जाता है।

3.4 आचार्य शंकर के अनुसार 'मोक्ष' न तो कर्म का फल है और न ही उपासना का फल है

आचार्य शंकर यह मानना है कि यदि 'मोक्ष' को कार्य या फल के रूप में स्वीकार किया जाए तो यह निश्चित रूप से अनित्य होगा। इसलिए आचार्य शंकर मोक्ष को नित्य आनन्द मानते हैं और इसे लौकिक तथा पारलौकिक सुखों से भिन्न तथा अत्यन्त उत्कृष्ट मानते हैं। आचार्य शंकर का यह मानना है कि लौकिक एवं स्वर्गिक सुख कर्मजन्य हैं, वे सत्कर्म या धर्म की पुण्य नामक शक्ति से उत्पन्न होते हैं तथा पुण्य के समाप्त हो जाने पर वे सुख भी समाप्त हो जाते हैं। आचार्य शंकर का यह कहना है कि स्वर्गिक सुख भले ही चिरस्थायी हों किन्तु वे विनाशशील और अनित्य हैं यदि मोक्ष को कर्म या उपासना द्वारा उत्पन्न माना जाये तो वह

निश्चित ही नश्वर और अनित्य होगा भले ही उसे लौकिक या स्वर्गिक सुखों से अधिक चिरस्थायी और श्रेष्ठ माना जाय। पुनश्च मोक्ष को ब्रह्मज्ञान द्वारा उत्पन्न फल भी नहीं स्वीकार किया जा सकता। प्रथम कार्य होने से 'मोक्ष' अनित्य होगा और द्वितीय ज्ञान प्रकाशक होता है, कारक नहीं। ब्रह्मज्ञान केवल मोक्ष प्रतिबन्धभूत अविद्या को निवृत्त करता है, मोक्ष को उत्पन्न नहीं करता। वास्तविकता यह है कि ब्रह्मज्ञान, अविद्या-निवृत्त और मोक्ष एक ही है और एक साथ होते हैं एवं उनमें कार्यान्तर नहीं होता है। आचार्य शंकर का यह कहना है कि उपासना या ध्यान के समान शुद्ध ज्ञान मानसी क्रिया नहीं है। यह अपरोक्षानुभूति है, क्योंकि अद्वैता वेदान्त स्वप्रकाश ब्रह्म को अविषय बताते हुए अविद्या कल्पित वेदक वेद्य-वेदना की त्रिपुटी से परे स्वानुभूतिगम्य बताता है। आत्म ज्ञान का फल मोक्ष प्रतिबन्धभूत अविद्या की निवृत्तिमात्र है।

3.5 आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त में मोक्ष प्राप्ति के साधन

आचार्य शंकर ने 'मोक्ष' के स्वरूप का विवेचन करने के साथ-साथ मोक्ष की प्राप्ति के लिए मुमुक्षु को किस प्रकार का आचरण करना होगा, इस प्रश्न पर भी विचार किया है। आचार्य शंकर का यह मानना है कि यद्यपि ज्ञान के द्वारा अनादि अविद्या से आबद्ध जीव को अविद्याजन्य संस्कारों से मुक्त होने में सहायता मिलती है किन्तु यदि साधना से चित्त निर्मल न किया जाए तो केवल वेदान्त में बताये गये सत्य मात्र से 'मोक्ष' की प्राप्ति संभव नहीं हो सकती है तथा सम्पूर्ण वेदान्त की शिक्षा ही निष्फल हो सकती है। इसलिए आचार्य शंकर का कहना है कि वेदान्त अधिकारी हुए बिना कोई भी मनुष्य आत्म साक्षात्कार नहीं कर सकता। आचार्य शंकर वेदान्त अधिकारी होने के लिए मनुष्य के द्वारा साधन-चतुष्टय को अपने जीवन में अपनाने की आवश्यकता पर बल दिया है। वेदान्त को ज्ञान के इन चार साधनों को अपनाने के पश्चात् आत्मसाक्षात्कार हो सकता है। आचार्य शंकर ने जिन 'साधन-चतुष्टय' का उल्लेख किया है, वे इस प्रकार हैं—

- (i) 'नित्यानित्य-वस्तुविवेक' के द्वारा आचार्य शंकर यह स्पष्ट करते हैं की साधक को पहले नित्य (आत्मा) और अनित्य (नश्वर सांसारिक वस्तुओं के भेद) पदार्थों की विवेचना करनी चाहिए और उनके बीच के भेद को समझना चाहिए।
- (ii) 'इहामुत्रार्थ फलभोग-विराग' के द्वारा आचार्य शंकर का स्पष्ट करते हैं कि साधक को लौकिक एवं परालौकिक सफल भागों की कामना का परित्याग करके अपने कर्मों का सम्पादन करना चाहिए।
- (iii) 'शमदमादिषट्सम्पत्ति' के द्वारा आचार्य शंकर यह स्पष्ट करते हैं कि ज्ञान प्राप्ति के लिए साधक को 'शम' अर्थात् मानसिक संयम 'दम' अर्थात् इन्द्रिय-निग्रह 'श्रद्धा' अर्थात् वेदों एवं गुरुओं के प्रति अटूट निष्ठा समाधान अर्थात् चित्त को ज्ञान के साधनों में लगाना उपरित अर्थात् मनोवृत्तियों का बहिर्मुखी न होना तथा दुष्ट कर्मों से सदा दूर रहना। दूसरे शब्दों में विक्षोपकारी कार्यों से विरत होने को उपरति कहते हैं। 'तितिक्षा' अर्थात् सर्दी एवं गर्मी को सहन करने का अभ्यास करना चाहिए।
- (iv) 'मुमुक्षुत्व' अर्थात् साधक को 'मोक्ष' प्राप्ति के लिए दृढ़ संकल्प होना चाहिए।

- (v) आचार्य शंकर का यह मानना है कि उपर्युक्त चार साधनों से युक्त होने पर ही कोई भी साधक वेदान्त का अधिकारी बनता है।

3.6 श्रवण—मनन और निदिध्यासन

आचार्य शंकर का यह मानना है कि 'साधन—चतुष्टय' के द्वारा वह इन्द्रिय, मन तथा वासनाओं पर विजय प्राप्त कर लेने वाले वेदान्त के साधक को यह चाहिए की वह ऐसे गुरु से शिक्षा ग्रहण करें जो स्वयं साधन चतुष्टय को साधित कर चुका हों अतएव शंकराचार्य का कहना है कि मोक्ष की इच्छा रखने वाले साधक (मुमुक्षत्व) के लिए यह आवश्यक है कि वह श्रवण—मनन और निदिध्यासन के द्वारा ब्रह्मभाव के साक्षात्कार के लिए प्रयत्न करें। आचार्य शंकर के अनुसार श्रवण का अर्थ है गुरु के उपदेश को श्रद्धापूर्वक सुनना। 'मनन' का अर्थ है—गुरु के उपदेशों पर युक्तिपूर्वक विचार करना और 'निदिध्यासन' का अर्थ है, गुरु उपदृष्ट सत्य पर निरन्तर ध्यान करना। इस प्रकार आचार्य शंकर का यह मानना है कि श्रवण मनन एवं निदिध्यासन के द्वारा वेदान्त के अधिकारी साधक में ब्रह्मज्ञान की स्थिति पैदा होती है उसके सारे अज्ञान का क्षय हो जाता है और वह 'अहंब्रह्मि' के बोध से युक्त हो जाता है। यह स्थिति ब्रह्म एवं आत्मा के पूर्ण तादात्म्य की स्थिति होती है।

3.7 आचार्य शंकर के अनुसार जीव के मोक्ष की अवस्था

आचार्य शंकर का यह मानना है कि पूर्व के संचित संस्कार इतने प्रबल होते हैं कि मोक्ष की प्राप्ति के पश्चात् भी वेदान्त के अधिकारी साधक को ब्रह्मविद्या के अनुशीलन तथा तदनुकूल आचरण के अभ्यास से ही क्रमशः उन संस्कारों का भी क्षय हो जाता है जो आत्मा और ब्रह्म के अभेद की अवस्था का सदा अपरोक्षानुभूति कराते हैं। यह अवस्था मुमुक्ष के 'तत्वमसि' के रूप में गुरु से प्राप्त उपदेश का एकाग्र चित्त से सत्य की अनुभूति की अवस्था होती है और अन्ततः मुमुक्ष आत्म साक्षात्कार करके 'अहं ब्रह्मास्मि' (अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ) की चेतना से युक्त हो जाता है। इस अवस्था में जीव और ब्रह्म का मिथ्या भेद पूर्णतया समाप्त हो जाता है और उसे सांसारिक बन्धनों से भी पूर्णतया मुक्ति मिल जाती है तथा 'मोक्ष' का साक्षात् अनुभव होता है।

3.8 आचार्य शंकर की जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति की अवधारणा

आचार्य शंकर मोक्ष के दो रूपों में स्वीकार करते हैं जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति। आचार्य शंकर का यह मानना है कि मोक्ष के बाद भी शरीर रह सकता है, क्योंकि यह प्रारब्ध कर्मों का फल है किन्तु 'मोक्ष' को प्राप्त मुक्तात्मा कभी उसके सामने रहता है, किन्तु वह उससे टगा नहीं जाता। सांसारिक विषयों के हेतु से उसे तृष्णा नहीं होती। अतएव उसे किसी प्रकार का दुःख नहीं होता है। वह संसार में रहते हुए भी उससे निर्लिप्त रहता है। शंकर यह विचार परवर्ती वेदान्त साहित्य में 'जीवन्मुक्ति' के नाम से विख्यात है। जीवन्मुक्ति का अर्थ है जीवन रहते हुए मुक्ति पा जाना। इस प्रकार आचार्य शंकर का यह दिखलाते हैं कि जब मुक्तात्मा को तत्वज्ञान होने पर उसके संचित कर्म का क्षय तथा क्रियमाण कर्म का निवारण हो जाता है तो वह पुर्नजन्म से छुटकारा पा जाती है किन्तु प्रारब्ध कर्म का

निवारण नहीं हो पाता है। उसका प्रारब्ध भोग करने के लिए यह शरीर (जो प्रारब्ध का फल है) रह जाता है और जब प्रारब्ध की शक्ति समाप्त हो जाती है, तब उसका भी अन्त हो जाता है। आचार्य शंकर का यह मानना है कि जब स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर का अन्त हो जाता है तो मोक्ष की अवस्था होती है, उसे विदेह मुक्ति कहते हैं। इस प्रकार आचार्य शंकर का यह स्पष्ट अभिमत है कि आध्यात्मिक साधना के फलस्वरूप जब मनुष्य संसार में रहते हुए इसी जीवन में ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके समस्त सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाता है तो इस मुक्तावस्था को शंकर के परवर्ती अद्वैतवेदान्ती 'जीवन्मुक्ति' की संज्ञा देते हैं। इस अवस्था में मनुष्य सांसारिक कर्म करते हुए उसमें आसक्त न होने के कारण उनके प्रभाव से पूर्णतया मुक्त हो जाता है। जीवन्मुक्ति मनुष्य अपने समस्त कर्मों को लोक संग्रह या लोककल्याण के लिए करता है। परन्तु जीवन्मुक्ति को शंकर मोक्ष का प्रथम सोपान मानते हैं उसकी अन्तिम अवस्था नहीं। वस्तुतः शंकर के अनुसार मोक्ष की अन्तिम अवस्था 'विदेह-मुक्ति' है। इस विदेह मुक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि – संचित, प्रारब्ध एवं संचयीमान, इन सभी प्रकार के कर्मों और स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर का अन्त हो जाने पर जब मुक्तात्मा जन्म-मरण के सांसारिक चक्र से मुक्त होकर सच्चिदानन्द अविनाशी ब्रह्म के एकाकार हो जाता है, तो इस अवस्था को विदेहमुक्ति कहा जाता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि शंकर की मोक्ष विषयक अवधारणा कहाँ तक प्रासंगिक है? इस प्रश्न के उत्तर में कुछ आलोचकों का यह कहना है कि यद्यपि शंकर के द्वारा मुक्तावस्था को विशुद्ध चैतन्यस्वरूप तथा अखण्ड आनन्द से परिपूर्ण अवस्था मानना बड़ा ही आकर्षक लगता है, किन्तु मोक्ष की अवस्था में आत्मा का ब्रह्म से एकाकार हो जाना उचित नहीं प्रतीत होता है। आचार्य शंकर ने मोक्ष के स्वरूप को जिस रूप में निरूपित किया है उसमें आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व का ही लोप हो जाता है। ऐसी मुक्तावस्था मृत्यु से भिन्न नहीं होगी। अतएव कोई भी व्यक्ति इस प्रकार के मोक्ष को अपने जीवन का आदर्श नहीं बन सकता। परन्तु वास्तुविकता यह है कि इस प्रकार का आक्षेप वे ही लोग मानते हैं जो आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व के समर्थक हैं। शंकर आत्मा को ब्रह्म से भिन्न नहीं मानते हैं। उनका उद्देश्य ही रहा है। कि जीव को जन्म मरण के चक्र से मुक्ति दिलायी जाए। यह मुक्ति बिना जन्म-मरण के प्रवाह के रुके संभव नहीं है। यही कारण है कि शंकर के मोक्ष की अवधारणा भारतीय मनीषियों के लिए आकर्षण का विषय रही है और रहेगी।

3.9 विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज का मोक्ष विषयक विचार

शंकर की ही शांति विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज भी 'मोक्ष' को मानव जीवन का परमलक्ष्य मानते हैं। रामानुज भी यह स्वीकार करते हैं कि अविद्या ही आत्मा या जीव के समस्त बन्धनों एवं दुःखों का मूल कारण है। इसी अविद्या के कारण जीव में अहंकार उत्पन्न होता है; जो उसे जन्म मरण के सांसारिक चक्र में आबद्ध कर देता है। सभी प्रकार के कर्मों तथा अविद्या के विनाश के द्वारा ही जन्म मरण के इस चक्र और समस्त सांसारिक बन्धनों तथा दुःखों से मुक्ति संभव है।

रामानुज के अनुसार बन्धन से छुटकारा पाने का नाम ही मोक्ष है। मोक्ष अप्राप्त की प्राप्ति है। रामानुज के अनुसार मोक्ष प्राप्त होने पर मुक्तात्मा ईश्वर के स्वरूप को प्राप्त करता है; यद्यपि वह उसकी तद्रूपता को नहीं प्राप्त करता है। मुक्तात्मा ब्रह्मभाव को तो प्राप्त होता है; किन्तु उसका पृथक् व्यक्तित्व बना रहता है। उसका व्यक्तित्व ब्रह्म में विलीन नहीं होता। रामानुज के अनुसार मुक्ति का

अर्थ जीवात्मा का शुद्ध निर्मल ज्ञान से युक्त होना तथा दोषरहित होकर ब्रह्म सदृश होना है। जीव मोक्ष की अवस्था में ब्रह्म सायुज्य लाभ करता है; सारूप्य लाभ नहीं जैसा कि अद्वैत वेदान्त में स्वीकार किया गया है।

रामानुज का यह मानना है कि मुक्ति वर्तमान देहपात के अनन्तर ही संभव है। यही कारण है कि रामानुज वेदान्त के सद्वन्मुक्ति को अस्वीकार कर देते हैं और क्रम मुक्ति को मानते हैं। उनका कहना है कि मरने के बाद पुण्यात्मा जीव देवयान मार्ग से ब्रह्म लोक को प्रयाण करता है और वहाँ वह बैकुण्ठ धाम में प्रवेश करता है और भगवान की नित्य लीला में भागीदार होकर ज्ञान तथा आनन्द प्राप्त करता है।

रामानुज का यह भी मानना है कि मुक्ति सभी कर्मों के क्षीण हो जाने पर तथा भौतिक शरीर के पात के अनन्तर ही संभव है। यह विदेह मुक्ति की अवस्था है। रामानुज के अनुसार विदेह मुक्ति में भी जीव यद्यपि दोष युक्त प्राकृतिक शरीर से मुक्त हो जाता है; वह एक निर्दोष शरीर को धारण करता है जो शुद्ध सत्व से निर्मित है।

रामानुज मुक्तात्माओं को दो वर्ग रखते हैं नित्य मुक्त एवं मुक्त। नित्य आत्माएं वे आत्माएं हैं जो कभी बन्धन में नहीं आती। मुक्तात्मा वे हैं जो कभी बन्धन में थे; किन्तु अब उनका बन्धन समाप्त हो चुका है। इसमें मुक्तात्मा को स्वराट् कहा जाता है।

परन्तु रामानुज के सम्मुख भी यह प्रमुख समस्या थी कि जीव को बन्धन में डालने वाली अविद्या का नाश कैसे हो? रामानुज अविद्या का विनाश के लिए 'भक्ति' को मोक्ष का प्रमुख साधन बतलाते हैं। रामानुज का मानना है कि शंकर का ज्ञानमार्ग जन सामान्य के लिए बड़ा ही दुर्बोध है। ऐसी स्थिति में भक्ति मार्ग एक ऐसा मार्ग है; जिसके द्वारा जनसामान्य भी इस भवसागर से त्राण पा सकते हैं। रामानुज का मानना है कि भक्ति के अंग रूप में कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं ध्यानयोग हैं। कर्मयोग से सत्वशुद्धि होती है। सत्वशुद्धि से ज्ञानयोग होता है और ज्ञानयोग के बाद भक्ति का उदय होता है। भक्ति ईश्वर के प्रति अनुरक्ति है। वह साधनसप्तक से लभ्य है। ये साधन हैं— विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद, तथा अनुद्धर्ष। कार्यशुद्धि विवके है। काम—क्रोधादि से मुक्त होना विमोक है। अन्तर्यामी का सतत् ध्यान करना अभ्यास है। कर्त्यव्य पालन करना क्रिया है। सत्य, दान और अहिंसा का पालन करना कल्याण है। दुःख से रहित होना 'अनवसाद' है। असन्तोष एवं अतिसन्तोष के मध्य की वृत्ति रखना अनुद्धर्ष है। इन साधनों से सम्पन्न जीव भगवान का नित्य ध्यान करता है और ईश्वर के कृपा का पात्र होता है।

3.10 रामानुज के अनुसार मोक्ष का साधन

रामानुज का मानना है कि मुक्ति ईश्वर की कृपा से संभव है। अतएव जीव ईश्वर के प्रति पूर्ण प्रेममय आत्म सम्पूर्ण के द्वारा उनकी कृपा का पात्र हो सकता है। आराध्य ईश्वर के प्रति इसी पूर्ण शरणागति स्थिति के 'प्रपत्ति' की संज्ञा दी जाती है। प्रपत्ति के छः अंग हैं— (1) 'अनुकूल्य संकल्प' ईश्वरेच्छा का पालन है। (2) 'प्रतिकूल्य वर्जन' ईश्वर को जो अप्रिय है; उसका त्याग है। (3) भगवान के अनुग्रह में अटूट विश्वास रखना 'महाविश्वास' है। (4) कार्यण्य का अर्थ है— ज्ञान, कर्म एवं भक्ति करने की असमर्थता का भावोदय। (5) 'गोप्तत्व'—वरण' भगवान को पाना या तारक के रूप में वरण करना तथा (6) 'आत्ममिक्षेप' का अर्थ है भगवान के प्रति आत्मसमर्पण।

परन्तु रामानुज का मानना है कि भक्ति का यह रूप निष्काम होना चाहिए। निष्काम भक्ति एवं प्रपत्ति द्वारा प्रसन्न होकर ईश्वर जीव के समस्त क्लेशों एवं बन्धनों का नाश करता है तथा ईश्वर की कृपा के फलस्वरूप उसे मोक्ष प्राप्त होता है। यही कारण है कि रामानुज कहते हैं कि ईश्वर की भक्ति के लिए 'दास्यभाव' अनिवार्य है अर्थात् भक्त को अपने को ईश्वर का दास मानकर ही उसकी भक्ति को करना चाहिए।

3.11 आचार्य शंकर एवं रामानुज के मोक्ष सम्बन्धी विचार में अन्तर

'मोक्ष' के स्वरूप को लेकर शंकर एवं रामानुज परस्पर भिन्न-भिन्न विचारों का प्रतिपादन करते हैं। शंकर का यह मानना है कि 'मोक्ष' की प्राप्ति में ब्रह्म के साथ मुक्तात्मा का पूर्ण तादात्म्य या पूर्ण अभेद हो जाता है किन्तु शंकर के मत को रामानुज अस्वीकार करते हुए कहते हैं कि – "मोक्ष प्राप्ति के बाद जीव ईश्वर के स्वरूप एवं गुणों को प्राप्त करके उसके समान हो जाता है, परन्तु उसका ईश्वर या ब्रह्म के साथ तादात्म्य नहीं होता। वह ईश्वर के गुणों से युक्त होकर उसके सदृश हो जाता है। आचार्य शंकर विदेह-मुक्ति और जीवन्मुक्ति दोनों को ही अपने दर्शन में मान्यता प्रदान करते हैं। तथा जीवन्मुक्ति को मोक्ष का प्रथम सोपान मानते हैं, जबकि रामानुज अपने विशिष्टाद्वैतवाद में 'विदेह-मुक्ति' को ही मान्यता प्रदान करते हैं। रामानुज एवं उनके समर्थक वैष्णव दार्शनिकों का यह मानना है कि मोक्ष प्राप्ति के फलस्वरूप जीव के समस्त बन्धनों एवं क्लेशों का आत्यान्तिक क्षय हो जाता है और वह सदैव ईश्वर के सान्निध्य का महान आनन्द प्राप्त करता है। इसे ही वैष्णव दर्शन में 'सांयुज्य-मुक्ति' कहा जाता है।

परन्तु रामानुज के विशिष्टाद्वैत में भी वर्णित मोक्ष में मृत्यु अनिवार्य है। मोक्ष विषयक यह संकल्पना मनुष्य को उसके वर्तमान जीवन में दुःख से निवृत्ति का कोई आश्वासन नहीं देती है। ऐसी स्थिति में मोक्ष की यह संकल्पना भी मानव जीवन का उच्चतम आदर्श नहीं बन सकती। परन्तु इस प्रकार का आक्षेप लगाने वाले वही लोग हैं जिन्होंने जीवन की गहराईयों में उतर कर नहीं झाँका है। वास्तविकता यह है कि समकाल में भारत में ही नहीं अपितु पाश्चात्य जनमानस में भी मानवीय जीवन क्लेशों से त्राण का एक मात्र मार्ग आध्यात्मिक तृप्ति में ही दिखलायी पड़ रहा है। ऐसी स्थिति में कोई भी ऐसा तत्त्वज्ञानी नहीं होगा जो जन्म मरण के अत्यन्त दुःखदायी प्रवाह से मुक्ति नहीं प्राप्त करना चाहेगा।

आचार्य शंकर सद्यःमुक्ति का प्रतिपादन करते हैं और क्रममुक्ति को अस्वीकार करते हैं। आचार्य शंकर का मानना है कि ज्ञान होते ही मुक्ति 'सद्यःमुक्ति' है। सद्यःमुक्ति के विपरीत क्रममुक्ति शनैः-शनैः प्राप्त होती है। आचार्य शंकर के विपरीत रामानुज क्रममुक्ति में विष्वास करते हैं। 'क्रममुक्ति' में जीव देवयान मार्ग से ब्रह्म तक पहुँचने में अनेक आर्य स्थान से गुजरता है और तब वह अन्तिम सोपान तक पहुँचता है। क्रममुक्ति केवल प्रलयपर्यन्त तक रहती है। यह सापेक्षिक मुक्ति है। वास्तव में यह यथार्थ मुक्ति नहीं है, बल्कि एक प्रकार से मुक्ति तक पहुँचने का एक लम्बा पड़ाव है। वास्तविक मुक्ति 'सद्यःमुक्ति' है जो ज्ञानोदय के साथ हो जाती है। सद्यःमुक्ति प्राप्त जीवात्मा पुनः भवचक्र में नहीं पड़ता है।

3.12 निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आचार्य शंकर अद्वैत वेदान्त एवं रामानुज के विशिष्टाद्वैत वेदान्त में मानव जीवन के चरम लक्ष्य के रूप में 'मोक्ष' को मान्यता प्रदान किया गया है। आचार्य शंकर एवं रामानुज दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि सांसारिक विषय परस्पर विरोधी और अनित्य होने के कारण चरम सत्य और परमार्थ नहीं समझे जा सकते हैं। उनका वास्तविक तत्व वह परमार्थ है जिसके अनुरूप हमें अपने जीवन को बनाना है। वेदान्त जिस नैतिक और आध्यात्मिक साधनों को मानव जीवन में अपनाने को बल देता है, उसका लक्षण है— आत्मदर्शन या ब्रह्म साक्षात्कार अर्थात् सब विषयों में ब्रह्म की सत्ता को देखना। सभी जीव एक हैं, सभी भूतों में एक ही आत्मा या सत्ता है, अद्वैत वेदान्त के ये आदर्श मानव जीवन के लिए एकता का संदेश देते हैं तथा उसे सद्गुणों के विकास के लिए सदैव प्रेरित करते हैं। वास्तविकता यह है कि यद्यपि शंकर एवं रामानुज के वेदान्त में मोक्ष के स्वरूप और उसकी प्राप्ति के साधनों को लेकर मतभेद है, किन्तु दोनों ही इस बात को लेकर एकमत हैं कि मोक्ष की अवस्था में जीवन—मरण का वह प्रवाह रुक जाता है, जो जीव को प्रपंचात्मक जगत् में लिप्त रखता है तथा उसे बन्धनग्रस्त बनाता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि मोक्षावस्था एक ऐसी अवस्था है, जिसमें जीव अखण्ड आनन्द का लाभ उठाता है, मनुष्य के लिए मूल्यवान् आदर्श है तथा स्वागत योग्य है।

3.13 बोध प्रश्न

1. आचार्य शंकर के मोक्ष विषयक अवधारणा का विवेचन कीजिए।
2. आचार्य रामानुज के मोक्ष विषयक अवधारणा का विवेचन कीजिए।
3. आचार्य शंकर एवं रामानुज के मोक्ष विषयक अवधारणा का तुलनात्मक विवेचन कीजिए।
4. आचार्य शंकर एवं रामानुज के अनुसार मोक्ष के स्वरूप तथा उसके प्राप्ति के साधनों का विवेचन कीजिए।

3.14 उपयोगी पुस्तकें

1. भारतीय दर्शन – चटर्जी एवं दत्त
2. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण – डॉ. संगम लाल पाण्डेय

इकाई-4

क्या शंकर को प्रच्छन्न बुद्ध कहना उचित है

संरचना

- 4.0. उद्देश्य
- 4.1. प्रस्तावना
- 4.2. शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहने वाले मीमांसक शालिकनाथ का मत
- 4.3. शंकराचार्य के प्रच्छन्न बौद्ध के पक्ष में भेदाभेदवादी भास्कर का मत
- 4.4. शंकराचार्य के प्रच्छन्न बौद्ध के पक्ष में नैयायिक और ईश्वरवादी उदयनाचार्य का मत
- 4.5. शंकराचार्य के प्रच्छन्न बौद्ध के पक्ष में वैष्णव आचार्य रामानुज का मत
- 4.6. शंकराचार्य के प्रच्छन्न बुद्ध के पक्ष में पद्मपुराण का मत
- 4.7. शंकराचार्य के प्रच्छन्न बौद्ध के पक्ष में मध्वाचार्य का मत
- 4.8. शंकराचार्य के प्रच्छन्न बौद्ध के पक्ष में केशव काश्मीरी का मत
- 4.9. शंकराचार्य के प्रच्छन्न बौद्ध के पक्ष में वल्लभाचार्य का मत
- 4.10. शंकराचार्य के प्रच्छन्न बौद्ध के पक्ष में विज्ञानभिक्षु का मत
- 4.11. शंकराचार्य के प्रच्छन्न बौद्ध के विपक्ष में पद्मपाद का मत
- 4.12. नवीं शती, में वाचस्पति मिश्र
- 4.13. दसवीं शती में सर्वज्ञात्म मुनि
- 4.14. ग्यारहवीं शती में आनन्दबोध
- 4.15. बारहवीं शती में श्री हर्ष
- 4.16. तेरहवीं शती में प्रकाशात्मा
- 4.17. चौदहवीं शती में विद्यारण्य
- 4.18. सोलहवीं शती में अप्पयदीक्षित
- 4.19. उन्नीसवीं शती में निश्चलदास
- 4.20. शंकराचार्य प्रच्छन्न बौद्ध है या नहीं
- 4.21. बौद्धों में कुछ सिद्धांत को मान्यता
- 4.22. निष्कर्ष

4.0. उद्देश्य

शंकराचार्य को कुछ लोगों ने प्रच्छन्न बौद्ध कहा है। शंकराचार्य पर इस प्रकार आरोप लगाने वाले न तो अद्वैत वेदान्त के समर्थक हैं और न ही बौद्ध मत के समर्थक हैं जब स्वयं बौद्ध ऐसा कुछ नहीं कहते और वे अपने दर्शन को अद्वैतवाद से भिन्न करते हैं तथा अद्वैतवादी शंकराचार्य अपने दर्शन को बौद्ध दर्शन से पृथक करते हैं, तो स्पष्ट है कि शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहने में कुछ लोगों का निहित स्वार्थ अवश्य हो सकता है। प्रस्तुत इकाई में इसी बात का आकलन करने का प्रयास किया जाएगा, कि शंकराचार्य एवं बौद्ध दर्शन में क्या-क्या समानताएँ और विषमताएँ हैं और इन समानताओं एवं विषमताओं को देखते हुए उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध कहना कहाँ तक उचित है?

4.1. प्रस्तावना

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त एवं बौद्ध दर्शन में विद्यमान समता को देखते हुए कुछ लोगों ने स्पष्ट शब्दों में शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त को बौद्ध दर्शन के 'महायान' से ग्रहण की गयी विचारधारा माना है। इन लोगों ने शंकराचार्य के 'मायावाद' को भी बौद्ध दर्शन के 'महायान' से ग्रहण करके विकसित की गयी विचारधारा माना है। बौद्ध दर्शन के 'महायान' में जिस प्रकार बाह्य जगत् में सब कुछ अनित्य एवं असत् माना गया है, उसी प्रकार शंकराचार्य ने भी अपने अद्वैत-वेदान्त में ब्रह्म को ही एकमात्र सत् माना है और जीव, जगत् तथा अन्य को मिथ्या माना है। शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहने वाले यह मानते हैं कि अद्वैत वेदान्त के अद्वैत तथा बौद्ध दर्शन के शून्यवाद में वर्णन शैली में चाहे जो अन्तर है, किन्तु मूल तत्व का स्वरूप दोनों में समान है। माध्यमिकों का अनिर्वचनीय शून्य तत्व अद्वैत वेदान्तियों के अद्वैत तत्व से पर्याप्त समरूपता रखता है। वास्तविकता यह है कि बौद्ध दर्शन के शून्यवाद और शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में इतना अधिक साम्य है कि विद्वानों को भी चकित रह जाना पड़ता है। शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहे जाने के पक्ष एवं विपक्ष में तर्क देने वाले अनेक विचारक हैं और उनके द्वारा दिये गये तर्कों के आधार पर यह देखने का प्रयास किया जाएगा कि शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहा जाना कहाँ तक उचित है?

4.2. शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहने वाले मीमांसक शालिकनाथ का मत

सर्वप्रथम आठवीं शती के मीमांसक शालिकनाथ जो प्रभाकर के अनुयायी थे, अपनी 'प्रकरण-पञ्जिका' में कहते हैं कि महायानिकपक्ष के प्रवेश में महायानियों का मोह है। प्रभाकर कहते थे कि विधि-निषेध और उसके अंग के अतिरिक्त कोई वस्तुवादी वेदभाग नहीं है। इस मत की आलोचना करते हुए शंकराचार्य ने यह सिद्ध किया कि वेद का तात्पर्य केवल ब्रह्मवाद है, न कि कर्मकाण्ड और उसका विधान करना।

4.3. शंकराचार्य के प्रच्छन्न बौद्ध के पक्ष में भेदाभेदवादी भास्कर का मत

नवीं शती में भेदाभेदवाद को मानने वाले भास्कर ने 'शारीरकभाष्य' के कुछ मतों का खण्डन करने के लिए ब्रह्मसूत्र पर एक भाष्य लिखा। उन्होंने कहा कि शंकर का मायावाद महायान बौद्ध दर्शन से लिया गया है। इसीलिए शंकर बौद्ध मतावलम्बी हैं। शंकराचार्य ने अपने पूर्ववर्ती भेदाभेदवादी भर्तृप्रपंच की आलोचना की थी और उनके विरोध में ब्रह्म के अभेद का प्रतिपादन किया था। भास्कर भर्तृप्रपंच की परम्परा में ब्रह्म के अतिरिक्त प्रकृति को भी मानते हैं। उन्होंने कहा कि शंकर ने श्रुति के अर्थ और ब्रह्मसूत्रकार वादरायण के अर्थ को पीछे रखकर, अपनी बुद्धि से मायावाद की कल्पना करके एक दूसरा ही दर्शनशास्त्र दिया है। इसी शती में मीमांसक पार्थसारथि मिश्र, जो कुमारिल भट्ट की मीमांसा के अनुयायी थे, अपनी 'शास्त्रदीपिका' में कहते हैं कि महायानिकवाद मायावाद से श्रेष्ठ है।

4.4. शंकराचार्य के प्रच्छन्न बौद्ध के पक्ष में नैयायिक और ईश्वरवादी उदयनाचार्य का मत

दसवीं शती के नैयायिक और ईश्वरवादी उदयनाचार्य ने कहा है कि – मायावादियों के ब्रह्म और शून्यवादियों के शून्य में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि दोनों स्वतः सिद्ध हैं।

4.5. शंकराचार्य के प्रच्छन्न बौद्ध के पक्ष में वैष्णव आचार्य रामानुज का मत

ग्यारहवीं शती के वैष्णव आचार्य रामानुज कहते हैं कि – अद्वैतवादी ज्ञानमात्र को ही परमार्थ मानते हैं और इसलिए वे लोक में उपहास के विषय हैं। अद्वैतवादी वेद-बाह्य और प्रच्छन्न बौद्ध हैं। अर्थात् वे वेदवाद के बहाने से प्रच्छन्न ढंग से बौद्ध दर्शन का प्रतिपादन करते हैं। कर्ममार्ग के द्वारा उनका मत निराकृत हो जाता है। इसी शती के दूसरे वैष्णव आचार्य यादव प्रकाश हैं, जो रामानुज के गुरु थे, उन्होंने अद्वैतवादी और बौद्धों को एक पंक्ति में बैठा दिया, क्योंकि जैसे बौद्ध वेदवचन को अनृत मानते हैं, वैसे ही अद्वैतवादी वेद को अनृत मानते हैं और दोनों बोद्धा (ज्ञाता), बुद्धि (वृत्ति-ज्ञान) और बुद्धि-फल (ज्ञेय = विषय) को अभिन्न मानते हैं। इसी शती के कृष्ण मिश्र ने अपने प्रबन्धचन्द्रोदय नाटक में दिखाया है कि प्रत्यक्षादि आदि प्रमाणों से असिद्ध और विरुद्ध अर्थ कहने वाले वेदान्ती यदि शास्त्रवेत्ता हैं, तो फिर बौद्धों ने क्या अपराध किया है? स्पष्ट है कि कृष्ण मिश्र रामानुज के दर्शन से प्रभावित हैं।

4.6. शंकराचार्य के प्रच्छन्न बुद्ध के पक्ष में पद्मपुराण का मत

ग्यारहवीं शती के अन्त में या बारहवीं शती के आदि में पद्मपुराण में स्पष्टतः कहा गया है कि मायावाद असत् शास्त्र है और शंकर प्रच्छन्न बौद्ध हैं। प्रच्छन्न बौद्ध पदावली का प्रयोग सबसे पहले रामानुज ने किया। इस पद्मपुराण के

कुछ अंशों का रचनाकाल रामानुज के बाद का है। पद्मपुराण शंकराचार्य के मायावाद को अवैदिक कहता है।

4.7. शंकराचार्य के प्रच्छन्न बौद्ध के पक्ष में मध्वाचार्य का मत

तेरहवीं शती के द्वैतवादी वैष्णव आचार्य मध्व ने उदयनाचार्य की ही तरह 'ब्रह्म' और 'शून्य' को एकार्थक बताया, क्योंकि दोनों ही निर्विशेष हैं।

4.8. शंकराचार्य के प्रच्छन्न बौद्ध के पक्ष में केशव काश्मीरी का मत

चौदहवीं शती में निम्बार्क के द्वैताद्वैत को मानने वाले केशव काश्मीरी ने शंकराचार्य को बौद्ध विज्ञानवादी समझा।

4.9. शंकराचार्य के प्रच्छन्न बौद्ध के पक्ष में वल्लभाचार्य का मत

पन्द्रहवीं शती में शुद्धाद्वैतवाद के संस्थापक वल्लभाचार्य ने शंकराचार्य की आलोचना करते हुए कहा कि वे माध्यमिक बौद्ध के अवतार हैं, प्रच्छन्न बौद्ध हैं और शुष्क तर्क के आधार पर श्रुतियोंका अनर्थ करते हैं।

4.10. शंकराचार्य के प्रच्छन्न बौद्ध के पक्ष में विज्ञानभिक्षु का मत

सोलहवीं शती के विज्ञानाभिक्षु ने भी पद्मपुराण के शब्दों को दुहराया और शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहा। उन्होंने ब्रह्मसूत्र पर अपना एक भाष्य भी लिखकर शंकर के मत का खण्डन किया। इन्होंने अद्वैतवादियों को प्रच्छन्न बौद्ध, नव्य मायावादी और वस्तुतः नास्तिक कहा।

अठारहवीं शती में चैतन्य मत के अनुयायी अचिन्त्यभेदाभेदवाद को मानने वाले विद्याभूषण ने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य में शंकराचार्य की आलोचना की और उनके दर्शन को प्रच्छन्न बौद्धमत बताया।

उन्नीसवीं शती में नैयायिक भीमाचार्य ने अपने न्याय-कोष में मायावादी वेदान्ती को नास्तिक तक कह डाला। इसी शती के पाश्चात्य विद्वान 'कोलब्रुक' ने भी लिखा है कि मायावाद वेदान्त-बाह्य है और बौद्ध दर्शन से उत्तरकालीन वेदान्त में प्रविष्ट हुआ है। याकोबी एवं सुखटकर भी इसी मत को मानते हैं। पं० विधुशेखर भट्टाचार्य और राहुल सांकृत्यायन का भी मत है कि शंकर प्रच्छन्न बौद्ध हैं।

बीसवीं शती में भारतीय दर्शन के इतिहास पर बृहदग्रन्थ लिखने वाले डॉ० सुरेन्द्र नाथ दास गुप्त ने भी उपयुक्त आचार्यों की परम्परा में शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध माना। इस शती में विदेशी तथा देशी अन्य विद्वानों ने भी यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि शंकराचार्य ने मायावाद को महायान दर्शन से लिया है।

इस प्रकार जिस समय सातवीं शती में शंकराचार्य अपने मायावाद या अद्वैतवाद को स्थापित कर रहे थे, लगभग उसी समय से उनका विरोध शुरू हुआ। उसी समय से लेकर आज तक अनेक विद्वान उनको प्रच्छन्न बौद्ध समझते रहे हैं ऐसे लोग मीमांसक, नैयायिक, वैष्णव आचार्य तथा भारतीय दर्शन के विशेषज्ञ हैं।

परन्तु शंकराचार्य का ब्रह्म माध्यमिकों के शून्य से तथा विज्ञानवादियों के आलयविज्ञान से भिन्न है उनका कर्मसंन्यास बौद्धों के कर्म-त्याग से भिन्न है तथा उनका मायावाद बौद्धों के मायावाद से भिन्न है। किन्तु, उन्हीं सिद्धान्तों को लेकर लोगों ने उनको प्रच्छन्न बौद्ध कहा है। डॉ० गंगा नाथ झा इसीलिए कहते हैं कि शंकराचार्य को बहुत से लोगों ने समझा नहीं है। इस बात को शंकराचार्य स्वयं जानते थे। इसीलिए उन्होंने 'बृहदारण्यक उपनिषद्भाष्य' में स्पष्ट कर दिया है कि ब्रह्म शून्य नहीं हो सकता है। पुनः उन्होंने बौद्धों के सर्वास्तिवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद तीनों प्रमुख मतों की आलोचना की है। इससे स्पष्ट है कि वे बौद्धों के विरोधी और श्रुतिसम्मत ज्ञानमार्ग तथा अद्वैतवाद के समर्थक हैं। शंकराचार्य के अनुयायियों ने भी अपने मत को बौद्ध दर्शन के मतों से भिन्न करके रखा है और दिखाया है कि शंकर प्रच्छन्न बौद्ध नहीं हैं।

4.11. शंकराचार्य के प्रच्छन्न बौद्ध के विपक्ष में पद्मपाद का मत

सर्वप्रथम आठवीं शती में पद्मपाद जो शंकराचार्य से साक्षात् शिष्य थे, अपने मत को महायान मत से भिन्न करते हैं और कहते हैं कि महायान (विज्ञानवाद) में नील, पीत आदि परस्पर व्यावृत्त होकर प्रतीत होते हैं, किन्तु अपरोक्षता (ज्ञान) में ऐसी नहीं है। महायान में विषय ज्ञानाका है, किन्तु वेदान्त में ज्ञान विषयकार होता है। वेदान्त में ग्राहक (ज्ञाता) अहंकार एकरूप और स्थायी है। अतः वह महायानिक पक्ष का समर्थन नहीं करता है। इस कारण कि वेदान्त भी अहंकार के अर्थक्रियाकारी होने के कारण 'नील' को स्वगत अपरोक्ष मानता है, उसको महायानिक पक्ष (विज्ञानवाद) नहीं कहा जा सकता है। तात्पर्य यह है कि वेदान्त और विज्ञानवाद दोनों ही अहंकार को अर्थक्रियाकारी मानते हैं और दोनों कहते हैं कि 'नील' अहंकार के अन्दर है। किन्तु, वेदान्त प्रमार्तृ-चैतन्य, प्रमाण-चैतन्य और विषय-चैतन्य इस भेद को मानता है और विज्ञानवाद केवल प्रमार्तृ-चैतन्य और प्रमाण-चैतन्य इस भेद को मानता है। इसके अतिरिक्त वेदान्त इन तीनों के आधार स्वरूप आत्मा को नित्य वस्तु मानता है और विज्ञानवाद उसे नहीं मानता है।

4.12. नवीं शती, में वाचस्पति मिश्र — ने विज्ञानवाद और वेदान्त का अन्तर बताते हुए कहा है कि वेदान्त नीलादि आकार ज्ञान को नहीं सिद्ध करता है, प्रत्युत इनसे अनिर्वचनीयता का सिद्ध करता है। अतः वेदान्त और विज्ञानवाद में अन्तर है। वास्तव में वेदान्त जगत् का अपलाप नहीं करता है, वह जगत् के अस्तित्व को अनिर्वचनीय कहता है।

4.13. दसवीं शती में सर्वज्ञात्म मुनि — ने बड़े शक्तिशाली शब्दों में पूर्वपक्ष को रखा कि वेदान्ती बौद्ध हैं, फिर पूर्वपक्ष का उन्होंने खण्डन किया। बौद्ध असत्मार्यवाद, क्षणिकवाद और असदवाद (जगत् असत् है) मानते हैं। इसके विपरीत वेदान्ती सत् कार्यवाद, नित्यतावाद और अनिर्वचनीयतावाद को मानते हैं।

4.14. ग्यारहवीं शती में आनन्दबोध — ने न्यायमकरन्द में कहा कि नीलादि आकार वाली वृत्ति है, ऐसा हम नहीं मानते। अतः हमारे मत में महायानिक पक्ष का प्रवेश नहीं है। वे मानते हैं कि जगत् अनादि अविद्या का खेल है और अलीक निर्भास समान आकार वाला है। उनका कहना है कि ब्रह्मानुष के पहले जगत् सत् है, असत् नहीं है, क्योंकि जगत् की जो सत्ता है, वही ब्रह्म है।

4.15. बारहवीं शती में श्री हर्ष — ने 'खण्डनखण्डखाद्य' माध्यमिक और वेदान्त के भेद को बड़ी सूक्ष्मता से स्पष्ट किया है। माध्यमिक सर्वमिथ्यात्व को मानते हैं और वेदान्ती सर्व को अनन्य कहा हैं। तात्पर्य यह है कि माध्यमिक मत में जगत् शून्य है और वेदान्त में वह ब्रह्म से अनन्य है।

4.16. तेरहवीं शती में प्रकाशात्मा — ने अपने 'विवरण' में कहा है कि जो लोग विज्ञानवाद और को समान कहते हैं, उनकी वाणी दुर्जन रमणीय है।

4.17. चौदहवीं शती में विद्यारण्य ने विज्ञानवाद और वेदान्त में भेद किया है। वे कहते हैं कि विज्ञानवादियों का विज्ञान चाहे वह विज्ञप्तिमात्रता हो या आलयविज्ञान, क्षणिक है और वेदान्तियों की आत्मा नित्य है।

4.18. सोलहवीं शती में अप्पयदीक्षित — ने भी अपने 'कल्पतरु परिमल' में कहा कि विज्ञानवादी जगत् को अनिर्वचनीय नहीं मानते हैं। इसी शती के भक्त दार्शनिक नाभादास ने बड़े अच्छे शब्दों में कहा है कि शंकर ईश्वरवादी है और उन्होंने कृतकी जैन और बौद्धों का खण्डन किया है। वास्तविकता यह है कि नाभादास ने शंकर के वेदान्त को जितना समझा था, उतना उन लोगों ने नहीं समझा है, जो उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध, नास्तिक, सदाचार का खण्डन करने वाला, बौद्ध पंक्ति में बैठने वाला आदि कहते हैं। नाभादास रामानुज आदि वैष्णवों के भी प्रशंसक हैं और उनके भक्ति मार्ग के समर्थक हैं, किन्तु उनके वैष्णव मत के समर्थन का यह अर्थ नहीं है कि अद्वैतवादियों को गाली दीजिए।

4.19. उन्नीसवीं शती में निश्चलदास — ने भी अपने 'विचारसागर' में दिखाया है कि शंकर बौद्ध मतावलम्बी नहीं है, प्रत्युत श्रुतिमार्ग के एकमात्र संरक्षक हैं। उनका कत है कि शंकर के अतिरिक्त जिन लोगों ने 'श्रुति' एवं 'ब्रह्मसूत्र' का अर्थ किया है, उनका अर्थ असंगत और गलत है। एकमात्र शंकर के ही व्याख्या ठीक हैं। इसी शती में गफ, डायसन आदि विद्वानों ने दिखाया है कि शंकर का मायावाद वेदोपनिषद का ही विकास है और यह बौद्ध धर्म से उधार नहीं लिया गया है। अन्ततः बीसवीं शती में प्रो० एम० हिरियण्य, डॉ० श्री कृष्णपाद, बेल्वल्कर आदि विद्वानों ने दिखाया है कि शंकर प्रच्छन्न बौद्ध नहीं हैं।

4.20. शंकराचार्य प्रच्छन्न बौद्ध है या नहीं? — इस प्रकार से भारतीय दर्शन में शंकराचार्य के युग से लेकर आज तक यह प्रश्न विवेचित हो रहा है कि शंकराचार्य प्रच्छन्न बौद्ध हैं या नहीं। इस प्रसंग में दो परम्पराएँ साथ-साथ चल रही हैं। एक कहती है कि शंकर प्रच्छन्न बौद्ध हैं और दूसरी कहती है, वे प्रच्छन्न बौद्ध नहीं हैं, प्रव्युत् बौद्ध मत के प्रचण्ड खण्डन-कर्ता हैं। इन दो परम्पराओं के अतिरिक्त एक तीसरी परम्परा भी है। यह परम्परा कहती है कि बौद्ध मत स्वयं वेदों एवं उपनिषदों से निकलता है। तमिल गुरु मणिमंखलै, जो नागार्जुन एवं बसुबन्धु के पहले का है अर्थात् दूसरी शती है, कहता है कि आरम्भिक बौद्ध व्यास जैमिनि और कृतकोटि के ज्ञानमार्ग तथा तर्कशास्त्र को मानते थे। छठी या सातवीं शती के मीमांसक कुमारिल भट्ट का कहना है कि विज्ञानवाद, क्षणभंगवाद तथा नैरात्म्यवाद भी उपनिषदों से निकले हैं और वे विषयों के प्रति आत्यन्तिक राग की निवृत्ति करने के कारण प्रामाणिक हैं। सातवीं शती में मत्तविलास प्रहसन में कहा गया है कि बुद्ध ने वेदान्त और महाभारत से लेकर पिटक (त्रिपिटक) या कोष (अभिधिम्मकोष) बनाया। दसवीं शती के भगवत्पुराण आदि में बुद्ध को विष्णु का अवतार माना गया है। यह अवतार मनुष्यों की बुद्धि को विमोहित करने के लिए हुआ था। विमोहित करने का तात्पर्य उन्हें सन्देहवादी और मननशील बनाना है। बुद्ध को विष्णु का

अवतार मान लेने का तात्पर्य यह है कि बौद्ध धर्म एवं दर्शन उसी तने की एक शाखा है, जिसकी दूसरी शाखा हिन्दू धर्म एवं दर्शन है। मध्ययुग के सभी सन्तों एवं भक्तों ने भागवत्पुराण की इस बात को माना है। उन्नीसवीं शती के निश्चलदास ने विद्यासागर में कहा है कि बुद्ध भगवान विप्रलिप्सा के अवतार हैं। विप्रलिप्सा का अर्थ वे स्वस्थ सन्देहवाद से लेते हैं। उन्नीसवीं एवं बीसवीं शती में बहुत से ऐसे विद्वान हुए जिनकी मान्यता है कि बुद्ध का दर्शन वेदों एवं उपनिषदों से निकला है। डॉ ओल्डेनवर्ग दासगुप्त, शेरवात्स्की, राधाकृष्णन आदि इनमें प्रमुख हैं।

आज यह सिद्ध हो चुका है कि महायान बौद्ध व उपनिषद्, महाभारत आदि का स्पष्ट प्रभाव है। गौतम बुद्ध भी अपने समय की विचारधारा से सर्वथा अप्रभावित न थे। अन्त में जो यह तीसरी परम्परा दी गयी है, उसकी सत्यता निर्विवाद है।

4.21. बौद्धों के कुछ सिद्धांत को मान्यता — आजकल एक चौथी परम्परा भी चल पड़ी है। यह कहती है कि जैसे बौद्ध धर्म उपनिषदादि से निकला है, वैसे ही अद्वैत वेदान्त बौद्ध धर्म से चाहे न निकला हो, किन्तु उसने **बौद्धों के कुछ सिद्धान्तों को अपनाया** है। कम से कम चतुष्कोटिक न्याय तो वेदान्तियों ने बौद्धों से ही लिया है। इन चार परम्पराओं में संभवतः चौथी परम्परा में ही सत्यांश सर्वाधिक है। इसके अनुसार यद्यपि वेदान्ती और बौद्धों ने एक ही भाषा में, एक ही शब्दावली में और कहीं-कहीं एक ही तर्क से अपने-अपने विषयों का प्रतिपादन किया है, तथापि उनके तत्त्वदर्शन और ज्ञानमीमांसा में महान अन्तर है। किन्तु, आजकल आलोचकगण यह कहने लगे हैं कि असंग और बसुबन्धु भले ही मायावाद की आलोचना किये हों और शंकराचार्य और उनके अनुयायी भले ही आलयविज्ञान या विज्ञप्तिमात्रता की आलोचना किये हों, किन्तु आत्मा और आलयविज्ञान या विज्ञप्तिमात्रता एकार्थक हैं। वास्तव में यह बहुत बड़ा अनर्गल है और ऐसा कहने वाले न तो वेदान्त को समझते हैं और न विज्ञानवाद को। आचार्य नरेन्द्रदेव और विधुशेखर भट्टाचार्य जैसे बौद्ध दर्शन के मनीषियों ने माना है कि विज्ञप्तिमात्रता या आलयविज्ञान नित्य नहीं है। अतः उसको नित्य दिखाना अपना अज्ञान ही प्रदर्शित करना है। पुनश्च यदि दोनों को एक मान भी लिया जाय, तो विज्ञानवाद और वेदान्त में महान अन्तर है। विज्ञानवाद आत्मख्यातिवाद को मानता है, तो वेदान्त अनिर्वचनीयख्यातिवाद को। विज्ञानवाद में ज्ञानसाख्य है, तो वेदान्त में वह तादात्म्य है। विज्ञानवाद में विषय ज्ञानकार है, तो वेदान्त में ज्ञान वस्तुतंत्र है। विज्ञानवाद अपोहवाद को मानता है, तो वेदान्त महासामान्यवाद को विज्ञानवाद आलयविज्ञान को स्वसंवेद्य कहता है, तो वेदान्त आत्मा को स्वप्रकाश। स्वसंवेद्य का तात्पर्य है कि आलयविज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय दोनों है, किन्तु स्वयं प्रकाश का अर्थ है कि आत्मा अविषय है और मात्रज्ञान है विज्ञानवाद परतः प्रामाण्य को मानता है, तो वेदान्त स्वतः प्रामाण्य को। विज्ञानवाद अर्थक्रियाकारित्व को प्रामाणिकता की कसौटी मानता है, तो वेदान्त अबाध या अव्यभिचार को। ऐसे महान अन्तुरों के होतु हुए भी दोनों को एक कहना दार्शनिक दृष्टि से आँख मूँद लेना है।

पुनश्च ब्रह्म को शून्य कहना तो सर्वथा बकवास है, क्योंकि ब्रह्म एक और अद्वितीय है, पूर्ण है और आत्मा से अभिन्न है, वह सत् और असत् इन दोनों कोटियों के मूल में है, इसलिए इसे अद्वैत कहा जाता है। इसके विपरीत शून्य को अद्वय कहा जाता है, क्योंकि शून्य सत् और असत् दोनों से परे है। इस प्रकार कहीं-कहीं अद्वैत और अद्वय, इन दोनों पदों का गलती से या असावधानी से एक अर्थ में प्रयोग मिलता है, तथापि पारिभाषिक दृष्टि से इन दोनों में महान अन्तर है। अद्वयवाद विभज्यवाद है और अद्वैतवाद सर्वात्मवाद है, जो कहता है कि आत्मा प्रत्येक विषय की प्रागपेक्षा है। इस प्रकार यद्यपि अद्वैत-वेदान्त और बौद्ध शून्यवाद

दोनों में चतुष्कोटिक न्याय के रूप में द्वन्द्व-न्याय का प्रयोग हुआ है तथापि दोनों के ही प्रयोग और अर्थ भिन्न हैं। आचार्य गौड़पा आगमशास्त्र में इस भेद या अन्तर का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि अद्वैतवाद बुद्ध वचन नहीं है। 'नैतद् बुद्धेन भाषितम्' अर्थात् सभी विषयों में आत्मा सर्वान्तर रूप से या अन्तर्यामी रूप से विद्यमान है, ऐसा बुद्ध ने नहीं कहा।

बौद्ध दर्शन में 'शून्य' सभी कोटियों से परे है और अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म भी सभी कोटियों से परे है, किन्तु इन निषेधात्मक साम्य के आधार पर शून्य और ब्रह्म को एक और अभिन्न कहना, अवैध अनुमान करना है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र की दृष्टि से इस अनुमान में दो निषेधात्मक तर्कवाक्यों का दोष है। अतः ब्रह्म शून्य नहीं है कम से कम शंकराचार्य ने ब्रह्म को शून्य से सतर्कता पूर्वक भिन्न किया है और वे शून्यवाद का एक प्रसंगया दूषितवाद कहते हैं। 'शून्य' और 'अशून्य' से जो भिन्न है और जिसके बिना इन दोनों की अवधारणा नहीं हो सकती, वह आत्मा है। इसी आत्मा की दूसरी संज्ञा ब्रह्म है। इसलिए शंकराचार्य ब्रह्मत्मैक्यवादी माने जाते हैं।

4.22. निष्कर्ष

अतः हम निष्कर्ष के रूप में कह सकते हैं कि शंकर प्रच्छन्न बौद्ध नहीं है। उनका अद्वैतवाद बौद्ध विज्ञानवाद तथा शून्यवाद से सर्वथा भिन्न है। किन्तु, उन्होंने बौद्धों द्वारा विकसित चतुष्कोटिक न्याय-प्रणाली का उपयोग किया है। विधुशेखर भट्टाचार्य का कहना है कि यह न्याय-प्रणाली बुद्ध-पूर्व के भौतिकवादियों के द्वारा सबसे पहले प्रवर्तित हुई। प्रो० संगम लाल पाण्डेय का कहना है कि "चतुष्कोटिक-न्याय-प्रणाली" वेदों से ही निकली है, उदाहरण के लिए 'नासदीयसूक्त' में ही यह कहा गया है कि पहले न सत् था न असत्। इस तरह जिस न्याय-प्रणाली को बौद्ध ने विकसित किया, वह उनकी बपौती नहीं है। उसके उभय में वेदों, उपनिषदों और वेदान्तियों ने भी हाथ बटाया है। इससे यदि शंकराचार्य इस प्रणाली का उपयोग करते हैं, तो उन्हें इस आधार पर प्रच्छन्न बौद्ध नहीं कहा जा सकता है।"

प्रश्नावली

लघु उत्तरीय प्रश्न—

1. शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहने का अर्थ क्या है?
2. शंकराचार्य के विषय में रामानुज का मत क्या है?
3. शंकराचार्य के विषय में मध्वाचार्य का मत किस प्रकार सुसंगत है?
4. प्रच्छन्न बौद्ध होने का आधार क्या है?
5. पद्म पुराण के मत को स्पष्ट करें।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न—

1. शंकराचार्य की प्रमुख आलोचना प्रच्छन्न बौद्ध है स्पष्ट करें।
2. शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध सिद्ध करने की युक्तियों की सुसंगतता की व्याख्या करें।